



BIBLIOTHECA INDICA :
A
Collection Of Oriental Works

PUBLISHED BY
THE ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.
NEW SERIES, NOS. 1169, 1170, 1174 & 1175.

THE CATAPATHA BRĀHMAṆA.
OF THE WHITE YAJURVEDA

WITH THE
COMMENTARY OF SAYAṆA ĀCĀRYA.

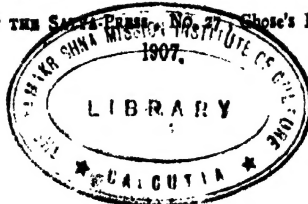
EDITED BY
ĀCĀRYA SATYAVRATA SĀMAS'RAMI'.

*Lecturer of Sanskrit in the University of Calcutta.
Associate Member of the Asiatic Society of Bengal, Member of the
Philological Committee, A, S, B ; Examiner of the Veda &
Philosophy &c., Editor, Author, Commentator,
Annotator, Compiler, Translator, & Publisher
of different Vedic Works &c. &c.*

VOL. V. KANDA V

~~~~~  
CALCUTTA :

PRINTED BY HITAVRATA CHATTOPADHYAYA ;  
AT THE SANSKRIT PRESS, No. 21, Ghose's Lane.







# ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिनशाखीयम् ॥

श्रीमत्सायणाचार्यकृत-‘वेदार्थप्रकाश’-नामभाष्येण  
सहितम् ।



वङ्गदेशीयाख्यायितिकसमितेरगुमत्या व्ययेन च,

सामग्रमीतियशोनामाचार्यसत्त्वव्रतशर्म्मा

यथामति संशोध्य संपटीक्य च सम्पादितम् ।

॥ ५ भा० । ५ का० ॥

( पञ्चमकाण्डात्मकः पञ्चमो भागः )



कलिकाता-राजनृत्याम् ,

१८६४-संवत्समायां सत्सयन्त्रेण यज्ञतो मुद्रितम् ॥३

48,146

~~20-1-125~~

3.12.62

A.M.

G. G

✓

AC

AR

## ॥ अथ मूलशब्दपञ्चम् ॥

| अशुद्धम्                      | शुद्धम्       | प्र० | आ० | क० | पृष्ठे |
|-------------------------------|---------------|------|----|----|--------|
| प्रसुच ... .. प्रसुच ...      | १. १. ४. ...  | २    |    |    |        |
| सुरा ... .. सुराग्रहं ...     | १. २. १६. ... | १८   |    |    |        |
| प्रजा ... .. प्रजापति ...     | १. ३. ७. ...  | ३३   |    |    |        |
| वे ... .. वे ...              | १. ३. ११. ... | ३४   |    |    |        |
| दधिक्रावण ... दधिक्रावणः ...  | १. ५. २०. ... | ६६   |    |    |        |
| सुष ... .. मूष ...            | १. ६. १६. ... | ८१   |    |    |        |
| पुत्रा ... .. पुत्रो ...      | १. ६. १८. ... | ८२   |    |    |        |
| सुर्व्य ... .. सुर्व्ये ...   | २. २. १. ...  | १२१  |    |    |        |
| ०ह्यर्थ० ... ०ह्यर्थ० ...     | २. २. २. ...  | १२२  |    |    |        |
| वेरिणं ... .. वेरिणं ...      | २. २. २०. ... | १२२  |    |    |        |
| ऽतिसुच्यते ... ऽतिसुच्यते ... | २. २. ५. ...  | १२३  |    |    |        |
| साकमेधे ... साकमेधे ...       | २. ३. ६. ...  | १३७  |    |    |        |
| नाट्टा ... .. नाट्टा ...      | २. ३. १४. ... | १४०  |    |    |        |
| तद्वर्ष ... .. तद्वर्ष ...    | २. ४. १२. ... | १५५  |    |    |        |
| कृषभो ... .. कृषभो ...        | २. ४. १७. ... | १५७  |    |    |        |
| युष्मामाका ... युष्मामाका     | २. ७. ४. ...  | १८१  |    |    |        |
| सोम राजा ... सोमराजा          | २. ७. १२. ... | १८४  |    |    |        |
| हुत ... .. हुत ...            | ३. ४. १०. ... | २७४  |    |    |        |
| तत् ... .. तद् ...            | ४. १. १२. ... | ३०७  |    |    |        |
| सुतेन ... .. सुतेन ...        | ४. ७. १६. ... | ३८४  |    |    |        |



## ॥ अथ सम्पादकोक्तिः ॥

अथ यद्यपि तृतीयकाण्डानन्तरं क्रमप्राप्तं चतुर्थकाण्डसम्पादनं मेव युक्तम्, परं चतुर्थकाण्डीयसायणकृतभाष्यस्यैकं मपि विशुद्धादर्शपुस्तकं मय्यथावकाशवस्तुगतं मिल्यनन्वगत्या क्रमं मुक्तव्यापि पञ्चमं मेव काण्डं समादि ।

तस्यैतत्पञ्चमकाण्डस्य पाठान्तरादिसम्पादनाय सङ्गृहीतानां मादर्शपुस्तकानां मेवं नामधेयानि कल्पितानि—

क = १७८० सं०-लिखितं २८-पत्रात्मकं (क० सं० क०) पूर्णम् ।

ख = १७४७ सं०-लि० १११-पत्रात्मकं (क० सं० क०) पूर्णम् ।

ग = डा०-वेबर-सम्पादितम् (ई० १८४८-मुद्रितं) पूर्णम् ।

घ = आजमेर-प्रकाशितम् (सं० १८५८ मुद्रितम्) पूर्णम् ।

ङ = ४५-पृष्ठात्मकम् आख्यायितिकसमितिपुस्तकं पूर्णम् ।

च = १२१-पत्रात्मकम् आख्यायितिकीय मपरम् पूर्णम् ।

छ = तत्रस्य मेव ग०-६०-पुस्तकम् ६७-पत्रात्मकं पूर्णम् ।

ज = डा०-वेबरेण यथानुव्याचिष्य सम्पादितम् (ई० १८४८-मु०) ।

एष्वष्टस्वादर्थपुस्तकेषु प्रथमचतुष्कं मूलस्यापरचतुष्कं भाष्यस्येति ॥

एतदेव काण्डं सव इत्यभिधीयते । सवशब्दार्थस्त्वह मूले एवैवं सूचितः— “सोऽस्मै सव मनुमन्यते तेनानुमतः स्यते”—इति ३ प्र० २ ब्रा० ३१ क० । “‘सः’ आवेदितो आपितः प्रजापतिः ‘अस्मै’ सुन्वते ‘सवम्’ अभिषेकम् अनुमन्यते, ‘तेन’ प्रजापतिना ‘अनुमतः’ अनुज्ञातः ‘स्यते’ अभिविध्यते”—इति

तत्र सा० भा० (२५१ पृ०) । “सूयते ईश्वरत्वेनाभिषिच्यते एधिति  
सवाः एकाहविंशतिः”-इति तै० ब्रा० २. ७. १. १ भाष्ये च  
सायणः । “वक्ष्यसवो राजसूयम्, अग्निसवचित्यः”-इत्यस्य  
( तै० सं० ५. ६. २. १. ) व्याख्यानावसरे च स्पष्टमिदं मुक्तं तेन—  
“सूयते अभिषिच्यते यजमानः अत्र इत्यभिषेकयुक्तो यज्ञः सवः”  
-इति । तैत्तिरीयब्राह्मणे द्वितीयकाण्डस्य षष्ठे प्रपाठके सौत्रामणी  
मुक्ता, सप्तमस्य प्रथमेऽनुवाके बृहस्पतिसवः, द्वितीये वैश्वसवः,  
तृतीये ब्राह्मणसवः, चतुर्थे सोमसवः, पञ्चमे पथिसवः, षष्ठे  
गोसवः, सप्तमे त्वोदनसवो विहित इति दिक् ॥

इह हि काण्डे प्रधानतो यागद्वयं विहितम्,—वाजपेयो  
राजसूयश्चेति । तच्च वाजपेयः प्रकृतिः, राजसूयस्तद्विहितः ।  
सौत्रामणी-नाम-यागसुं राजसूयाङ्गतया, प्राधान्येन पृथगनुष्ठेय-  
तया चेति द्विविधं भ्रान्ता इति सङ्केपः । सौत्रामण्याः  
स्वातन्त्र्यमाह च मीमांसान्यायमालायाम् ( ४. ३. १८. )—

“अग्निं चित्वा यजेत् सौत्रामण्यङ्गेष्टिकृतेदृशी ।

अङ्गिकाले स्वकाले वा स्यादाद्योऽन्याङ्गवन्मतः ॥

निर्वृत्ते चयनादौ तु कर्मान्तरविधानतः ।

स्वकाले चोदकप्राप्ते तदनुष्ठानमास्थितम् ॥”-इति ।

“अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत्”-इत्येव ( तै० सं० ५. ४. ३. १०. )  
तदधिकरणस्य विषयवाक्यमिति ॥

काशीकोटा-राजन्वती ।

सं० १६६४ । ख० १६०७ ।

}

श्रीसत्यव्रतशर्मा ।

( आवसथः, सामश्रमी, आचार्यश्च. )

# शतपथब्राह्मण-पञ्चमकाण्डस्य

## सूचीपत्राणि ।

### ॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

|                                                         |         |
|---------------------------------------------------------|---------|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः ( देवाश्च वा १ अ० १ ब्रा० ) ...      | १ पृ०   |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ( बार्हस्पत्येन २ अ० २ ब्रा० ) ... | १०७ पृ० |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः ( स वा अपः ३ अ० ४ ब्रा० ) ...        | २०५ पृ० |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः ( मैत्रावरुण्या ४ अ० ४ ब्रा० ) ...  | ३०४ पृ० |

### ॥ अथाध्यायसूची ॥

|                                                      |         |
|------------------------------------------------------|---------|
| अथ प्रथमाध्यायः ( देवाश्च वा १ प्र० १ ब्रा० ) ...    | १ पृ०   |
| अथ द्वितीयाध्यायः ( अथ सूर्यं १ प्र० ६ ब्रा० ) ...   | ८६ पृ०  |
| अथ तृतीयाध्यायः ( अरण्योरग्नी २ प्र० ५ ब्रा० ) ...   | १६३ पृ० |
| अथ चतुर्थाध्यायः ( केशवस्य ३ प्र० ३ ब्रा० ) ...      | २५६ पृ० |
| अथ पञ्चमाध्यायः ( आग्नेयोऽष्टा० ४ प्र० ३ ब्रा० ) ... | ३३७ पृ० |



## ॥ अथ ब्राह्मणसची ॥

| सङ्ख्या | ब्राह्मणनाम.          | प्र० | ब्रा० | व्य० | ब्रा० | पृष्ठे |
|---------|-----------------------|------|-------|------|-------|--------|
| १ ...   | वाजपेयब्राह्मणम्      | १    | १     | १    | १     | १      |
| २ ...   | यजुर्ब्राह्मणम्       | १    | २     | १    | २     | १४     |
| ३ ...   | पशुब्राह्मणम्         | १    | ३     | १    | ३     | ३०     |
| ४ ...   | आजिधवनब्रा०           | १    | ४     | १    | ४     | ४७     |
| ५ ...   | दुन्दुभिर्ब्राह्मणम्  | १    | ५     | १    | ५     | ६१     |
| ६ ...   | सूपारोहणब्रा०         | १    | ६     | २    | १     | ८६     |
| ७ ...   | चरसम्भारब्रा०         | २    | १     | २    | २     | १०७    |
| ८ ...   | राजसूयब्राह्मणम्      | २    | २     | २    | ३     | १२१    |
| ९ ...   | प्रातुर्मास्यब्रा०    | २    | ३     | २    | ४     | १३५    |
| १० ...  | चिष्युक्तेष्टिब्रा०   | २    | ४     | २    | ५     | १५२    |
| ११ ...  | रत्नहविर्ब्रा०        | २    | ५     | ३    | १     | १६१    |
| १२ ...  | सौमारौत्रेष्टिब्रा०   | २    | ६     | ३    | २     | १८२    |
| १३ ...  | देवस्वहविर्ब्रा०      | २    | ७     | ३    | ३     | १९०    |
| १४ :    | अपसम्भरणब्रा०         | ३    | १     | ३    | ४     | २०४    |
| १५ ...  | अभिवेकब्राह्मणम्      | ३    | २     | ३    | ५     | २२६    |
| १६ ...  | "                     | ३    | ३     | ४    | १     | २५६    |
| १७ ...  | "                     | ३    | ४     | ४    | २     | २७०    |
| १८ ...  | रथब्राह्मणम्          | ३    | ५     | ४    | ३     | २८१    |
| १९ ...  | दिविजयब्राह्मणम्      | ४    | १     | ४    | ४     | ३०४    |
| २० ...  | दूतब्राह्मणम्         | ४    | २     | ४    | ५     | ३२१    |
| २१ ...  | पक्षविक्षेष्टिब्रा०   | ४    | ३     | ५    | १     | ३३७    |
| २२ ...  | प्रयुग्विर्ब्राह्मणम् | ४    | ४     | ५    | २     | ३४५    |
| २३ ...  | केशवपनीयेष्टिब्रा०    | ४    | ५     | ५    | ३     | ३५३    |
| २४ ...  | सौत्वात्मणीब्राह्मणम् | ४    | ६     | ५    | ४     | ३५९    |
| २५ ...  | जैत्रातवीयेष्टिब्रा०  | ४    | ७     | ५    | ५     | ३८०    |

## ॥ अथ कण्डिकासूची ॥

— ५० —

| कण्डिकाप्रतीकम् .                | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम् .                   | पृष्ठं |
|----------------------------------|--------|-------------------------------------|--------|
| अक्षुं गच्छति ... .. १४          |        | अथ घनुरात्मन् ... .. २८६            |        |
| अग्ने ऽवच्छा। वदेत् न ... १०६    |        | अथ नदीपतिं गच्छति ... २०७           |        |
| अग्रहीते माचेन्ने ... ४७, २२६    |        | अथ निवेद्यं गच्छति ... .. २०७       |        |
| अग्नेय मेत्रावरुणस्य धियाम् ।    |        | अथ निश्रयणीं निश्रयति ... ८८        |        |
| शार्दूलचर्मोपरुह्यति २२७         |        | अथ नेष्टा पत्नीं सुदानिष्यन् ... ८८ |        |
| अग्नेय मेत्रावरुणस्य धियाम् ।    |        | अथ पयो गच्छति ... .. २११            |        |
| अभिषेचनीयानि ... २३०             |        | अथ पवित्रे करोति ... .. २३१         |        |
| अग्नेय मेत्रावरुणस्य धियाम् ।    |        | अथ पार्थानि जुहोति ... २२७          |        |
| मेत्रावरुण्यी ... .. २८६         |        | अथ पूर्वदुः। परिसुतः ... ३६६        |        |
| अथ कुम्भः। शतवित्तसो ... ३६५     |        | अथ पूर्वदुः। द्वौ खरौ ... १७        |        |
| अथ कृप्या गच्छति ... .. २०६      |        | अथ पृथ्वीं विप्रितगर्भां ... ३४७    |        |
| अथ गोधूमानुपस्पृशति ... ८६       |        | अथ पृथ्वान् गच्छति ... १४           |        |
| अथ गोर्विजायमानाया ... ३१०       |        | अथ पौष्णं चरन् ... .. ३२४           |        |
| अथ ग्रहान् गच्छति ... ३६४        |        | अथ प्रतिपरेत्त गार्हपत्य ... २७५    |        |
| अथ वृत्तं गच्छति ... .. २११      |        | अथ प्रस्वा गच्छति ... .. २०६        |        |
| अथ चातुर्मास्यैयंजते ... १२५     |        | अथ बार्हस्पत्यं चरन् निर्गपति ३२४   |        |
| अथ जुहोति। यानुपरिष्टा० ३२६      |        | अथ बार्हस्पत्यं चरन् नैवारः ५१      |        |
| अथ त्वाङ् दशकपालं ... ३२३        |        | अथ बार्हस्पत्यं चरन् मधिष्यति १८४   |        |
| अथ दक्षिणायाम् चरति ... २८४      |        | अथ बार्हस्पत्येन चरन्त्या ... ६७    |        |
| अथ दक्षिणायाम् सुपार्शति ... २८३ |        | अथ बाह्वु ऽजहृति ... .. १६०         |        |
| अथ दिशो ऽधुवोऽश्ममायो ... ६०     |        | अथ बाह्वु विसार्द्धं ... .. २३५     |        |
| अथ देवाः। अन्तोऽवस्मिन्नेव २     |        | अथ वृहस्पतये व्याच ... १६१          |        |
| अथ घनुरधितनोति ... .. २३४        |        | अथ माक्षं यस्स माचै ... २७३         |        |

| कण्डिकाप्रतीकम् .           | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .             | पृष्ठे |
|-----------------------------|--------|-------------------------------|--------|
| अथ मधु यज्ञाति ... ..       | २१०    | अथ यदि राजन्यो यजते । इन्द्र० | ६३     |
| अथ मध्ये गवा सुव्यच्छति ... | २८३    | अथ यदि राजन्यो यजते । एषा     | ६४     |
| अथ मन्थिनः पुरोरुचा ...     | ३०६    | अथ यदि राजन्यो यजते । देव०    | ६२     |
| अथ मरीचीः । अङ्गलिना ...    | २११    | अथ यदेता अपराः ...            | १३८    |
| अथ मरुङ्गा उष्णवेभ्यः ...   | ३१     | अथ यदेन्नापौष्णः ... ..       | १५४    |
| अथ मित्राय सत्याय ...       | १६२    | अथ यदेन्नावैष्णवः ... ..      | ३८२    |
| अथ मैत्रावार्हस्यात् ...    | १८३    | अथ यदेन्नावैष्णवः ... ..      | १५९    |
| अथ यं यजुषा युनक्ति ...     | ६४     | अथ यदेन्नासौम्यः ... ..       | १५५    |
| अथ यः प्रत्यङ्मुद्वेति ...  | २०४    | अथ यदेन्नेकादश ...            | ३३८    |
| अथ यः स्यन्दमानानां ...     | २०८    | अथ यदेन्द्रो भवति ०—० वेतद्   | ३६६    |
| अथ य एष ऐन्द्र ...          | ३३६    | अथ यदेन्द्रो भवति ०—० वैतम्   | ३६३    |
| अथ य एष वार्हस्यात् ...     | ३४०    | अथ यद् द्वादशकपालो भवति       |        |
| अथ य एष वैश्वदेव ...        | ३४०    | ०—० संवत्सरसम्मिताया          | १५६    |
| अथ य एष सश्वो ...           | २७४    | अथ यद् द्वादशकपालो भवति       |        |
| अथ यत्किंश्वस्य ... ..      | २५६    | ०—० संवत्सरो वैश्वानर-        | ३८२    |
| अथ यत् पौष्णः ... ..        | १५४    | अथ यद् द्वादश भवन्ति ...      | ३२५    |
| अथ यत् पूर्वया दारा ...     | १८     | अथ यद् धृत्वा-हुत्वा ...      | २१२    |
| अथ यत् राजानं ... ..        | १७     | अथ यद् वार्हस्यात्वेन ... ..  | ३३६    |
| अथ यत् सप्तदश ... ..        | १७     | अथ यद् वार्हस्यात्वेन भवति    | ५१     |
| अथ यत्सारस्वतीषु ... ..     | २१९    | अथ यदाध्वर्योः । अग्नेवासी    | ६५     |
| अथ यत्सारस्वती ... ..       | ३६२    | अथ यद्वारुणो भवति ...         | ३६५    |
| अथ यत् सुरापाण मास ...      | ३६०    | अथ यद्वारुणो यवमयश्चर०        | १५६    |
| अथ यत् सौम्यः ... ..        | १५५    | अथ यदेन्वदेवेन ... ..         | ३३८    |
| अथ यद्व्यसा (अष्टागा मास    | ३६०    | अथ यदेष्णवः । त्रिकपालो       | १५३    |
| अथ यद्व्यकपालो भवति         | १२२    | अथ यन्नेवारी भवति ...         | ५१     |
| अथ यद्व्यग्निर्गो भवति ...  | ३६२    | अथ यन्मरीचिषु ... ..          | २१२    |

| कण्डिकाप्रतीकम् .               | पृष्ठ | कण्डिकाप्रतीकम् .                | पृष्ठ |
|---------------------------------|-------|----------------------------------|-------|
| अथ यन्मैत्रावरुण्या ...         | ३३८   | अथ श्वो भूते । क्षत्रगृहान्      | १६५   |
| अथ याः स्यन्दमानाः ...          | २०६   | अथ श्वो भूते । ग्रामण्यो गृहान्  | १६५   |
| अथ या व्यातपति ...              | २०८   | अथ श्वो भूते । परिवृत्त्ये ...   | १६८   |
| अथ यैषा मैत्रावरुणी ...         | ३४०   | अथ श्वो भूते । पालागलस्य         | १६८   |
| अथ रथं युनक्ति ...              | ४६    | अथ श्वो भूते । पुरोहितस्य        | १६३   |
| अथ रथ सुपावहरति । इन्द्रस्य     | ४७    | अथ श्वो भूते । भागद्वयस्य गृहान् | १६६   |
| अथ रथ सुपावहरति । यद्वै         | २८१   | अथ श्वो भूते । महिष्ये गृहान्    | १६४   |
| अथ राजानं क्रीत्वा ...          | ३२५   | अथ श्वो भूते । वैश्वानरं ...     | १५६   |
| अथ रुक्मः शतविष्टस्यौ ...       | २५६   | अथ श्वो भूते । सङ्गृहीतुर्गृहान् | १६६   |
| अथ रुक्म मधस्तात् ...           | २५६   | अथ श्वो भूते । स्रतस्य गृहान्    | १६४   |
| अथ रुद्राय प्रशुपतये ...        | १६२   | अथ श्वो भूते । स्रयमानस्य        | १६४   |
| अथ वरं वृणोति ...               | ३०६   | अथ घट कृषीः । जुहोति             | ८६    |
| अथ व्वरुणप्रघासैर्यजते ...      | १३५   | अथ षोडशिनं गृह्णाति ...          | १४    |
| अथ व्वरुणाय धर्मपतये ...        | १६२   | अथ सजातश्च प्रतिप्रस्थाता च      | ३०६   |
| अथ वाराह्या ऽपानह्वा ...        | २८६   | अथ सप्तदश दुन्दुभीनसु ...        | ६२    |
| अथ वारुणं यवमयं चरुं ...        | ३२४   | अथ सप्तदश प्राजापत्यान् ...      | ३२    |
| अथ वेदान्तात् । राजन्य० ...     | ६४    | अथ सप्तदश सोमग्रहान् ...         | १६    |
| अथ वैश्वन्तीर्गृह्णाति ...      | २०६   | अथ सव्यायुग्यं युनक्ति ...       | ५०    |
| अथ श्रीर्वा यूप मय्युज्जिह्वीते | ६०    | अथ साकमेधैर्यजते ...             | १४६   |
| अथ शुनासीर्येष यजते ...         | १३६   | अथ सारस्वतं चरुं ...             | ३२३   |
| अथ श्येनीं विचित्रगर्भा ...     | ३४७   | अथ सार्द्धं सप्तसु जुहोति        | १३०   |
| अथ श्वो भूते । अक्षावापस्य च    | १६७   | अथ सुमङ्गलनामान् ...             | ३०८   |
| अथ श्वो भूते । अग्नीषोमीय       | १२४   | अथ सोमाय वनसतये ...              | १६१   |
| अथ श्वो भूते । अशुमत्ये ...     | १२१   | अथ स्यन्दमाना गृह्णाति ...       | २०६   |
| अथ श्वो भूते । आग्नावैष्णव      | १२३   | अथ सुवं चाप्यविलापनीं            | ८६    |
| अथ श्वो भूते । ऐन्द्राय ...     | १२४   | अथ हिरण्य मभ्यवरोहति             | ६२    |

| कण्डिकाप्रतीकम् .                 | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम् .                  | पृष्ठे |
|-----------------------------------|--------|------------------------------------|--------|
| अथाक्षान्निवपति ... ..            | ३१०    | अथाहायये स्विष्टकृतं १११, १८४, ३१० |        |
| अथायये सङ्घपतये ... ..            | १८१    | अथेडा मादघाति । ११२ (२), ३११       |        |
| अथावीवोमीयेन पुरोडाशेन            | १८३    | अथेत्तुरीयम् ... ..                | १३६    |
| अथायययेष्टा यजते ... ..           | १२५    | अथेन्नाय ज्येष्ठाय ... ..          | १८१    |
| अथानर्चभस्याजिन मास्तृणाति        | ६३     | अथेमा सुपावेक्षमातो ... ..         | ६१     |
| अथानर्चभस्याजिन सुपस्तृणाति       | ६२     | अथेमा प्रथवेक्षमातो ... ..         | २८६    |
| अथातथ दधि ... ..                  | १८३    | अथेष्टा अनुयाजा भवन्ति ... ..      | ३४     |
| अथाधीवास मास्तृणाति ... ..        | ३०४    | अथेत मभिषेकम् ... ..               | २७१    |
| अथाधीवासं प्रतिसृजति ... ..       | २३३    | अथेतान् पञ्च 'वाजपेथग्रहान्' १४    |        |
| अथाध्वर्युः । चतुर्गृहीत ... ..   | २०५    | अथेतानि हवीर्ध्वि निर्वपति ।       |        |
| अथाध्वर्युः । हिरण्यपात्रेण       | १८     | ०—० आमेय ... ..                    | ३२६    |
| अथान्तराश्वेऽभिन्द्य ... ..       | ३०५    | अथेतानि हवीर्ध्वि निर्वपति ।       |        |
| अथाप्रयतीर्य ऋति ... ..           | २०६    | ०—० वारुण्यं ... ..                | ३६६    |
| अथापरेण त्रिवयुक्तेन यजते ।       |        | अथेतानि हवीर्ध्वि निर्वपति ।       |        |
| स आप्तापौष्ण ... ..               | १५३    | ०—० सविता वे ... ..                | ३२३    |
| अथापरेण त्रिवयुक्तेन यजते ।       |        | अथेतानि अमतीभ्याम् ... ..          | ६६     |
| सोऽवीवोमीय ... ..                 | १५५    | अथेतैषा दुन्दुभीनाम् ... ..        | ६३     |
| अथापामार्गहोमं ... ..             | १४०    | अथेतैषा माजिद्धतोऽ ... ..          | ६८     |
| अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति । अथा १२२ |        | अथेतैषा माजिद्धस्तु रथेष्टु ... .. | ६३     |
| अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति । स १४२   |        | अथेनं वासाश्चि ... ..              | २४३    |
| अथापानद्विरभ्युक्षति ... ..       | ४८     | अथेनं शार्दूलचर्म ... ..           | २५८    |
| अथास्माऽआसन्दी माह्वरनि . ६२      |        | अथेनं दक्षिणे बाह्वो ... ..        | १६३    |
| अथास्ते तिस्र इवूः ... ..         | २३५    | अथेनं दिशः समारोहयति २५७           |        |
| अथास्ते पञ्चाक्षान् ... ..        | ३०६    | अथेनं मन्तरेव शार्दूलचर्मणि २७२    |        |
| अथास्ते ब्राह्मण रूपान् ... ..    | ३०८    | अथेनं माविदो वाचयति ... ..         | २३३    |
| अथाह । सन्नाडय मसौ १११            |        | अथेनं मासादयति ... ..              | ३०५    |

- “एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञः” १. ४. १.  
 “एष वै सविता , य एष तपति” २. ५. ७.  
 “एष सोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति” २. ७. १२.  
 “एषां वा लोकाना मय मेव भुवः” १. २. ४.  
 “एषा वै परमा वाग् या सप्तदशानां दुन्दुभीनाम्” १. ५. ६.  
 “शोषधीनां नेदिष्ठतमा यद् गोधूमाः, तेषां न त्वगस्ति” १. ६. ६.  
 “कृष्णं वै तमः” २. ६. २.  
 “केशान् न वपति, वीर्यं वा एतद्” ४. ५. १ , ६.  
 “कौशं वा चण्डातक मन्तरं दीक्षितवसनात्” १. ६. ८.  
 “गन्धर्वाः सप्तविंशतिः” १. ४. ८.  
 “चत्वारो वै वर्णाः, ब्राह्मणा राजन्यो वैश्यः शूद्र इति” ४. ६. ८.  
 “चत्वारोऽश्वाः, रथः पञ्चमः, द्वौ सव्यष्टृसारथी, ते सप्त” ३. ५. १७.  
 “तदिदं मन्तरिक्षं सैषा ‘रजा’ नाम” ३. २. २८.  
 “तच्च वारुणं यत् कृष्णम्” २. ४. १७.  
 “तद् यः पुत्रस्तं पितरं करोति, यः पिता तं पुत्रम्” ३. ४. ८.  
 “तस्मैश्वरः प्रजा पापीयसी भवितोः १. १. ८. [ ४. २. २२.  
 “ताः ब्रह्मणे ददाति ०—०, हिरण्ययीं स्रज सुव्रात्रे, रुक्मं  
 ह्योत्रे, हिरण्ययीं प्राक्काशावध्वर्युभ्यान् , षष्ठं ग्रस्तोत्रे, वशां  
 मेधावरुणाय , ऋषभं ब्राह्मणाष्मंसिने, वाससी नेष्टापोढभ्या  
 , मन्वतरतो युक्तम् , यवाचित मष्ठावाकाय , गा मनीषी”  
 “तिस्रो वा इमाः पृथिव्य इय महैका, द्वे अस्या परे” १. ५. २१.  
 “देवसृष्टो वा एषेष्टिर्वत् त्रैधातवी ०—० एषा राजसूययाजिन  
 उदवसानीयेष्टिर्भवति” ४. ७. ११.  
 “देवसृष्टो वा एषेष्टिर्वत् सौत्रामणी” ४. ६. १४.

“हे वै श्यामस्य रूपे शुक्रस्यैव कृष्णश्च १. ३. ८ ; २. ४. ८.

“धनुरधितनोति०—० बाह्व विमार्ष्टि ०—० अथास्मै तिस्र इधूः  
प्रयच्छति” ३. २. २७—२८.

“धावन्ध्याजि माघ्नन्ति दुन्दुभीनभि साम गायति” १. ५. १७.

“नमो मात्रे पृथिव्यै” १. ६. १८.

“न वा एष स्त्री न पुमान् यत् केशवः पुरुषः” १. २. १४ ; ३. ३. २.

“न वै ब्रह्मा प्रचरति , न सुते , न शंसति , अथ स यशः ;  
न वै हिरण्येन किञ्चन कुर्वन्ति , अथ तद् यशः ; तस्मात्  
त्रीणि शतमानानि ब्रह्मणे ददाति” ४. ७. १६.

“न वै मित्रः कश्चन हिनस्ति , न मित्रं कश्चन हिनस्ति” २. ६. ७.

“न वै वातात् किञ्चनाशीयोऽस्ति , न मनसः किञ्चनाशीयोऽस्ति ,  
तस्मादाह वातो वा मनो वेति” १. ४. ८.

“न हि माता पुत्रं हिनस्ति , न पुत्रो मातरम्” १. ६. १८, १८ ;

“नैतदयो न हिरण्यं यज्ञोद्वायसम्” ३. ३. २. [१.५.२०, २१.

“नैतदयो न हिरण्यं यत् सीसम्” १. २. १४.

“नैते क्रिमयो नाक्रिमयो यद् दम्बशूकाः” ३. ३. २.

“नैष सोमो न सुरा यत् परिस्रुत्” १. २. १४.

“न्येव वर्तते केशान् न वपते , तस्यैषैवं व्रतचर्या भवति याव-  
ज्जीवम्” ४. ५. ६.

“पराभवस्यैतन्मुखं यदतिमानः” १. १. १.

“पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्” १. ३. ८.

“पूर्वेभ्युः परिस्रुतं सन्दधाति ; अग्निभ्यां पच्यस्व , सरस्वत्यै  
इन्द्राय सुवाग्ण पच्यस्वेति , ०—० कुवससक्तून् कर्कन्मुसक्तून्  
चदरसक्तून् इत्यावपति , एतद्दे ततः समभवत्” ४. ६. २०—२२.

- “पूषा वै देवानां भागदुघः” २. ५. ८.
- “पृथी ह वै वैश्वो मनुष्याणां प्रथमो ऽभिषिषिष्वे” ३. २. ४.
- “प्रजननं प्रजापतिः” १. ३. ८.
- “प्रजापतिर्वा अनिरुक्तः” ३. २. ३१.
- “प्रतीचीनफलो वा अपामार्गः” २. ३. २०.
- “प्रष्टिवाहनो ऽश्वरथो दक्षिणा, त्रयोऽश्वा द्वौ सव्यदृसारथी” २. ३. ८.
- “प्रष्ट्यो वै पालागलः, अध्वानं वै प्रहित एति” २. ५. ११.
- “प्राशुकानां, आशूनां, श्यामाकं, नैवारं, हायनानां गावे-  
धुकं, नास्वानां, यवमयम्” २. ७. २-८.
- “बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहितः” २. ५. २.
- “बृहस्पतिसवो वा एष यद् वाजपेयम्” १. ६. १८.
- “ब्रह्म वै पलाशः” २. ३. १८.
- “ब्रह्म हि ब्राह्मणः” १. ५. २, ४, ८, ११.
- “ब्रह्म हि मित्रः, ब्रह्म हि यज्ञः, ब्रह्म हि बृहस्पतिः” २. ६. ४.
- “माता धेनुः, मातेव वा इयं मनुष्यान् बिभर्त्ति” २. ५. ४.
- “यं न्वेवैकयर्चा भिषज्येदेकेन यजुर्बैकेन सान्ना तं न्वेवागदं कुर्यात्,  
किमु यं त्रयेण वेदेन” ४. ७. १५.
- “यस्यै विशो राजा भवति, एष वोऽमी राजा; सोमोऽस्माकं  
ब्राह्मणानां राजेति ०—० तदस्मा इदं सर्वं मायं करोति  
०—० ब्राह्मणो नायः” ३. ४. ३.
- “यावद्वा प्राशेष्वापो भवन्ति, तावद् वाचा वदति” ३. २. १६.
- “या वा अपुत्रा पत्नी सा परिहृती” २. ५. १३.
- “योजनशो हि भिमाना अध्वानं धावन्ति” १. ५. १७.
- “यो वा अनूचानः सोऽलं यशसे” २. ६. ३.



“यो वै रुद्रः सोऽग्निः” २. ३. १३.

“यो वै वरुणः सोऽग्निः” २. ३. १३.

“राज्ञ एव राजसूयम्” १. १. १२.

“रुक्मः ( रुच्यमानमुकुटः ) शतविद्युषो वा भवन्ति, नवविद्युषो  
वा ०—० त सुपरिष्टाच्छीर्षो निदधाति” ३. ३. १३, १४.

“वज्रो वा आच्यम्” २. ३. ७.

“वज्रो वै विकङ्कतः” २. ३. १८.

“वरुणसवो वा एष यद्राजसूयम्” ३. ५. २, २१. [२. ६. ६.]

“वरुण्यं वा एतद् यन्मथितम्, अथैतन्मथं यत् स्वयमुदितम्”

“वरुण्या वा एषा या परमुद्रता

अथैषा मैत्री या स्वयम्प्रग्रीर्णा” २. ६. ५.

“वरुण्यो वा एष योऽग्निना श्रुतः,

अथैष मैत्री य जलना श्रुतः” २. ६. ८.

“वाराह्या उपानहा उपमुच्यते । अग्नीं ह वै देवा हृतकुम्भं प्रवे-  
शयाश्चक्रुस्ततो वराहः सम्भूव ; तस्माद् वराहो मीदुरः  
हृताहि सम्भूतस्तस्माद् वराहे गावः सञ्जानते,— स्व मैत्रै-  
तद्रस मभिसञ्जानते” ३. ५. १८.

“विशो वै मरुतः, वैश्यो वा ग्रामणीः” २. ५. ६.

“वीर्यं वा आपः” ३. १. १.

“वीर्यं वा एतदपां रसः” ३. ३. १७.

“शार्ङ्गलचर्मणो जघनाहं सीसं निहितं भवति” ३. ३. ८.

“श्रेताविव ह्यश्विनावविर्मलहा सारस्वती भवति ०—० दुर्वेदा  
एवं सृष्ट्वा पश्यवः ; यद्येवं सृष्टवान् न बिन्देदप्यजानेवात्म-  
रन्, ते हि सुचपतरा भवन्ति” ४. ६. १.

- “सत्त्वं वै श्रीर्ज्योतिः सोमः, अमृतं पाप्मा तमः सुरा” १. ५. २८.  
 “सप्तदश दुन्दुभीगनुवेद्यन्तं सन्निवन्ति” १. ५. ६.  
 “सप्तदशभिर्वासोभिर्भूषो वेष्टितो वा विप्रयितो वा भवति” १. ६. ५.  
 “सप्तदश सुरायज्ञान् गृह्णाति” १. २. १२.  
 “सप्तदश सोमग्रहान् गृह्णाति” १. २. १०.  
 “सप्तदशाक्षानि सन्धरन्ति” २. १. ३.  
 “सप्त वै मारुतो गणः” ३. ५. १७.  
 “सयोनी वा अश्विनौ, सयोनी सव्यष्टृसारथी; समानं हि  
 रथ मधितिष्ठतः” २. ५. ८.  
 “सर्वे वा इदं प्रजापतिर्यदिमे लोका यदिदं किञ्च” १. ३. ११.  
 “स वा एष (वाजपेयः) ब्राह्मणस्यैव यज्ञः १. १. ११.  
 “सविता वै देवानां प्रसविता, प्रसविता वै ज्ञाता” २. ५. ७.  
 “सर्वो वै सूनः, सर्वो वै देवानां वरुणः” २. ५. ५.  
 “सव्यायुग्यं युनक्ति, दक्षिणाप्रष्टिं युनक्ति, सव्याप्रष्टिं वाये मानुषे  
 ७—० ते वा एत एव त्रयो युक्ता भवन्ति” १. ४. ८.  
 “स हि पौष्णो यच्छ्यामः” २. ४. ८.  
 “स हि वैष्णवो यद् वामनः” २. ४. ४.  
 “सारस्वतीः, ‘जर्मी’ \*, ‘स्यन्दमानाः’, ‘अपयतीः’, ‘समुद्रियाः’,  
 ‘निवेद्याः’, ‘स्यावराः’ ‘आतपवर्थाः’, ‘वैशन्तीः’, ‘कूप्याः’,  
 ‘प्रुष्याः’, ‘मधव्याः’, ‘गोरुख्याः’, ‘प्रयस्याः’, ‘विश्वभृतः’,  
 ‘भरीषीः’— “ता का एताः सप्तदशाः” १. १. ३—२२. †  
 “सासी द्यौः सैषा ‘सुमा’ नाम” ३. २. २८.

\* प्राक्प्रत्यङ्गभेदेन समुद्रोर्मयो द्विविधा भवति ।

† एतद् ब्रह्मे २२१ पृ० प्रथमटीप्पणी संशोध्य ।

“सीसं मृदु मृतजवं० —० हिरण्यरूपं (स्वर्णवङ्गाख्यं) सन्न कियच्च  
 नार्हति० —० नाट्टा रक्षांसि (रोगाणि) अतोऽपहन्ति” ३. ३. १०.  
 “क्षेयं पृथिवी सैषा ‘दृवा’ नाम” ३. २. २८.  
 “सोमो वै प्रजापतिः १. ३. ७.  
 “स्वर्मानुर्ह वा आसुरः सूर्यं तमसा विव्याध, स तमसा विहो  
 न व्यरोचत” २. ६. २.

## ॥ अथ विषयसूची ॥

( १ प्र० १ ब्रा० )

अथ वाजपेयविधानप्रस्तावः, वाजपेये ब्राह्मणस्याधिकारविधि  
 सुन्नेतुं बृहस्पतिवृत्तान्तं प्रदर्श्य क्षत्रियस्यापि तं समर्थयितु  
 मिन्द्रवृत्तान्ताख्यानम्, वाजपेयस्य साम्नाज्यफलप्रदर्शनम्, तत्र  
 सावित्रहोमविध्यादिकञ्चेति ।

( १ प्र० २ ब्रा० )

वाजपेयग्रहविशेषाणां विधानम्, प्राक्तनसोमक्रयविधि मनूय  
 परिस्रुत्क्रयविधानम्, वसतीवरीणां हविर्दानप्रपादन मनूय परि-  
 स्त्रुत्प्रपादने विशेषविधिः, ग्रहग्रहणप्रसङ्गात् सुराग्रहाणां मधुग्रहस्य  
 च माध्यन्दिने सवने ग्रहणविधिञ्चेति ।

( १ प्र० ३ ब्रा० )

वाजपेयस्य अग्निष्टोमोक्त्यषोडशतिरात्रसंख्यालक्षणसङ्गाधेन तत्र तेषां मग्निष्टोमादिगतानां सवनौपशूनां विशेषतो विधानम्, पञ्चत्तराणाञ्च विधानम्, उक्तानां प्राजापत्यपशूनां वपा-प्रचरणस्य हविर्यागस्य च प्राज्ञतपशुवपाहविभिः सह विधास्यमाने होमकाले विचारः, आश्रावणानन्तरकर्त्तव्ये प्रैषेऽपि विशेष-विधिश्चेति ।

( १ प्र० ४ ब्रा० )

ततो माध्यन्दिनसवनकर्त्तव्येषु प्रधानतो यजमानाभिषेकस्य आजिधावनस्य विधिः, तत्र रथे अश्वत्थयाणां योजनम्, तन्मन्त्राणां तात्पर्याख्यानानि च, ततश्चतुरश्वरथस्याध्वर्यवे दानविधिः, अथ नैवारचरुविधिः, अश्वानां तदान्नापणविध्यादिकश्चेति ।

( १ प्र० ५ ब्रा० )

अथाजिधावनप्रशंसा, ब्रह्मणो रथचक्रे गानम्, ब्रह्मणो रथा-वरोहणम्, यजमानभेदे मन्त्रभेदः, ततो दुन्दुभ्युपावहरणम्, क्षत्रियस्य यजमानस्य सप्तदशेषुप्रव्याधकरणञ्च, ततोऽश्वैर्युक्ते तस्मिन्नथे यजमानस्य समन्त्रकारोहणम्, ततोऽन्वाध्वर्यादिकर्त्तव्यताविधानादिकम्, ततो हवनानुमन्त्रणयोर्व्यवस्थया विधानम्, तन्मन्त्रविधिस्तद्वाख्यानादिकञ्च, ततः सुराग्रहाणां मधुग्रहस्य चात्र माध्यन्दिने सवने विनियोगप्रकारः, प्रतिगृहीतसुराग्रहाणां मैष्टिकव्यवहारविध्यादिकश्चेति ।

( १ प्र० ६ ब्रा० )

अथ यजमानस्य यूपारोहणम् । तत्र पूर्वं मात्स्यहोमानां विधानम्, यूपचषालस्य गोधूमपिष्टमयत्वविधानम्, पत्राश्चण्डातक-

परिधापनम्, यूपे निशेषीष्यापनम्, यूपारोहणकाले जाया-  
मन्त्रणम्, तत्स्ययोर्यजमानदम्पत्योः सर्वदिगौक्षणम्, भूस्यवेक्षणञ्च,  
सहिरण्यजिने तयोर्यूपाद्वतरणम्, आस्तृताजिनाया मासन्धा  
मुपवेशनादिकञ्चेति ॥

( २ प्र० १ ब्रा० )

वाजप्रसवीयहोमकालादिविधानम्, आवेदनविधिः, उज्जिति-  
होमादिविधिः, ततः स्विष्टकृत्वागाद्यनुसन्धानादिकञ्चेति ।

( २ प्र० २ ब्रा० )

अथ राज्ञो राजसूयविधिः । तत्र पवित्रेष्टिरेवारम्भणीयेष्टिः ।  
तदुत्तरदिनेऽनुमतियागस्य, तदुत्तरदिने आग्नावैष्णवयागस्य,  
तदुत्तरदिने आग्नीषोमीयस्य, तदुत्तरदिने ऐन्द्राग्नस्य, तदुत्तर-  
दिने आययणस्य विधिदक्षिणादीनि विहितानि । उक्तयागपञ्च-  
कादनन्तरं चातुर्मास्यविधानश्चाज्ज्ञात मिति ।

( २ प्र० ३ ब्रा० )

तत्र चातुर्मास्येषु वैश्वदेवाख्यं प्रथमं पर्वं, वरुणप्रघासाख्यं  
द्वितीयं पर्वं, साकमेधाख्यं तृतीयं पर्वं, शुनाक्षीर्याख्यं चतुर्थं पर्वं,  
तेषां विधानादि । ततः पञ्चवातीयहोमविधानम्, तद्दक्षिणा-  
विधानञ्च । आरोग्यकामस्यापि पञ्चवातीयहोमविधानम् । तत  
इन्द्रतुरीययागविधानम्, तद्दक्षिणाविधानञ्च । ततोऽपामार्गहोम-  
विधानम्, तत्रोत्पुकादान मनुष्य मन्त्रविधानम्, तन्मन्त्रव्याख्या-  
नादिकञ्च । ततः स्रुवक्षेपणादिविधानञ्चेति ।

( २ प्र० ४ ब्रा० )

अथ तत्रैव चिष्युतेष्टिविधानम् । तत्र वैश्वानरयागः प्रथमः,  
 रत्नहविष्कयागो द्वितीयः, सौम्ययामस्तृतीयः । तत्रा मितिकर्त्त-  
 व्यता-मन्त्रादि-दक्षिणा-विधानानि । ततो हिहृष्यायामविधिः,  
 तत्र वैश्वानरयागः प्रथमः, वारुणयागो द्वितीयः । अनयोरिति-  
 कर्त्तव्यता-मन्त्रादि-दक्षिणाविधानानि चेति ।

( २ प्र० ५ ब्रा० )

अथ रत्नहविरिति । रत्नहविःप्रयोगः । स च सेनानीगृहे  
 प्रथमः, पुरोहितगृहे द्वितीयः, यजमानगृहे तृतीयः, महिष्या  
 गृहे चतुर्थः, सूतस्य गृहे पञ्चमः, ग्रामणीगृहे षष्ठः, क्षत्रगृहे  
 सप्तमः, सङ्गृहीतुगृहे अष्टमः, भागदुघस्य गृहे नवमः, पुनर्यज-  
 मानगृहे दशमः, सूतगृहे एकादश, परिव्रत्तीगृहे द्वादश,  
 तद्रत्नहविरिष्ट्यन्ते किञ्चित् कर्त्तव्यविशेषविधानञ्चेति ।

( २ प्र० ६ ब्रा० )

अथ सौमारीद्रयागविधिः । तत्र चरुपाकः, प्राज्यकरणादिकञ्चेति ।

( २ प्र० ७ ब्रा० )

अथ पवित्राख्याद्यागादनन्तरकर्त्तव्यस्य राजसूयीयद्वितीय-  
 यागस्याभिषेचनीयाख्यस्य प्रयोगे देवसुवां हविषां विधानम् । तत्रादौ  
 सावित्रस्य विधानम्, ततः क्रमादानेयस्य, सौम्यस्य, ऐन्द्रस्य,  
 रौद्रस्य, मैत्रस्य, वारुणस्येति । ततो देवस्यनामनिर्वचना-  
 दिकञ्चेति ॥

( ३ प्र० १ ब्रा० )

अथ सप्तदशानां मपां सम्भरणविधानम् । तत्र प्रथमं तत्पात्र-  
निरूपणम् । अथ प्रथमं सारस्वतीनां मपां सम्भरणप्रकारादिकम् ;  
ततः प्रागूर्ध्वीणाम्, प्रत्यगूर्ध्वीणाम्, प्रतिलोमस्थन्दमानानाम्,  
अपयतीनाम् (वैप्रवाहाणाम्), परिवाहिणीनाम्, उच्छलन्तीनां  
सामुद्राणाम्, आवर्त्तोदकानां सूर्यत्वचसाम्, पातपवर्ष्-  
णाम्, सरस्वतीनाम्, कूप्यानाम्, नीहारात्मकानाम्, मधु-  
रूपाणाम्, गोरुबानाम्, पयोरूपाणाम्, घृतात्मिकानाम्,  
मरीचीनाञ्चापा मिति ॥

( ३ प्र० २ ब्रा० )

अथाभिषेकः । तत्र तत्कालविधिः, पार्थिवोमविधिः, अभि-  
षेकपात्राणां विधानम्, पवित्रहयकरणोत्पवनादिकञ्च । ततो  
यजमानस्य तार्प्यपाण्डूधीवासोष्णीषपरिधानम् । अथैव दीक्षित-  
वसनश्चावभृथे परित्यागविधिः, धनुर्वीणग्रहणम्, आविष्कृत-  
वाचमन्त्रेति ।

( ३ प्र० ३ ब्रा० )

केशवलोद्वायसदन्दशूकानां मन्तरालवर्त्तिवोपपादनम्, ततः  
कुन्तस्तस्य सर्वदिगाक्रमणविधिः, अधस्तादुपरिष्टाच्च इक्ष्मणिधा-  
नम्, समन्तकबाह्णदुग्धग्रहणेति ।

( ३ प्र० ४ ब्रा० )

अभिषेकप्रकारोपदेशः, संस्मृतैः सिक्तस्य पालाशाभिषेकपात्रस्य  
तस्यैव रात्रिः प्रियतमाय पुत्राय अर्पणविधिश्च । ततस्तत्पुत्रकर्तृको  
मार्हपत्येऽग्नौ होमविशेषः, पालाशपात्रशेषस्याग्नीहोत्रे होमश्चेति ।

[ २३ ]

( ३ प्र० १ ब्रा० )

रथोपावहरणम् । तत्र प्रथमं तावत् आहवनीयस्वीत्तरप्रदेशे  
शतानां तदधिकानां वा गवां स्थापनम्, ततः समन्त्रकरथोपा-  
वहरणविधिः, यजमानस्य रथारोहणम्, स्थापितासु गोषु  
रथस्थापनम्, तद्विहितोऽस्थानां स्थापनम्; ततो रथविमोचनीय-  
होमविधिः, वराहवर्मनिर्मितोपानिहोमोचनम्, ततो रथादवरो-  
हणविधिः, एतत्पसङ्गतो हंसमन्त्रस्य व्याख्याविधिप्रदर्शनम्,  
शतमानयोरासञ्जनम्, औदुम्बरा उपगूहनादिकम्, पयस्यायां  
वाह्नोरवहरणञ्चेति॥

( ४ प्र० १ ब्रा० )

अथ पयस्यायाः प्रचारः । आसन्त्या मवीवासास्तरणम्, सुन्वत-  
स्त्रोपवेशनम्, यजमानहस्ते पञ्चाक्षावापः, सुन्वत्पृष्ठे दण्डे-  
राघातः, यजमानस्य वरप्रार्थनादिकम्, सुन्वते स्फटि-प्रदानञ्च ।  
स्यूतस्नाननिरूपणम्, अग्निदेवने हिरण्यनिधानपूर्वकहोमविधिः,  
ततोऽन्ननिवापः, गोघणनम्, दूतकर्मणो दक्षिणादानम्, पय-  
स्यायाः स्निष्टज्जडादिविधिञ्चेति ।

( ४ प्र० २ ब्रा० )

अथ दशसंस्तृपाहविर्विधानम्, दशपेयविधानम्, द्वादश-  
पुण्डरीकस्रक्प्रतिमोक्तः, ततो द्वादशपेयस्य दीक्षाविधिश्च ।  
आग्नेयादिहविर्निर्वापः, उपसन्नयार्थं हविस्त्रयकरणम्, तत्र  
विचारश्च । उपसद्दयागविधिः । गर्भिणीनां द्वादशगवां ब्रह्मणि



दानम्, हिरण्यस्रक्-रुक्म-प्राकाशद्वयाश्चवर्षभ-वासोद्वयानुद-  
दानविधिश्चेति ।

( ४ प्र० ३ ब्रा० )

अथ पञ्चविलचरयागविधिः । तद्द्वौयत्विंशिविधेभ्यो हिरण्यादि-  
दक्षिणादानविधिः, एतस्य हविःपञ्चकस्य फलान्तराय राज-  
स्याद् बहिःप्रयोगविधानश्चेति ।

( ४ प्र० ४ ब्रा० )

अथ उत्तराणां प्रयुग्धविधां द्वादशानां विधानम्, द्वादश-  
प्रयुग्धविःकरणेन क्रतुप्रयोगस्य दार्ढ्यकथनम्, ततस्तत्र पशुदय-  
विधिः, तत्कर्मणो दक्षिणाविधानश्चेति ।

( ४ प्र० ५ ब्रा० )

अथ केशवपनीयातिरात्रस्य वैशेषिका धर्माः । तत्र सामगै-  
र्गीयमानेषु स्तोत्रेषु चीदकेन प्रातस्सवनादिषु त्रिवृदादिस्तोम-  
प्राप्तौ तानपवदितुं विशेषविधिः प्रथमः । ततः केशवापन-  
केशनिकर्त्तनयोः क्रमान्विधेयविधाने । तत उपानहोपमुञ्चन-  
विधानादिकश्चेति ।

( ४ प्र० ६ ब्रा० )

अथ सौत्रामणीयागविधिः । तत्र पशुत्रयविधिः । तत इन्द्रस्य  
नासादिभ्यः सोमद्रवणात् मिन्हादीना मुत्पत्तिः, अपानादितस्तद्-  
द्रवणात् सुरोत्पत्तिः, निडीवनत्रयात् सुरासन्धानानां कुवलकर्कन्मु-  
वदराणा मुत्पत्तिरिति कथा । सौत्रामणीनामनिर्वचनम् । सोम-  
पक्वोदनचूर्णपाचनेन परिस्तुत्सन्धान विधिः, परिस्तुत्पावनम्, तस्यां  
पूतायां परिस्तुति कुवलकर्कन्मुवदरसक्तुत्रयप्रक्षेपेण सुरात्वापाद-  
नञ्च । ततस्तद्ग्रहत्रयग्रहणम्, तद्वनञ्च । ततः परिस्तुच्छेष

भासिष्य इक्षवर्षिद्रं कुम्भं शिखी कृत्वा दक्षिणस्यान्नेरुपरि  
धारयन् ततः स्तवत्वा धारय सोमवताम् कर्हिषदां मन्त्रिष्यात्ता-  
नाञ्च पितॄणां सुपस्थानादिकम्, सौत्रामणीदक्षिणाविधानञ्चेति ।

( ४ प्र० ७ ब्रा० )

अथ राजसूयात्ते कर्त्तव्यायास्त्रैधातवीष्टेः प्रयोगः । तत्र  
तद्विधानार्थाख्यायिका, तन्नामनिर्वचनम्, तद्विनिर्गुणम्,  
तद्विधानम्, तद्विधानविधिः, तत्फलश्रुतिः, तत्फलसंवादा-  
ख्यानम्, वेदत्रयरूपयानया त्रैधातव्या अभिचारपरिहारश्चेत्या-  
ख्यानम् । ततो ब्रह्मणे त्रीणि शतमानानि, होत्रे तिस्रः  
सवत्साः पयस्विनीर्गाः, अर्धयवे त्रीणि वासांसि, अग्नीध्रे  
एकां गाञ्चेति त्रयोदशदक्षिणाद्रव्याणां विधानम्; तदेतत्त्रयो-  
दशसाम्येनास्य यज्ञस्य मलित्वात्सहितसंवत्सररूपत्वं मिति प्रशंसा  
चेति शम् ॥

## ॥ अथ कर्मसूची ॥

| कर्म.                   | प्र० ब्रा० क० | कर्म                      | प्र० ब्रा० क० |
|-------------------------|---------------|---------------------------|---------------|
| अंश्चादियज्ञग्रहणम् ... | १ २ १         | अनुमतियागः ...            | २ २ २         |
| अथ राजसूयः ...          | २ २ २         | अपामार्गहोमः ...          | २ ३ १४        |
| अदित्यादिहोमाः ...      | २ २ ४         | अभिषेकः ...               | ३ ४ ४         |
| अग्निदेवनकरणम् ...      | ४ १ २०        | अवदानम् ...               | १ ३ ५         |
| अग्नीवासपरिधापनम्       | ३ २ २२        | अश्वत्थुष्टयोपेतरयारोहणम् | ३ ५ ७         |

| कर्म.                         | प्र० | आ० | क० | कर्म.                    | प्र० | आ० | क० |
|-------------------------------|------|----|----|--------------------------|------|----|----|
| अन्धानां भवघ्नापणम्           | ५    | २७ |    | जायामन्त्रणम्            | १    | ६  | १५ |
| आभविष्णवयागः ...              | २    | २  | ६  | साध्यपरिधापनम्           | ३    | २  | २० |
| आभीषोमीययागः ...              | २    | २  | ७  | त्रिसंयुक्तेयः           | २    | ४  | १  |
| आग्नेयादि-सारस्वतान्त-सप्तदश- |      |    |    | त्रैधातवीदक्षिणा         | ४    | ७  | १६ |
| पशूनां मालभनम्                | १    | ३  | १  | त्रैधातवीष्टिः           | ४    | ७  | १  |
| आययययागः ...                  | २    | २  | ३  | त्र्यम्बरथयोजनम्         | १    | ४  | १  |
| आजिधावनम्                     | १    | १  | २  | दृष्टाघातः               | ४    | १  | ७  |
| आजिधावनम्                     | १    | ५  | १  | दृष्टपेयेष्टिः           | ४    | २  | ३  |
| आभिवेचनीयेष्टिः ...           | २    | ७  | १  | दीक्षितवसनद्यागः         | ३    | २  | २६ |
| जाविदमन्त्राणां वाचनम्        | ३    | २  | ३१ | दुन्दुभिवादणम्           | १    | ५  | ७  |
| आसन्ध्या मजिनास्तरणम्         | ४    | १  | ३  | देवनम्                   | ४    | १  | २३ |
| आसन्ध्या सुपवेशनम्            | १    | ६  | २३ | देवस्वहविर्यागाः         | २    | ७  | १  |
| आसन्ध्या सुपवेशनम्            | ४    | १  | ४  | दादृष्टपेयेष्टिः         | ४    | २  | १३ |
| इन्द्रतुरीययागः ...           | २    | ३  | ११ | दादृष्टरत्नहविरनुष्ठानम् | २    | ५  | १  |
| इन्द्रयादानम्                 | ३    | २  | २६ | दादृष्टामीहीमः           | १    | ६  | १  |
| उज्ज्वितीहोमाः ...            | २    | १  | १६ | धनुरातननम्               | ३    | २  | २७ |
| उपसद्यागः ...                 | ४    | २  | १६ | निश्रेणीनिधानम्          | १    | ६  | ८  |
| उपानदुपसृचनम्                 | ४    | ५  | ७  | नैवारचरुप्रचरणम्         | १    | ७  | १  |
| उष्णीषवेष्टनम्                | ३    | २  | २३ | पञ्चदिगाक्रमणम्          | ३    | ३  | ३  |
| उज्यपुटेरुदसनम्               | १    | ६  | १६ | पञ्चवातीयहोमः            | २    | ३  | ५  |
| रेन्द्रायागः ...              | २    | २  | ८  | पञ्चविलक्षिणा            | ४    | ३  | ८  |
| शौडम्ब्या उपगूहनम्            | ३    | ५  | २५ | पञ्चविलेष्टिः            | ४    | ३  | ७  |
| कैशवपनीयेष्टिः ...            | ४    | ५  | १  | पञ्चाक्षावापः            | ४    | १  | ६  |
| कैशवाख्ये ताम्रक्षेपः ...     | ३    | ३  | १  | यत्नाच्छातकपरिधापनम्     | १    | ६  | ८  |
| शौधूमसवालकरणम्                | १    | ६  | ६  | मयस्याप्रचरणम्           | ४    | १  | १  |
| चतुर्दशान्सम्बरणम्            | २    | १  | २  | परिसुत्क्रयः             | १    | २  | १४ |
| चातुर्मास्ययागः ...           | २    | २  | १० | परिसुत्प्रपादनम्         | १    | २  | १६ |

| कर्म.                   | प्र० | ब्रा० | क०   | कर्म.                 | प्र० | ब्रा० | क०   |
|-------------------------|------|-------|------|-----------------------|------|-------|------|
| परिसुत्सन्धानम्         | ...  | ४     | ६ १० | रथादवरोहणम्           | ...  | १     | ५ २२ |
| पवित्रेष्टिः            | ...  | २     | २ १  | रथारोहणम्             | ...  | १     | ५ ७  |
| पशुबन्धः                | ...  | ४     | ४ ८  | रथोपावहरणम्           | ...  | ३     | ५ ३  |
| पशुबन्धविधिना           | ...  | ४     | ४ ६  | राजक्रयः              | ...  | १     | २ १४ |
| पाण्डुपरिधापनम्         | ...  | ३     | २ २१ | राजसूयः               | ...  | २     | २ १  |
| पार्थिवीमाः             | ...  | ३     | २ ४  | वरवरणम्               | ...  | ४     | १ ८  |
| पितृपस्थानम्            | ...  | ४     | ६ २७ | वरुणप्रघासेष्टिः      | ...  | २     | ३ २  |
| पूर्णाहुतिहोमः          | ...  | २     | २ १  | वसंतौवरीप्रपादनम्     | ...  | १     | २ १६ |
| प्रयुग्वचिर्दक्षिणा     | ...  | ४     | ४ ३  | वस्ताजिनास्तरणम्      | ...  | १     | ६ २१ |
| प्रयुग्वचिवर्यागः       | ...  | ४     | ४ १  | वाजपेयः               | ...  | १     | १ १  |
| प्राजापत्यहविर्यागः     | ...  | १     | ३ १३ | वाजपेयपञ्चालभनम्      | ...  | १     | ३ ३  |
| ब्रह्मणस्त्रामत्रयगानम् | १    | ५     | २    | वाजपेयीय-ग्रहग्रहणम्  | १    | २     | ४    |
| ब्रह्मणो मधुग्रहदानम्   | १    | ५     | २८   | वाजप्रसवीयहोमः        | ...  | २     | ७ ४  |
| ब्रह्मणो रथारोहणम्      | १    | ५     | २    | वाराहोपागडुपमुचनम्    | ३    | ५     | १८   |
| ब्रह्मणो रथावरोहणम्     | १    | ५     | ४    | वारुणयागः             | ...  | २     | ४ १६ |
| भूम्यवेक्षणम्           | ...  | १     | ६ १८ | वैश्वदेवेष्टिः        | ...  | २     | ३ १  |
| मधुग्रहग्रहणम्          | ...  | १     | २ १० | वैश्वानरयागः          | ...  | २     | ४ १३ |
| मारुतवपाप्रचरणम्        | १    | ३     | ४    | शुनासीर्येष्टिः       | ...  | २     | ३ ४  |
| यजमानवाहुजपः            | ...  | २     | १ ११ | षट्कृमिहोमः           | ...  | १     | ६ ३  |
| यजमानवाहुवरणम्          | ३    | ५     | २७   | संखपादिदक्षिणा        | ...  | ४     | २ २० |
| यजमानाभिवेकः            | ...  | २     | १ १२ | संखपाहविर्यागः        | ...  | ४     | २ १  |
| यजमानाभिवेकः            | ...  | ३     | २ १  | सप्तदशलक्षभेदाः       | ...  | १     | ५ १४ |
| यजमानायावेदनम्          | ...  | २     | १ १५ | सप्तदशसोमग्रहग्रहणम्  | १    | २ १०  |      |
| यूपादवरोहणम्            | ...  | १     | ६ २२ | सप्तदशसुराग्रहग्रहणम् | १    | २ १२  |      |
| यूपारोहणम्              | ...  | १     | ६ ६  | सप्तदशापां सम्भरणम्   | ३    | १ १   |      |
| रत्नहविरिष्टिः          | ...  | २     | ५ १  | साकमेधीयेष्टिः        | ...  | २     | ३ ३  |
| रथविमोचनीयहोमाः         | ३    | ५     | १४   | सावित्रहोमः           | ...  | २     | १ ४  |

| कर्म.                  | प्र० ब्रा० क० | कर्म.                  | प्र० ब्रा० क० |
|------------------------|---------------|------------------------|---------------|
| सुरायहधारणम् ...       | १ २ १८        | सौत्रामणीह ...         | ४ ३ ३४        |
| सुरायहार्णा व्यवहारः * | १ ५ २८        | सौत्रामणीम ...         | ४ ३ १         |
| सुरायहतिहरणम् ...      | १ २ १७        | सौमारीद्रव्य ...       | २ ३ १         |
| सोमयहधारणम् ...        | १ २ १८        | रूपवहणम् ...           | १५            |
| सोमयहतिहरणम् ...       | १ ८ १७        | खिद्युक्त्यागः ...     | २ १ १८        |
| सोमदीक्षा ...          | ४ २ ५         | हवन अनुमन्त्रणं वा ... | १ ५ १८        |
| सोमसुरायहयोष्मादनम्    | १ २ १५        | हिरण्ययनम् ...         | ३ २ १५        |

## ॥ अथर्षिनामादिमूची ॥

| नाम.            | प्र० ब्रा० क० | नाम.            | प्र० ब्रा० क० |
|-----------------|---------------|-----------------|---------------|
| धाजातशत्रवः ... | ५. ४. १४.     | एयी *           | ३. २. ४.      |
| धुवणिः ...      | ५. ५. १४      | मद्रसेनः ...    | ५. ५. १४.     |
| मौपाविः ...     | १. १. ५. ७.   | याज्ञवल्काः ... | ५. ४. १४.     |
| वागशुतेयः ...   | १. १. ५. ७.   | वेन्धः ...      | ३. २. ४.      |

\* इह मूले (३. २. ४.) एयी वेन्धः । एवम् अथ० सं० २०. १३८. ५;  
 ऋ० सं० १०. १४८. ५। तै० ब्रा० १. ७. ७. ३ एयिवेन्धः, ऋ० सं० १. ११२.  
 १२ ऋथपि। ऋथ्युक्रमणान् एयुवेन्धः १० म० १४८ वृ० द्रव्यमिति ॥

॥ इति ॥

॥ ॐ ॥

॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ अथ ॥

पञ्चमकाण्डम् ।

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपिवा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

देवाञ्च वा ऽसुराञ्च । उभये प्राज्ञापत्याः  
पस्पृधरे ततो ऽसुरा अतिमानेनैव कस्मिन्  
व्ययं जुहुयामेति खेध्वेवाद्येषु † जुह्वतस्वेवस्ते ऽति-  
मानेनैव पूरावेभूवस्तस्मान्नातिमन्येत पराभवश्च  
हेतन् मुखं यदतिमानः ‡ ॥ १ ॥

\* 'उभयप्राज्ञापत्याः'—इति क ।

'खेध्वेवाद्येषु'—इति कौ ।

† 'व'—इति ग, घ ।

अथ \* देवाः । अन्यो अन्यस्मिन्नेव जुह्वतश्चेर-  
स्तेभ्यः प्रजापतिरात्मानं प्रददौ यज्ञो वैषा मास  
यज्ञो हि देवाना मन्त्रम् ॥ २ ॥

ते होचुः । कस्य न इदं भविष्यतीति ते मम †  
ममेत्येव न सम्पादयाञ्चक्रुस्ते हासम्पादीचु-  
राजि मेवास्मिन्नजामहै स यो न उज्जीष्यति तस्य  
न इदं भविष्यतीति तथेति तस्मिन्नाजि माजन्त ॥ ३ ॥

स बृहस्पतिः । सवितार मेव प्रसवायो-  
पाधावत् सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुच  
त्वत्प्रसूत इदमुज्जयानीति तदस्यै सविता प्रस-  
विता प्रासुवत्तुत् सवित्प्रसूत उदजयत् स इदं  
सर्वं मभत् स इदं सर्वं मुदजयत्प्रजापतिः ‡ इदं  
जयत् सर्वं मु ह्येवेदं प्रजापतिस्तेनेष्टेता † मेवोर्ध्वा  
दिश मुदक्रामत्तस्माद्यश्च वेद यश्च § नैषोर्ध्वा बृह-  
स्पतेर्दिगित्येवाहुः ॥ ४ ॥

तद्यो ह स्म पुरा व्वाजपेयेन यजन्ते । एतां

\* 'अथ'—इति क ।

† नाख्येतत् पदं ख-पुस्तके ।

‡ 'नेष्टेता'—इति ख, 'नेष्टेवैता'—इति घ ।

§ 'यश्च'—इति ग, घ ।

इ चैवोर्ध्वां दिश मुत्क्रामन्ति तत औषाविनैव  
जानश्रुतेयेन प्रत्यववृढं ततो ऽर्वाचीनं प्रत्यवरो-  
हन्ति ॥ ५ ॥

तेनेन्द्रो ऽयजत । स इदं सर्वं मभवत् स  
इदं सर्वं मुदजयत् प्रजापतिं ह्युदजयत् सर्वं  
मु ह्येवेदं प्रजापति स्तेनेष्टृता \* मेवोर्ध्वां दिश  
मुदक्रामत् ॥ ६ ॥

तद्यो इ स्म पुरा व्याजपेयेन यजन्ते । एतां  
इ चैवोर्ध्वां दिश मुत्क्रामन्ति तत औषाविनैव  
जानश्रुतेयेन प्रत्यववृढं ततो ऽर्वाचीनं प्रत्य-  
वरोहन्ति ॥ ७ ॥

स यो व्याजपेयेन यजते । स इदं सर्वं  
भवति स इदं सर्वं मुज्जयति प्रजापतिं ह्युज्ज-  
यति सर्वं मु ह्येवेदं प्रजापतिः ॥ ८ ॥

तदाहुः । न व्याजपेयेन यजेत सर्वं वा ऽएष  
इदं मुज्जयति यो व्याजपेयेन यजते प्रजापतिं  
ह्युज्जयति सर्वं मु ह्येवेदं † प्रजापतिः स इह न

\* स्तेनेष्टृता—इति ख, 'स्तेनेष्टृवेता'—इति घ ।

† 'ह्येवेदं'—इति ग, घ ।



किञ्चन परिशिनष्टि तस्यैश्वरः प्रजा पापीयसी  
भवितोरिति ॥ ६ ॥

तदु वै यजेतैव \* । य ऽएष मेतं यज्ञं कृप्तं  
व्विदुर्हृक्तो † यजुष्टः सामतो ये प्रजज्ञयस्तु ऽएनं  
याजयेयुरेषा ह देवैतस्य यज्ञस्य समृद्धिर्यदेन  
व्विदासो याजयन्ति तस्मादु यजेतैव ‡ ॥ १० ॥

स वा ऽएष ब्राम्हणस्यैव यज्ञः § । यदेनेन  
बृहस्पतिर्यजत ब्रह्मा हि बृहस्पतिर्ब्रह्मा हि  
ब्राह्मणो ऽथो राजन्यस्य यदेनेनेन्द्रो ऽयजत क्षत्रं ॥  
हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः ॥ ११ ॥

राज्ञ एव राजसूयं ¶ । राजा वै राजसूयेनेष्टा  
भवति न वै ब्राह्मणो राज्यायाल मवरं वै  
राजसूयं परं व्वाजपेयं ॥ १२ ॥

राजा वै राजसूयेनेष्टा भवति । सम्राडा-  
जपेयेनावरं हि राज्यं परं साम्राज्यं काम-

\* 'व'—इति क, 'व'—इति ग, घ ।

† व्विदाहृक्तो—इति सा०-सम्मत इति डा० वेबरः ।

‡ 'व'—इति ग, घ ।

§ 'ज्ञः'—इति ग, घ ।

॥ 'क्षत्रं'—इति ग, घ ।

¶ 'सूयं'—इति घ ।

येत वै राजा सम्राड् भवितु मवरं हि राज्यं  
परं साम्राज्यं ॥ १३ ॥

स यो व्वाजपेयेनेष्टा सम्राड् भवति । स  
इदं सर्वं संवृङ्क्ते स कर्मणः-कर्मणः पुर-  
स्तादेतां सावित्री माहुतिं जुहोति देव सवितः  
प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगायेति ॥ १४ ॥

तद्यथैवाद्गो बृहस्पतिः । सवितारं प्रसवायो-  
पाधावत् सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव  
त्वत्प्रसूत इदं मुञ्जयानीति तदक्षौ सविता  
प्रसविता प्रासुवत्तत् सवितृप्रसूत उदजयदेव मे-  
वैष एतत् सवितार मेव प्रसवायोपधावति  
सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रसुव त्वत्-  
प्रसूत इदं मुञ्जयानीति तदक्षौ सविता प्रसविता  
प्रसौति तत् सवितृप्रसूत उज्जयति ॥ १५ ॥

तस्मादाह । देव सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव  
यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतं नः  
पुनातु व्वाचस्पतिर्व्वाजं नः स्वदतु स्वाहेति प्रजा-  
पतिर्वै व्वाचस्पतिरुन्नं व्वाजः प्रजापतिर्न इदं-  
मद्यान्नं स्वदत्वित्येवेतदाह स एता मेवाहुतिं

कुहोत्या श्वः सुहोत्या एतद्वास्यैतत् कर्मारब्धं भवति  
प्रसन्न एतं यज्ञं भवति ॥ १६ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [१.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानां सुफल्गमि ।

यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त मङ्गं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥

काचित् संस्थाः समुदितासुर्येऽग्निष्टोमपूर्विकाः ।

काण्डे तु पञ्चमे वाजपेयः प्रस्तूयते ततः ॥ ३ ॥

राजसूयः सम्प्रपन्नो \* मन्त्रान्नानक्रमेण तु ।

प्रकृतावुपदिष्टत्वादङ्गजातस्य नो वचः ॥ ४ ॥

वैशेषिकास्तु वक्ष्यन्ते यज्ञद्वयगता गुणाः ।

व्याख्यायते तन्निपुणं ब्राह्मणं तद्विधायकम् ॥ ५ ॥

तत्र वाजपेयं † विधातुं प्रसीति — “देवाश्च वा असुराश्चेति ।

\* ‘सम्प्रपन्न’—इति छ, च ; ‘सम्प्रपन्नं’ छ । ‘सम्प्रपन्न(च)’—इति ज ।

† तैत्तिरीयसंहितायां प्रथमकाण्डे सप्तमे प्रपाठके सप्तमादिषु षट्-  
स्वनुवाकेषु वाजपेयमन्त्रा आन्वाताः, तैत्तिरीयब्राह्मणे द्वितीयकाण्डे  
द्वितीये प्रपाठके द्वितीयादिष्वष्टस्वनुवाकेषु वाजपेयब्राह्मण्यन्वाताम् । तत्र,  
“य एवं विद्वान् वाजपेयेन यजते गच्छति स्वाराण्यम्, अयं समागर्गो  
पर्येति, तिष्ठन्तेऽसौ ज्यैष्ठ्याय”—इति वाजपेयविधिः । “स वा एष  
ब्राह्मणस्य चैव राजन्स्य च यज्ञः”—इति अधिकारिविशेषविधिः । “तं  
वा एतं वाजपेय इवाहुः, वाजाप्यो वा एष वाजस्येतेन देवा ऐषन्”  
—इति तन्नामनिर्वचनम् । तदिदं सर्वं तै० ब्रा० १. ३. १. ३ द्रष्टव्यम् ।

‘प्रजापत्याः’ प्रजापतिना सृष्टाः ‘उभये’ द्विविधाः ‘देवाश्च असुराश्च’ ‘पसृधरे’ सर्वाश्चक्रुः । ‘ततोऽसुराः’ स्वतोऽन्यः प्रबलो नासीति ‘अतिमानेन’ (अभिमानेन \*) भूयिष्ठेन दर्पेण ‘कस्मिन्’ खलु होमाधिकरणे ‘वयं’ ‘जुह्वाम’ होमं कुर्याम ‘इति’ भिक्षत्वात् स्वकीयेषु आस्थेषु होमं चक्रुः । ‘ते’ असुराः अत्यन्तगर्वेण पराजिताः । ‘तस्मात्’ अद्यापि कश्चिदपि नातिमानं कुर्यात् ; ‘अतिमानः’ अभिमानं ‘यत्’, तत् ‘पराभवस्य’ प्रापकमिति ॥ १ ॥

देवानां तद्विपर्ययं दर्शयति— अथ देवा इति । ‘देवाः’ खलु ‘अन्योऽन्यस्मिन्’ जुहुवुः ; इन्द्रः अग्नी, अग्निः इन्द्रे, इत्यादि-क्रमेणेत्यर्थः । ‘तेभ्यः’ देवेभ्यः, अन्योऽन्यस्मिन् देवतात्वेन होम-करणात् प्रीतः † ‘प्रजापतिः’, ‘आत्मानं’ शरीरं दत्तवान् । “यज्ञो वैषा मिति । ‘हि’ यस्मात् ‘देवाना मन् यज्ञः’, अतोऽत्रान्योऽन्यस्मिन् हविःप्रदानेनान्नसम्भवात् प्रजापतिशरीरं यज्ञ एव तेषा मासीदित्यर्थः । यज्ञशब्देन वाजपेय उच्यते, प्रकरणबलात् । तथाच तैत्तिरीयके—“एष वाव यज्ञो यद् वाजपेयः”—इति ‡ ॥२॥

तत्र वाजपेये सर्वदेवानां पुरस्ताद् वाजपेयस्यानुष्ठानेन ब्रह्म-स्पर्तरेव श्रेष्ठं वक्तुं माजिधावनं दर्शयति— “ते होचुरिति । ‘ते’ देवाः आगच्छन्तं यज्ञं दृष्ट्वा ‘नः’ अस्माकं मध्ये ‘इदम्’ इति सामान्येन निर्देशः, अयं वाजपेय-यज्ञः ‘कस्य भविष्यति ?’ ‘इति’ ‘जुषुः’ । ततः ‘ते’ सर्वेऽपि ममैवायं यज्ञो ममैवायं यज्ञ इति § विवदमाणाः ‘न सम्पादयाश्चक्रुः’ अस्मैवायं यज्ञ इति न निश्चित-

\* नास्तीति तु पदं उ-पुस्तके ।

† ‘प्रतीतः’—इति च ।

‡ तै० ब्रा० १. ३. २. ५ । § एवं विदित्तिर्नास्ति च-पुस्तकादप्यत्र ।

वन्तः । 'ते' देवाः 'अस्मिन्' विषये 'आजिम्' 'अजामहे' गच्छाम  
इति समयश्चक्रुः । 'नः' अस्माकं मध्ये आजिधावनेन 'यः' कश्चित्  
'उज्ज्यति' 'तस्य' अयं यज्ञो भवत्विति सर्वैरङ्गीकृत्य 'तस्मिन्' वाज-  
पेयविषये विजयार्थम् 'आजिम्' 'आजन्त' अधावन् । "अज गतिक्षेप-  
णयोः \* " । आजिर्नाम धावनप्रदेशस्यावधिर्भूमिविशेषः † ॥ ३ ॥

उत्तरत्र वाजपेयस्य सकलकर्मप्रारम्भे सावित्रहोमो विधास्यते ‡,  
तदर्थं बृहस्पतेरपि प्रथमं सवितृविषयं मुपधावनं दर्शयति— "स  
बृहस्पतिरित्यादिना । तत्राजिं प्रधावन् 'बृहस्पतिः' 'सवितार मेव'  
'प्रसवाय' अनुज्ञानाय 'उपाधावत्' । इतरदेवबुद्धेः धावनप्रदेश मेव  
लक्षणीकृत्य गत इत्येवकारार्थः । सवितुरुपधावने कारणं माह—  
"सविता वा इति । 'प्रसविता' अनुज्ञाता । "इदं म इति ।  
बृहस्पतेः प्रार्थनावाक्यस्थाय मर्थः— हे सवितः ! मज्झम् 'इदं'  
वक्ष्यमाणं कथं 'प्रसुव' अनुजानोहि । "धू प्रेरणे"—इति §  
धातुः । 'त्वत्प्रसूतः' त्वयानुज्ञातः 'इदम्' 'उज्ज्यानि' साध-  
यामि । सर्वदेवेभ्यः पुरस्तात् तेनानुज्ञातः 'उदजयत्' । यत  
उदजयतः 'सः' 'इदं' परिदृश्यमानं 'सर्वं' जगत् 'अभवत्' ।  
सर्वोज्जयेन प्रजापति मेव जितवान् भवति । अनेन वाजपेयस्य  
सर्वजगदात्मक-प्रजापतिरूपप्राप्तिः फलं मित्युक्तं भवति । "तेने-

\* भा० प० १३० धा० ।

† ते० ब्रा० १. ३. १ ; ऐ० ब्रा० ४. १. १ ; श्र० ब्रा० २. ४. ३. ४  
इत्यादि द्रष्टव्यम् । काष्ठशब्दश्च प्रयुज्यते तत्र । तदाह यास्कः— "आज्य-  
न्तोऽपि काष्ठोच्यते ; क्रान्त्वा स्थितो भवति"—इति निरु० २. ५. १ ।

‡ इदमेव ब्राह्मणे चतुर्होमकण्डिकायां द्रष्टव्यम् । कात्यायनेन च  
१४. १. ११ सूत्रे विहितम् । § तु० प० १२७ धा० ।

हेति । तेन वाजपेयेन 'इष्टा' प्रजापतिः 'जषां दिशं मुदन्नामत्' । यत् एव 'तस्मात्' 'यः' पुमान् एता माख्यायिकां ब्रह्मसति-  
रिष्टोषां दिशं प्राप्तवानित्येवंरूपां 'वेद', 'यो' वा 'न' वेत्ति, ते सर्वेऽपि 'जषां दिक्' 'ब्रह्मसतेः' स्वभूता 'इति' 'पादुः' ।  
तथाच तैत्तिरीयके समाख्यातम्— "जषां दिशाष्ट हेमन्तशिथिरा-  
ब्रतूनां ब्रह्मसतिर्देवता"—इति \* ॥ ४ ॥

वाजपेययाजिनस्तदानीं मेवोत्क्रमणम्, भूलोके यावदत्यन्त-  
भोगाभिलाषस्तावदिहावस्थानम् ; तत्र जानश्रुतेयो यत्र मित्युभय  
सुपपादयति— "तद् ये ह स्मेति । यद्वा उत्तरत्र यूपारोहणं "स्वो  
रोहाव ॥"—इतिमन्त्रलिङ्गात् स्वर्गारोहणप्रतिनिधित्वेन वक्ष्यते † ।  
'ततः' स्वर्गरूपाद् यूपारोहणं जानश्रुतेयेनैव पूर्वं कृतं मित्यर्थः ।  
प्रत्यवरोहणं लिङ्गादनुमीयत इत्याह— "तद् ये हेति । अथ ‡ वाज-  
पेययाजिनः "अन्वेष्टा साम्राज्येनाभिषिञ्चामि ॥"—इत्याद्यैर्मन्त्र-  
लिङ्गैरन्यादिसाम्राज्येऽभिषिक्तत्वाद् देवदेव सोऽपि ¶ मनुष्यं प्रति  
गजादिवाहनान् प्रत्यवरोहेदिति प्रत्यवरोहणनिषेधो विहितस्तेति-  
रीयके— "तस्माद् वाजपेययाजी न कश्चन प्रत्यवरोहति"—इति †† ;  
न च ॥॥ प्रत्यवरोहणं विहितम् । आपस्तम्बेन तु तन्निषेधः तदु-  
पायश्च दर्शितः— "यावज्जीवं न कश्चन प्रत्यवरोहेत् ब्रह्मसति-  
सवेन वा प्रत्यवरोहणीयेन यजित"—इति । तस्मादुभयत्राशु-

\* तै० सं० ४. ३. ५ ।

† तै० सं० १. ७. ६. ४ ।

‡ २ अ० १ ब्रा० १० क० ।

§ 'अथवा'—इति ऊ, ज ।

॥ तै० सं० १. ७. १०. १० ।

¶ 'क मपि' तै० सं० १. ७. ११ ब्रा० ।

\*\* तै० ब्रा० १. ३. ६. १ ।

†† 'न वा'—इति च ; ब्र-उत्सके तु

एतदादिः कश्चनप्रत्यवरोहेदित्यन्तः पाठ एव नास्ति ।

आहक मिदं ब्राह्मणः मित्याह—“तद् ये ह स्तेति । अक्षरा-  
र्थसु—‘तत्’ तस्माद् ब्रह्मस्यतिनानुष्ठितत्वाद् ‘ये’ ‘पुरा’ पूर्वं  
‘वाजपेयेन यजन्ते’, ते सर्वे अर्धं गच्छन्ति, ‘ततः’ अर्धेदियः  
सकाशान् ‘जानन्त्युतेयेन’ जानन्त्युतेः पुत्रेण ‘पौपाविना’ तन्नाम्ना  
‘एव’ एकेन राजर्षिणा ‘प्रत्यवरुढं’ प्रत्यवरोहः कृतः । भावे  
निष्ठा । “इतश्चानिजः”—इति \* जनन्त्युतेर्दक् प्रत्ययः । ‘ततः’  
आरभ्य इदानीं मनुष्ठातारोऽपि ‘पर्वाचीनम्’ अवाप्नुस्त्वं ‘प्रत्यवरो-  
हन्ति’ इति ॥ ५ ॥

एवं वाजपेये ब्राह्मणस्याधिकारविधिं सूचेतुं ब्रह्मस्यति-  
वृत्तान्तं प्रदर्श्य क्षत्रियस्यापि तं समर्थयितुं मिन्द्रवृत्तान्तं दर्श-  
यति—“तेनेन्द्रोऽयजतेति । निगदव्याख्यमतोऽर्थः । अस्मिन् पर्याये-  
ऽपि ‘तद्ये ह स्म’—इति वाक्यसन्दर्भः पूर्ववद् व्याख्येयः ॥ ६, ७ ॥

इत्थं माह्व्यायिकया वाजपेये ब्राह्मणराजन्यावधिकारिणी  
प्रदर्श्य, इदानीं तं वाजपेयं विधत्ते—“स यो वाजपेयेन यजत  
इत्यादिना ॥ ८ ॥

सर्वजयेन विराडात्मकप्रजापतिजयस्यानुष्ठितत्वात् तस्मात्त-  
न्भूतो वाजपेयो न कर्तव्य इति पूर्वपक्षं सुज्ञावयति—“तदा-  
हुर्मं वाजपेयेनेत्यादि ॥ ९ ॥ “इह न किञ्चनेति । सर्वात्मकप्रजा-  
पतिजयेन ‘इह’ लोके ‘न किञ्चन’ परिशिष्टम्; तस्मात् ‘तस्य’  
यजमानस्य ‘प्रजा’ ‘घापीयसी’ अतिशयेन दारिद्र्यवती ‘भवितीः’

\* पा० सू० १.१.१२२ ।

† ‘उभयतः शुक्लपक्षौ ब्रह्मस्यतिसवेन यजन्ते, ज्योतिष्टोमेन वा’  
—इत्यादि कात्यायनीयसंज्ञोक्त निरोक्तसीयः ( १४.१.२—८ सू० ) ।

‡ ‘अग्निष्टोमो वाजपेयेन’—इति का० श्री० सू० १५.१.१ ।

भवितु मीमंसाः समर्थाः, 'इति' अतो हेतोः वाजपेयो न कर्त्तव्य इति ॥ ८ ॥

तन्निषेध मधिकारिविशेषनिरूपणेन परिहरति— "तदु जै यजेतैवेति । सर्वथा वाजपेययागः कर्त्तव्य इत्यवधारणार्थः । तत्र विदुष एव यदृत्वं विदुषा मेव याजयिष्यत्व मित्युभय निषेध-पादयति— "य एव मिति । 'यः' पुमान् 'एतं' वाजपेयं यज्ञम्, ऋगादिवेदत्रयेण 'कृतं' ऐतिकर्त्तव्यत्वेन विहित इति 'विद्यात्' जानीयात्, 'ये' च 'प्रजज्ञयः' प्रज्ञातवन्तः साङ्गोपाङ्गं कर्म ज्ञात-वन्त ऋत्विजः, 'ते' 'एनम्' अन्वादिष्टं विदांसं यष्टारं 'याज-येयुः' । अतः साधारणैर्वाजपेययागो न कर्त्तव्य इत्यभिप्रायेण "न वाजपेयेन यजेत"—इत्युक्तम् । "एवा ह त्वेवैतस्येति । क्रिया-कुशलाणां ऋत्विजां याजयिष्यत्व मेव यज्ञसमृद्धिः ; अङ्गवैकल्या-भावेन यज्ञसम्पूर्त्तः सम्भवात् ॥ १० ॥

तत्र वाजपेये अधिकारिविधिं तुल्ययति— "स वा एव ब्राह्मणस्येति । यतो बृहस्पतिनामुहितः, यतो देवानां मध्ये बृहस्पतिः ब्राह्मणजात्यभिमानो, ब्राह्मणबृहस्पत्योर्ब्राह्मणसम्बन्धाद् ऐक्यरूपम् ; 'ब्रह्म अधीते वेद वा ब्राह्मणः'—इति व्युत्पत्तेः । इन्द्रे-णाप्यनुहितः, यतो देवानां मध्ये इन्द्रः क्षत्रियजात्यभिमानो । इन्द्र-राजन्ययोः क्षत्रसम्बन्धादैक्यरूपम् ; क्षत्रं नाम बलम्, तत्तद्भावात् समयोः । अतो मनुष्येष्वपि ब्राह्मणराजन्ययोरेवाधिकारो न तु वैश्वस्य \* । अत एव कात्यायनोक्तम्— "वाजपेयः श्ररच्यवै-श्यस्य"—इति † ॥ ११ ॥

\* "स वा एव ब्राह्मणस्य चैव राजन्यस्य च यज्ञः"—इति ते० ब्रा०  
१. ३. २. १ । † का० श्रौ० सू० १४. १. ३ ।



वाजपेयस्य साम्राज्यफलं मिति वक्तुं प्रसज्जात् राजसूयस्याधि-  
कारिभेदेन फलभेदेन वा भवरत्वं दर्शयति— “राज्ञ एव राजसूय  
मित्वादिना \* । एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदार्थः । राजसूयेन  
क्षत्रिय उच्यते, न तु राज्ययोगाद्वाजपेयस्य ब्राह्मणादि-  
र्विवक्ष्यते । “भवरं वा इति । राजसूयाख्यं कर्म ‘भवरं’ निवृ-  
ष्टम् ; कतिपयदेशाधिपतित्वलक्षणराज्यफलमात्रसाधनत्वात् । वाज-  
पेयाख्यं कर्मैव ‘परम्’ उल्लिख्यम् ; सर्वदेशाधिपतित्वरूपसाम्राज्य-  
फलसाधनत्वात् । राज्यात् साम्राज्यस्याधिका माह— “काम-  
येत वै राजिति ॥ १२, १३ ॥

अथ वाजपेयस्य साम्राज्यफलं दर्शयति— “स यो वाजपेय-  
नेति । ‘सः’ सम्राट् वाजपेययाजी ‘इदं’ परिदृश्यमानं ‘सर्वं’  
जगत् ‘संवृत्ते’ संवर्जयति, वशीकरोतीत्यर्थः † । एवं साम्राज्य-  
फलं वाजपेयं विधाय तत्र कर्मादौ सावित्रहोमं विधत्ते— “स  
कर्मणः कर्मण इति । वीक्षया सर्वकर्मादौ कर्त्तव्यत्वं मभि-  
धीयते । येषां कर्मणा मादौ सावित्रहोमः कर्त्तव्यः, तानि  
कर्माणि कात्यायनेन सङ्गृहीतानि— “देव सवितरिति जुहोति  
यजत्यादिषु, सक्तद् दीक्षारम्भे कर्मैकत्वात्, क्रयणवेद्यारम्भण  
प्रवर्ग्यैवादान्निप्रणयनहविर्हानाग्नीषोमाणां सदभ्याग्नीध्रिष्णय-  
निवपनवसतीवरियहणपरिहरणेषु च कर्मान्तरत्वात्”—इति ‡ ।  
तत्र मन्त्रं विधत्ते—“देव सवितरिति § । तस्य मन्त्रस्याय

\* ‘राज्ञो राजसूयः’—इति का० श्रौ० सू० १५.१.१ ।

† मीमांसाया न्यायमालायां ( १ अ० ४ पा० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १४.१.११, १२, १३ ।

§ वा० सू० ६.१.१ ।

मर्थः ;— हे 'सवितः देव' प्रेरक ! अन्तर्यामिन् ! 'यज्ञ' वाज-  
पेयं 'प्रसूय' प्रवर्त्तय, 'यज्ञपति' यजमानं 'भगाय' अनुष्ठान-  
रूपायैश्वर्याय 'दिष्यः' दिवि भवः यो 'गन्धर्वः' सवितुरनुप्रज्ञात्  
'केतपूः' केतान् पुनाति, प्राणिनां विज्ञानानि शोधयन् भवति,  
सः 'नः' अस्माकं 'केतं' वाजपेयविज्ञानं 'पुनातु' शोधयतु ।  
'वाचस्पतिः' प्रजापतिश्च सवित्रानुज्ञातः 'नः' अस्मादीयं 'वाजं'  
हवीरूप ममम् 'अत्र' अस्मिन्नहनि 'स्वदतु' स्वदयतु ॥ १४ ॥

सवितुरुपधावनं ब्रह्मस्यतिसम्बन्धेन स्तौति— "तस्यैवाद-  
इति । 'अदः' अस्मिन् विप्रकृष्टे पूर्वस्मिन् काले यथा 'ब्रह्मस्यतिः'  
सवितारम् 'उपाधावत्', ततः तस्मै सविता चानुज्ञां ददौ, एवम्  
'एषः' इदानीं अनुज्ञातापि त मेव 'उपधावति', तस्मै च 'प्रस-  
विता' प्रेरयिता प्रसीति, अनुजानातीत्यर्थः ॥ १५ ॥

"तस्मादाहेति । सावित्रहोमस्य सकृच्चतुर्दशित्वं दर्शयति—  
"आ श्वः सुत्याया इति । आङ् मर्यादायाम् । 'श्वः सुत्यायाः'  
सुत्यादिनात् पूर्वम्, नोत्तरत्रेत्यर्थः । अत एव कात्यायनः—  
"प्राक् सुत्यायाः"—इति \* ॥ १६ ॥ १ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे प्रथमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

अग्निं गृह्णाति । सर्वत्वायैव तस्माद् अग्निं  
गृह्णात्यथैतान् प्रज्ञातानेवाग्निष्टोमिकान् गृह्णान्  
गृह्णात्याग्रयणात् \* ॥ १ ॥

अथ पृष्ठान् गृह्णाति । तद्यदेवैतैर्देवा उद-  
जयन्तदेवैष एतेरुज्जयति † ॥ २ ॥

अथ षोडशिनं गृह्णाति । तद्यदेवैतेनेन्द्र उद-  
जयन्तदेवैष एतेनोज्जयति ‡ ॥ ३ ॥

अथैतान् पञ्च व्याजपेयगृह्णान् गृह्णाति । ध्रुव-  
सदं त्वा नृषदं मनःसदं मुपयामगृहीतो ऽसौ-  
न्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा  
जुष्टतम मिति सादयत्येषां वै लोकानां मय  
मेव ध्रुव इयं पृथिवी ममेवैतेन लोक मुज्ज-  
यति ॥ ४ ॥

अप्सुषदं त्वा § । घृतसदं व्योमसदं मुपयाम-  
गृहीतो ऽसौन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनि-

\* 'शात'—इति ग, घ ।

†, ‡ 'ति'—इति क ।

§ ग-घ-पुस्तकयोरिह द्वेद्विधौ (१) नास्ति ।

रिन्द्राय त्वा जुष्टतम मिति सादयत्येषां वै  
लोकानां मयु मेव व्योमेदु मन्तरिक्षलोक मेवै-  
तेनोञ्जयति ॥ ५ ॥

पृथिविसदं त्वा । अन्तरिक्षसदं \* दिविसदं देवसदं  
नाकसदं मुपयामगृहीतो ऽसौन्द्राय त्वा जुष्टं  
गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतम मिति  
सादयत्येष वै देवसन्नाकसदेष एव देवल्लोको देव-  
लोक मेवैतेनोञ्जयति ॥ ६ ॥

अपां रसमुदयसं । सूर्ये सन्तं समाहितम् ।  
अपां † रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णाम्युत्तमं मुप-  
यामगृहीतो ऽसौन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते  
योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टतम मिति सादयत्येष वा  
अपां रसो यो ऽयं पवते स एष सूर्ये समाहितः  
सूर्यात् पवत ऽएत मेवैतेन रसमुञ्जयति ॥ ७ ॥

ग्रहा जर्जाहुतयः । व्यन्तो विप्राय मतिम् । तेषां ‡  
विशिप्रियाणां व्योह मिष मूर्जं समग्रं मुपयाम-

\* 'त्वान्तरिक्षसदं'—इति ग, घ ।

† 'समाहित मपां'—इति ग, घ ।

‡ 'मतिं तेषां'—इति ग, घ ।

गृह्यतोऽसौन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष \* ते योनि-  
रिन्द्राय त्वा जुष्टतम मिति सादयत्यृग्वै रसो रस  
मेवैतेनोञ्जयति ॥ ८ ॥

तान्वा ऽएतान् † । पञ्च व्वाजपेयग्रहान् गृ-  
ह्णाति प्रजापतिं वा ऽएष उञ्जयति यो व्वाज-  
पेयेन यजते संवत्सरो वै प्रजापतिः पञ्च वा  
ऽऋतवः संवत्सरस्य तत् प्रजापति मुञ्जयति तस्मात्  
पञ्च व्वाजपेयग्रहान् गृह्णाति ‡ ॥ ९ ॥

अथ सप्तदश सामग्रहान् गृह्णाति । सप्त-  
दश सुराग्रहान् प्रजापतेर्वा ऽएते ऽअम्बसौ यत्  
सोमस्य सुरा च ततः सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमो  
ऽनृतं पाप्मा तमः सुरैते ऽएवैतदुभे ऽअम्बसौ  
ऽउञ्जयति सर्व्वं वा ऽएष इदं मुञ्जयति यो व्वाज-  
पेयेन यजते प्रजापतिं च उञ्जयति सर्व्वं मुञ्चेवेदं  
प्रजापतिः ॥ १० ॥

स यत् सप्तदश । सोमग्रहान् गृह्णाति सप्त-  
दशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावा-

\* जुष्टं मेघ'—इति ग, घ ।

† 'तान्'—इति ग, घ ।

‡ 'ति'—इति क ।

नेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मैतत् सत्यं  
श्रियं ज्योतिरुज्जयति \* ॥ ११ ॥

अथ यत् सप्तदश । सुराग्रहान् गृह्णाति  
सप्तदशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञः स यावा-  
नेव यज्ञो यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मैतदनृतं  
पाप्मानं तम उज्जयति ॥ १२ ॥

त उभये चतुस्त्रिंशद् ग्रहाः सम्पद्यन्ते ।  
तयस्त्रिंशद् देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंश स्तु  
प्रजापति मुज्जयति ॥ १३ ॥

अथ यत्र राजानं क्रीणाति । नृदक्षिणतः  
प्रतिवेशतः केशवात् पुरुषात्स्वीसेन पतिस्त्रुतं क्री-  
णाति न वा ऽपष स्त्री न पुमान् यत् केशवः  
पुरुषो यदाह पुमांस्तेन न स्त्री यद केशवस्तेनो †  
न पुमानैतदयो न हिरण्यं यत् सीसं ‡ नैष सोमो  
न सुरा यत्परिस्त्रुत् तस्मात् केशवात् पुरुषात्स्वीसेन  
परिस्त्रुतं क्रीणाति ॥ १४ ॥

अथ पूर्व्वेद्युः । द्वौ खुरौ कुर्व्वन्ति पुरोऽन्न

\* 'ति'—इति क ।

† 'स्तेन'—इति ग, घ ।

‡ 'सीसं'—इति ग, घ ।

मेवान्यं पश्चादक्ष मन्यं नेत्सोमग्रहांश्च सुराग्रहांश्च  
सह सादयामेति तस्मात् पूर्वद्युर्वै खरौ कुर्वन्ति  
पुरोऽक्ष मेवान्यं पश्चादक्ष मन्यम् \* ॥ १५ ॥

अथ यत्र पूर्वया दारा । व्वसतीवरौः प्रपाद-  
यन्ति तदपरया दारा नेष्टा परिक्षुतं प्रपादयति  
दक्षिणतः पात्राण्यभ्यवहरन्ति पुरो ऽक्षमेव प्रत्य-  
ङ्गासीनो † ऽध्वर्युः सोमग्रहान् गृह्णाति पश्चादक्षं  
प्राङ्गासीनो ‡ नेष्टा सुराग्रहान्त्सोमग्रह मेवा-  
ध्वर्युर्गृह्णाति सुराग्रहं नेष्टा सोमग्रह मेवाध्वर्युर्गृ-  
ह्णाति सुरा नेष्टैव मेवैनान् व्यत्यासं गृह्णीतः ॥ १६ ॥

न प्रत्यञ्च मक्ष मध्वर्युः । सोमग्रह मतिहरति  
न प्राञ्च मक्ष नेष्टा सुराग्रहं नेज्योतिश्च तमश्च  
संस्तुजावेति § ॥ १७ ॥

उपर्युपर्येवाक्ष मध्वर्युः । सोमग्रहं धारयत्यधो-  
ऽधोऽक्ष नेष्टा सुराग्रहं सम्पुचौ स्थः सं मा  
भद्रेण पृङ्ग मिति नेत्याप मिति ब्रुवावेति तौ  
पुनर्विहरतो विपृचौ स्थौ वि मा पाप्मना पृङ्ग

\* 'मन्यम्'—इति क, ख । † 'प्रत्यङ्गासीनो'—इति ग, घ ।

‡ 'प्राङ्गासीनो'—इति ग, घ । § 'संस्तुजावेति'—इति ख ।

मिति तद्यथेषीकां मुञ्जादिवृहेदेव मेनः सर्वस्मा-  
त्पाप्मनो विवृहत्स्तस्मिन् तावच्च नैनो भवति याव-  
त्तृणस्याग्रं तौ सादयतः \* ॥ १८ ॥

अथाध्वर्युः । हिरण्यपाचेण मधुग्रहं गृह्णाति  
तं मध्ये सोमग्रहाणां सादयत्यथोक्थ्यं गृह्णा-  
त्यथ ध्रुव मथैतान्त्वोमग्रहानुत्तमे स्तोत्रं ऽऋत्वि-  
जां चमसेषु व्यवनीय जुह्वति तान् भक्षयत्यथ  
माध्यन्दिने सुवने मधुग्रहस्य च सुराम्रहाणां  
चोदयते तस्यातः ॥ १९ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [१.२.] ॥

एवं विहिते वाजपेये ग्रहविशेषा द्वितीयब्राह्मणेऽभिधीयन्ते,  
प्राकृतास्वतिदिश्यन्ते । तत्र तावदंशग्रहं विधत्ते — “अंशुं  
गृह्णातीति । ‘अंशु’ सोमग्रहं सोमद्रव्येण गृह्णीयात् ।  
‘सर्वत्वाय’ स्वविरहप्रयुक्तन्यूनतादोषपरिहारेण यज्ञस्य समूहेऽ  
इत्यर्थः । अंश्वदाभ्योरप्राकृतत्वेन चोदकादप्राप्तयोरिव विधानं  
युक्तम् । अत एवापस्तम्बः — “भ्रातृव्यवतादाभ्यो ग्रहीतव्यौ  
बुभूषतांशुस्तौ न सर्वत्र ग्रहीतव्यौ वाजपेये राजसूये सते सर्ववेदसे”  
— इति १ । अथ प्रकृतिगतानुपांश्वन्तर्यामादीनतिदिशति —

\* ‘सादयतः’ — इति ग, घ ।

† व्याप० श्रौ० सू० १२. द. १२, १३ ।



“अथैतानिति । ‘प्रज्ञातान्’ प्रसिद्धान् ‘अग्निष्टोमिकान्’ अग्नि-  
ष्टोमे विहितान् ‘ग्रहान्’ ‘आ आग्रयणात्’ आग्रयनपर्यन्तान् गृह्णी-  
यात् । उपांश्वन्तर्यामो, ऐन्द्रवायव मैत्रावरुणाश्विनान्, शुक्रा-  
मन्यिनौ, आग्रयणञ्च गृह्णीयादित्यर्थः ॥ १ ॥

अथातिग्राह्यान् विधत्ते — “अथ पृष्ठानिति । ‘पृष्ठान्’  
अतिग्राह्यान् । ते हि पृष्ठस्तोत्रसम्बन्धात् \* पृष्ठया इत्यर्थः ।  
पृष्ठाषडहे प्रतिदिवस मेकैकस्य, विश्वजिति सर्वपृष्ठे चैकाहे  
ग्रहणात् एतेषां पृष्ठसञ्ज्ञा । तथाच चतुर्थकाण्डे समान्नातम्  
— “अग्नौन्द्रसूर्या अतिग्राह्यान् ददृशुः” — इत्यारभ्य, “तान् वै  
पृष्ठे षडहे गृह्णीयात्, पूर्वं त्रयह आग्नेय मेव प्रथमेऽहवैन्द्रं  
द्वितीये सौर्यं तृतीय एव मेवान्वहम्” — इति, तथा “विश्व-  
जिति सर्वपृष्ठ एकाह एव गृह्णन्ते” — इति च † । तेषां प्रकृति-  
गता त्वित्सङ्घेन शाखान्तरवत्; सङ्ख्यानानुपदेशात् । अत्र  
‘काव्यायन’ — “प्रातस्सवनेऽतिग्राह्यान् गृहीत्वा षोडशिनम्” —  
इति ‡ ॥ २, ३ ॥

ग्रहान्तराणि विधत्ते — “अथैतान् पञ्चेति । सूचितं हि —  
“पञ्च चैन्द्रान्, ध्रुवसद मिति प्रतिमन्द्रम्” — इति § । अथैतान् तेषां  
पञ्चानां ग्रहाणां मपि पञ्च मन्वान् विधत्ते — “ध्रुवसदं त्वेत्यादिना ।  
तत्र, प्रथमग्रहमन्वत्याय मर्थः ॥ ; — ‘ध्रुवसदं’ ध्रुवे स्थिरे

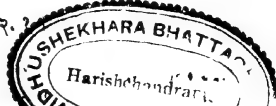
\* ‘पृष्ठाषडहसम्बन्धात्’ — इति च ।

† पुरस्तात् ( ४. ४. ५. २ — १३. ) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. १. २८ क ।

§ का० श्रौ० सू० १४. १. २८ ख. २. १ ।

॥ वा० मं० ६. २. १ ॥



भूलोके सीदन्तम्, 'नृषदं' नृषु नेहषु सीदन्तम्, 'मनसादं' मनसि वर्त्तमानं 'त्वा' त्वां ग्रहम् 'इन्द्राय' 'जुष्टम्' अभिरुचितं 'गृह्णामि' त्वाम् । 'उपयामगृहीतोऽसि' पृथिव्यात्मकेन पात्रेण गृहीतोऽसि ; "इयं वा उपयामः"—इति श्रुतेः \* । अत्र भिन्नक्रमः, यत उपयामगृहीतोऽसि अतस्त्वां गृह्णामीति । 'ते' तव एष खरप्रदेशो 'योनिः' स्थानम्, तस्मात् 'इन्द्राय' 'जुष्टतमम्' अतिप्रियतमं त्वा मिह सादयामीति । "एष ते योनिः"—इति मन्त्रान्धभागस्य विनियोग माह—"सादयतीति । मन्त्रगर्भं ध्रुवपदं व्याचष्टे— "एषां वा इति । 'एषां लोकानां' भूम्यादीनाम् 'अयं' परिट्टश्यमानो लोको 'ध्रुवः' इदंशब्दस्यार्थ माह— "इयं वै पृथिवीति ॥ ४ ॥

"अप्सुषद मिति । द्वितीयग्रहमन्त्रस्थाय मर्थः † ;— अप्सु सीदन्तीत्यप्सवत् तम्, पृते सीदन्तम्, 'व्योम्नि' अन्तरिक्षे सीदन्तम् । उपयामगृहीतोऽसीत्यादि पूर्वेण समानार्थ इति नेह विव्रियते । व्योमसदितिपदस्य तात्पर्य माह— "इद मेव व्योमेति । विशेषेण ओम् अवनं व्यामिर्यस्य तद् व्योम । तदेव 'अन्तरिक्षम्' तदेतद्वितीयग्रहणेन ‡ जितवान् भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

"पृथिविसद मिति । तृतीयमन्त्रस्थाय मर्थः § ;— पृथिव्यादिषु त्रिषु लोकेषु सीदन्त मत एव सदम् । लोकत्रयाभिमानिषु अग्निवायुसूर्येषु, अन्येष्विन्द्रादिषु च आसीदन्तम् । 'नाकसदम्' न विद्यते अकं दुःखं यस्मिन्निति नाकः स्वर्गो देवलोकोः । अत एव स्वर्गपदस्य सुखवाचकत्वं मन्यन्तीति—

\* श० ब्रा० ४. १. २. ७ ।

† वा० सं० ६. २. २ ।

‡ तद्विपरीतग्रहणे—इति च, छ । § वा० सं० ६. २. ३ ।

“यन्न दुःखेन सन्धित्रं न च ग्रस्तं मनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्यदम्”—इति ।

तत्र नाकसत्पदं व्याचष्टे— “एष एव देवलोक इति ॥ ६ ॥

“अपां रस मिति । चतुर्थग्रहमन्त्रस्याय मर्थः \*,—  
‘अपां’ ‘रसं’ सारभूतम् ; उदकस्यैव सोमरसत्वेन परिणत-  
त्वात् । ‘उदयसम्’ उद्गच्छन्तम् । ‘वी गति-प्रजनन-कान्धश-  
खादनेषु †” —इत्यस्मादसुनि रूपम् । यदा, वय इष्यन्नाम ‡ ,  
उद्गत मन्त्रं जीवनं वा यस्मिन् । सोमरसोऽन्नभूतो जीवनहेतुश्च ;  
“अपाम सोम ममृता अभूम §” —इत्युक्तत्वात् । ‘सूर्ये’ ‘सन्तं’  
विद्यमानं ‘समाहितं’ तत्रैव सम्यगाहितम् ; रसस्योदकादि-  
रूपस्य आदित्ये एवावस्थानात् । ‘अपां’ ‘रसस्य’ सारभूतस्य  
वल्लीरूपेण परिणतस्य सोमस्य ‘यो रसः’ दशापवित्रात्पञ्चमानः,  
तम् । आपः ! ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिनम् ‘उत्तमम्’ उत्कृष्टं  
स्वरसं ‘गृह्णाति’ ॥ । “उपयामेत्यादि । व्याख्यातम् । मन्त्रं  
व्याचष्टे— “एष वा अपा मिति । ‘योऽयं’ पवते’ दशापवित्रात्  
स्त्ववति, ‘सः’ अपां रसः । “एषः सूर्य इति । ‘एषः’ खलु  
सोमरसः उदकात्मना पूर्वं ‘सूर्ये’ ‘समाहितः’ सम्यगवस्थितः ,  
इदानीं ‘सूर्यात्’ सूर्यात्मकाद् दशापवित्रात् ‘पवते’ स्त्ववति ॥ ७ ॥

“ग्रहा जर्जाहुतय इति । पञ्चमग्रहमन्त्रस्याय मर्थः ¶ ;—  
हे ग्रहाः ! गृह्णान्त इति ‘ग्रहाः’ सोमाः । ‘जर्जाहुतयः’  
जर्जं मन्त्रं सवनीयं पुरोडाशं मभिलक्ष्य ह्रियमानाः ; यदा ,

\* वा० सं० ६. ३. १ ।

† निष० २. ७. ७ ।

॥ ‘गृह्णामि’—इति ङ, क ।

† अथा० प० ३८ घा० ।

§ ऋ० सं० ८. ४८. ३ ।

¶ वा० सं० ६. ४. १ ।

अन्नाहुतिभूता यूयम् । 'विप्राय' मेधायिने, स्वापेक्षितफलपरि-  
 पूरकाय वा यजमानाय । 'मतिं' विवक्षितां बुद्धिं 'व्यक्तः'  
 पश्यन्तोऽनुजानन्तो भवतेति शेषः । 'विशिप्रियाणां' "शिप्रे  
 हनू नासिके वा"—इति \* यास्कवचनम् ; इह हि हनू गृह्येते,  
 तत्र भवं कर्म शिप्रियम्, विगतं शिप्रियं येषां ते । अत्र  
 हनुव्यापाराभावात् शोभनाभिषवसंस्कृता इत्यर्थः । यद्वा, विवि-  
 धानि शिप्रियाणि हनुस्थानीयानि पात्राणि, तत्पर्यन्तं, तेषां  
 'वः' युष्माकं सम्बन्धिनम् 'इषम्' अन्नम् 'उर्जम्' बलप्रदं सोम-  
 रसं 'समग्रभम्' "हृग्रहोर्भः †" समग्रहम्, सङ्गृह्णामि । शिष्टं  
 पूर्ववत् । उक्-शब्दसूचितं मर्थं माह—"उर्ग्वै रस इति ॥ ८ ॥

ग्रहगतां पञ्चसङ्ख्यां प्रशंसति— "तान् वा एतानिति । वाज-  
 पेययामस्य स्वरूपावाप्तिसाधनत्वात् प्रजापतेश्च संवत्सरात्मतया  
 पञ्चर्त्तरूपत्वात् ग्रहाणां पञ्च सङ्ख्या युक्त्यर्थः ‡ ॥ ९ ॥

ग्रहान्तराणि सद्रव्याणि विधत्ते— "अथ सप्तदशेति § ।  
 गृह्यन्त इति ग्रहाः सोमाः, सोमाश्च ते ग्रहाश्चेति विग्रहः,  
 सोमस्य वा ग्रहाः । उभयेषां ग्रहाणां द्रव्यद्वयं मनूय प्रशंसति—  
 "प्रजापतेर्वा इति । 'अन्धसी' अन्ने इत्यर्थः । 'सत्यं श्रीः ज्योतिः  
 सोमः' सत्य-श्री-ज्योतिरात्मकत्वं सोमस्य ; इतरस्यासु 'अनृतं  
 पाप्मा तमः' अनृतपापतमोरूपत्वम् । पाप्मेति दारिद्र्यम् ॥ १० ॥

उक्तग्रहसङ्ख्यां प्रजापत्यात्मकत्वेन स्तौति— "स यत् सप्त-

\* निरु० ६. ४. १ ।

† पा० ८. २. ६२ सू० वा० १ ।

‡ 'अतिग्राह्यवह्नोमः'—इति का० श्री० सू० १४. २. १ । 'पञ्चानां

मेन्द्राणाम्"—इति तत्र वृत्तिः ।

§ 'सप्तदशापरान्'—इति का० श्री० सू० १४. २. ३ । 'सोमग्रहान्' ।

“यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च यस्त मनन्तरम् ।

अभिलाषोपनीतं च सुखं स्वर्गपदास्यदम्”—इति ।

तत्र नाकसत्पदं व्याचष्टे— “एष एव देवलोक इति ॥ ६ ॥

“अपां रस मिति । चतुर्थग्रहमन्त्रस्थाय मर्थः \* ,—  
‘अपां’ ‘रसं’ सारभूतम् ; उदकस्यैव सोमरसत्वेन परिणत-  
त्वात् । ‘उदयसम्’ उद्गच्छन्तम् । “वी गति-प्रजनन-कान्धशन-  
खादनेषु † ”—इत्यादिसुनि रूपम् । यहा, वय इष्यन्ननाम ‡ ,  
उद्गत मन्त्रं जीवनं वा यस्मिन् । सोमरसोऽत्रभूतो जीवनहेतुश्च ;  
“अपाम सोम ममृता अभूम § ”—इत्युक्तत्वात् । ‘सूर्ये’ ‘सन्तं’  
विव्यमानं ‘समाहितं’ तत्रैव सम्यगाहितम् ; रसस्योदकादि-  
रूपस्य आदित्ये एवावस्थानात् । ‘अपां’ ‘रसस्य’ सारभूतस्य  
वक्त्ररूपेण परिणतस्य सोमस्य ‘यो रसः’ दशापवित्रात्पवमानः,  
तम् । आपः ! ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिनम् ‘उत्तमम्’ उत्कृष्टं  
स्वरसं ‘गृह्णाति’ ॥ । “उपयामेत्यादि । व्याख्यातम् । मन्त्रं  
व्याचष्टे— “एष वा अपा मिति । ‘योऽयं पवते’ दशापवित्रात्  
स्त्रवति, ‘सः’ अपां रसः । “एषः सूर्य इति । ‘एषः’ खलु  
सोमरसः उदकात्मना पूर्वं ‘सूर्ये’ ‘समाहितः’ सम्यगवस्थितः ,  
इदानीं ‘सूर्यात्’ सूर्यात्मकाद् दशापवित्रात् ‘पवते’ स्त्रवति ॥ ७ ॥

“ग्रहा जर्जाहुतय इति । पञ्चमग्रहमन्त्रस्थाय मर्थः ¶ ;—  
हे ग्रहाः ! गृह्णन्त इति ‘ग्रहाः’ सोमाः । ‘जर्जाहुतयः’  
जर्जं मन्त्रं सवनीयं पुरोडाशं मभिलक्ष्य ह्रयमानाः ; यहा ,

\* वा० सं० ६. ३. १ ।

† अदा० प० ३८ घा० ।

‡ निष० २. ७. ७ ।

§ ऋ० सं० ८. ४८. ३ ।

॥ ‘गृह्णाति’—इति ङ, क् ।

¶ वा० सं० ६. ४. १ ।

अनाहुतिभूता यूयम् । 'विप्राय' मेधाविने , स्वापेक्षितफलपरि-  
 पूरकाय वा यजमानाय । 'मति' विवक्षितां बुद्धिं 'व्यन्तः'  
 पश्यन्तोऽनुजानन्तो भवतेति शेषः ! 'विशिप्रियाणां' "शिप्रे  
 हनू नासिके वा"—इति \* यास्कवचनम् ; इह हि हनू गृह्यते,  
 तत्र भवं कर्म शिप्रियम् , विगतं शिप्रियं येषां ते । अत्र  
 हनुव्यापाराभावात् शोभनाभिषवसंस्कृता इत्यर्थः । यद्वा, विवि-  
 धानि शिप्रियाणि हनुस्थानीयानि पात्राणि , तत्पर्यन्तं , तेषां  
 'वः' युष्माकं सम्बन्धिनम् 'इषम्' अन्नम् 'जर्जम्' बलप्रदं सोम-  
 रसं 'समग्रभम्' "हृग्रहोर्भः † " समग्रहम् , सङ्गृह्णामि । शिष्टं  
 पूर्ववत् । जक्-शब्दसूचितं मर्थं माह—"जर्ग् वै रस इति ॥ ८ ॥

ग्रहगतां पञ्चसङ्ख्यां प्रशंसति— "तान् वा एतानिति । वाज-  
 पेययामस्य स्वरूपावाप्तिसाधनत्वात् प्रजापतेश्च संवत्सरात्मनया  
 पञ्चर्त्तरूपत्वात् ग्रहाणां पञ्च सङ्ख्या युक्त्यर्थः ‡ ॥ ९ ॥

ग्रहान्तराणि सद्रव्याणि विधत्ते— "अथ सप्तदशेति § ।  
 गृह्यन्त इति ग्रहाः सोमाः , सोमाश्च ते ग्रहाश्चेति विग्रहः ,  
 सोमस्य वा ग्रहाः । उभयेषां ग्रहाणां द्रव्यद्वयं मनूय प्रशंसति—  
 "प्रजापतेर्वा इति । 'अन्वसी' अन्ने इत्यर्थः । 'सत्यं श्रीः ज्योतिः  
 सोमः' सत्य-श्री-ज्योतिरात्मकत्वं सोमस्य ; इतरस्यासु 'अनृतं  
 पाप्मा तमः' अनृतपापतमोरूपत्वम् । पाप्मेति दारिद्र्यम् ॥ १० ॥

उक्तग्रहसङ्ख्यां प्रजापत्यात्मकत्वेन स्तौति— "स यत् सप्त-

\* निरु० ६. ४. १ ।

† पा० ८. २. ६२ सू० वा० १ ।

‡ 'अतिग्राह्यवह्नोमः'—इति का० श्री० सू० १४. २. १ । 'पञ्चाना  
 मेन्द्राणाम्'—इति तत्र वृत्तिः ।

§ 'सप्तदशापरान्'—इति का० श्री० सू० १४. २. ३ । 'सोमग्रहान्' ।

दशेति । प्रजापतेः सप्तदशत्वम् “आश्रावय”-इत्यादि-सप्तदशा-  
क्षरमन्त्रात्मकत्वादित्यवगन्तव्यम् \* । स एव यज्ञः ; आश्रावये-  
त्यादिमन्त्राभावे यज्ञस्यासिद्धेः । श्रूयते च “प्रजापतिर्वै यज्ञः”  
-इति † । अतः ‘स यज्ञः’ ‘यावान्’ यत्परिमाणः, कियत्सङ्ख्या-  
कावयव इत्यर्थः । ‘यावती’ ‘मात्रा’ परिमितिः, ‘तावतैव’  
सप्तदशसोमग्रहवता यज्ञेन ‘अस्यै’ अस्य यज्ञात्मकस्य प्रजापतेः  
सत्यादिकं यथा अर्जितवान् भवतीति ॥ ११ ॥

“अथ यत् सप्तदशेति । यथा सोमग्रहवाक्यं योजितम्,  
एव मेव सुराग्रहवाक्यं योज्यम् ; एतावांसु विशेषः— तत्र सत्यादे-  
रुज्जयप्राप्तिः, अत्रानृतादेर्निरासाज्जय इति ‡ ॥ १२ ॥

द्विविधग्रहाणां मङ्गलां मिलित्वा स्तौति— “त उभये चतु-  
स्त्रिंशदिति । अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्र-  
वषट्काराविहि ‘त्रयस्त्रिंशद्’ देवताः, ‘प्रजापतिः’ तु ‘चतु-  
स्त्रिंशः’ इति ॥ १३ ॥

प्राकृतं सोमक्रयणविधिं मनूय परिसुरक्रयणं विधत्ते—  
“अथ यत्नेति । ‘यत्र’ प्रदेशे ‘राजानं’ सोमलता मित्यर्थः,  
क्रीणीयात्, तस्य दक्षिणे प्रतिवेशे स्थाने ‘केशवात्’ केशा  
अस्य सन्तीति स तथोक्तः । “केशाद् वोऽन्यतरस्याम्”—इति §

\* स एष मन्त्रः— “आश्रावयेति चतुरक्षरं मन्तुश्चौषडिति चतुर-  
क्षरं यजेति द्वाक्षरं ये यजामह इति पञ्चाक्षरं द्वाक्षरो वषट्कार एष  
वै सप्तदशः प्रजापतिः”—इति तै० सं० १. ६. ११. २ ।

† पुरस्तात् ( प्र० ब्रा० १. १. १. १३. ) द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘नेष्टा च तावतः सौरान्’—इति का० श्रौ० सू० १४. २. ४ ।

§ पा० सू० ५. २. १०६ ।

व-प्रत्ययः । तस्मात् 'पुरुषात्' सीसद्रव्येण 'परिस्रुतं' क्रीणी-  
यात् । लोके हि सुरा तत्साधनभूतैः \* परिपक्वद्रव्यैः क्रियते,  
अत्र तु सुरासाधनाय † पर्याप्तपरिपाकैः शब्दैर्निष्पन्नो रसः  
परिस्रुदित्युच्यते । कात्यायनेन तस्यास्तत्साधनद्रव्याणां वा क्रयणं  
विकल्पेनोक्तम्— “सोमात् क्रीयमाणात् सहितं दक्षिणतः सीसेन  
परिस्रुतः क्रयणं केशवात्तदद्रव्याणां वा”—इति ‡ । तैत्तिरीये तु  
द्रव्यक्रय एवोक्तः— “सीसेन क्लीवाच्छष्पाणि क्रीणाति”—इति § ॥

“न वा एष स्त्री”—इत्यादिकस्याय मर्थः ;— सीस-केशव-  
परिस्रुताम् ॥ अक्षरालवर्तित्वं साम्यम् । ‘यत्’ यतः , परि-  
स्रुत-क्रेता ‘पुमान्’ पुंलक्षणवान् , श्मश्रुयुक्त इत्यर्थः , ‘तेन’ कार-  
णेन ‘स्त्री न’ भवति ; यस्मात् ‘केशवः’ केशयुक्तः , ‘तेन’  
केशबाहुल्यवत्त्वेन ‘पुमान्’ च ‘न’ भवति ; केशबाहुल्यं तु स्त्री-  
लक्षणम् ; अतः केशवक्लीवः ¶ स्त्रिया अधिकः , पुरुषात् न्यूनः ;  
सीस मध्यमसोऽधिकं, हिरण्यात् न्यूनम् । परिस्रुच्च सा दृशा \*\*

\* ‘लोके हि सुरां तत्साधनद्रव्यैः’—इति छ , क ।

† ‘सुरासाधनो यः’—इति च ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. १. १४ , १५ ।

§ ते० ब्रा० १. द. ५. ३ । “न वा एतद्व्यो यत् सीसम् , न  
स्त्री न पुमान् यत् क्लीवः , न सोमो न सुरा यत् सौत्रामणीसन्दङ्गौ”  
—इति च तत्र तदुत्तरम् ।

॥ ‘परिस्रुताम्’—इति च ।

¶ ‘क्लीवपुरुषः’—इति छ ।

\*\* ‘परिस्रुचसाद्रमा’—इति क , क , ‘परिस्रुचसाद्रा’—इति च ;  
अ-पुस्तके तु नास्त्येव ।



सुरा न भवतीति ततोऽधिका, सोमवत्पूतत्वाभावात् ततो न्यूना ।  
तस्माद् यथोक्त मेव कर्त्तव्यमिति स्थितम् ॥ १४ ॥

अथ द्वितीय मेव \* ग्रहाणां ग्रहासादनं माभूदिति प्रदेश-  
विशेषं विधत्ते— “अथ पूर्वद्युर्हौ खराविति । ‘पुरीऽक्षम्’  
शकटस्याधस्तात् अक्षस्य पुरोभागे एकम्, ‘पश्चादक्षम्’ अक्षस्य  
पश्चाद्भागेऽपरम्, इति ‘हौ खरी’ ‘पूर्वद्युः’ पूर्वदिक्से कुर्युः † ।  
तत्र कारणमाह— “नेत् सोमग्रहानिति । “नेत् सादया-  
मेति । सह सादनं मयुक्तमित्यभिप्रायेण पृथक्-सादनायं खर-  
हयं कर्त्तव्यमित्यर्थः । ‘नेत्’-इति परिभये ‡ ॥ १५ ॥

वसतीवरीणां हविर्ज्ञानप्रपादनं मनूय परिसुत्रप्रपादने  
कश्चिद् विशेषं विधत्ते— “अथ यत्नेति । ‘अपरया’ पश्चि-  
मया ‘हारा’ ‘नेष्टा’ नाम ऋत्विक्, अत्वर्युवगे तृतीयः §  
‘प्रपादयति’ ‘प्रवेशयेदित्यर्थः । “दक्षिणत इति । हविर्ज्ञानस्य  
दक्षिणतो हारं कृत्वा तेन सोमग्रहपात्राणि सुराग्रहपात्राणि  
च प्रवेशयतीत्यर्थः ॥ सूत्रितं हि— “दक्षिणतः सन्धिं करोति,  
यूपवेष्टनं सप्तदशभिर्वस्त्रैर्युदुग्रन्यनं वा परिव्ययणकाले, ०—०  
सन्धिना पात्राण्याहृत्य”-इति ¶ ॥

\* ‘कर्त्तव्यमेव’-इति च ।

† का० श्रौ० १४.१.१८ सू० द्रष्टव्यम् ।

‡ “अथापि नेत्रेष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये”-इति निरु० १.३.६ ।

§ तथाचाश्वलायनः— “चत्वारस्त्रिपुरुषाः तस्योत्तरे त्रयः ;—  
होता ०—० अश्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता”-इति ४.१.६ ।

॥ ‘प्रवेशयन्तीत्यर्थः’-इति च, क ।

¶ का० श्रौ० सू० १४.१.१६—२७ ।

वर्गद्वयग्रहणे ऋत्विजोर्नियमं दर्शयति— “पुरोऽक्ष मित्या-  
दिना । विभागेन धारणाय व्यत्यासं विधत्ते— “सोमग्रह मेवा-  
ध्वर्युरिति । ‘व्यत्यासम्’ व्यत्यस्य-व्यत्यस्येत्यर्थः । अध्वर्युणा प्रथमे  
सोमग्रहे गृहीते सति, नेष्टा प्रथमं सुराग्रहं गृह्णीयात् \* ;  
ततो द्वितीये द्वितीय मिति सोऽयं व्यत्यासः † ॥ १६ ॥

ग्रहाणा मन्यप्रदेशप्रापणं निषेधति— “न प्रत्यञ्च मच्च मिति ।  
‘प्रत्यञ्च मच्चम्’ अक्षस्य पश्चाद् भागं ‘प्रति’ ‘सोमग्रहम्’ ‘अध्वर्युः’  
‘न अतिहरति’ नातिहरेत्, नातिक्रामयेत् । एवं ‘नेष्टा’  
अपि ‘सुराग्रहं’, ‘प्राञ्च मच्चम्’ शकटाक्षस्य पुरोदेशं नाति-  
हरेत् । उभयत्र कारणमाह— “नेज्ज्योतिरिति । यदि ग्रहाणा  
मन्योन्यप्रदेशातिक्रमणं स्यात्, तर्हि तेजस्तिमिरयोः संसर्गः  
स्यात्, स मा भूदिति व्यतिहरणनिषेधः । सोमस्य ज्योती-  
रूपत्वं सुरायास्तु तमोरूपत्वं च प्रागावेदितम् ‡ ॥ १७ ॥

उभयग्रहधारणे कञ्चिद् विशेषं विधत्ते— “उपर्युपर्येवाक्ष  
मध्वर्युरिति । अक्षस्य सन्निकृष्टोपरिभाग एव सोमग्रहस्य,  
सन्निकृष्टाधःप्रदेश एव सुराग्रहस्य § । “उपर्यधसः सामीप्ये”—  
इति द्विवचनम् ॥ धारणमन्त्रं विधत्ते— “सम्पृचौ स्थ इति ¶ ।  
तस्यार्थः ;— वर्गद्वयमध्ये एकैकस्योक्तप्रदेशे धारणात् उभयो-

\* का० श्रौ० १४. २. ४ सू० द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १४. २. ५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. २. ६ ।

§ ‘सुराग्रहं’—इति च, छ । मूलस्य प्रतीकग्रहणं मिदं स्यात् ।

॥ पा० सू० द. १. ७ ।

¶ वा० सं० ६. ४. २ ।

द्वित्वेन मन्त्रे 'सम्पृचौ'—इति, 'पृङ्क्'—इति च द्विवचनं सुक्तम् ।  
 हे सोमसुराग्रही ? 'सम्पृचौ' संस्पृष्टौ 'स्थः' । यतो युवां  
 सम्पृक्तावभवत्, अतो 'मा' माम् अपि 'भद्रेण' प्रजापतिना  
 "प्रजा वै भद्रम्, पशवो भद्रम्"—इति \* श्रुतेः । 'पृङ्क्' संयो-  
 जयत मिति । कात्यायनस्तु शाखान्तरानुसारेण धारणाहरण-  
 मन्त्रयोः प्रतीकं बहुवचनत्वेनोदाजहार— "अद्यानतिक्रमणं  
 ग्रहाणाम्, उपर्युपर्यक्ष मध्युर्ध्वरयत्यधो धो नेष्टा सम्पृचाविति,  
 विपृचावित्याहरते"—इति † ।

प्रयोजनकथनमुखेन मन्त्रस्य तात्पर्यं माह,— "नेत् पाप  
 मिति ब्रवावेति । यद्युभयोर्ग्रहयोर्धारणसमये सम्पर्कवाचक-  
 मन्त्रे 'भद्रेण पृङ्क् मिति' यत् प्रार्थनम्, तत् शुराग्रहं ‡  
 पापं मित्येवं नैव ब्रवावेत्यभिप्रायेणेत्यर्थः ।

अत्रप्रदेशात् तयोः स्वस्वप्रदेशेष्ववस्थापनं समन्त्रकं विधत्ते—  
 "तौ पुनर्विहरत इति § । हे ग्रही ! 'विपृचौ' विपुक्ती 'स्थः' ।  
 यत एवम्, अतो ममापि प्रार्थनां वियोजत मिति ।

मन्त्रस्योत्तरभागं व्याचष्टे— "तद्यथेष्टीका मिति । यथा  
 'सुञ्जात्' सुञ्जटणात् 'इष्टीकाम्' मध्यवर्तिं त्वणं 'विहृहेत्'  
 पृथक् कुर्यात्, 'एवम्' 'एनं' यजमानं 'सर्वस्मात्' 'पाप्मनः'  
 पापात् 'विहृतः' हो ग्रही वाध्वर्युः ( ? ) । एतदेवाह— "तस्मिन्

\* "सम्मा भद्रेण पृङ्क्तीत्याह, अन्नं वै भद्रम् अन्नाद्येनैवैनं सं-  
 जति"—इति तु तै० ब्रा० १. ३. ४. ६ ।

† का० औ० सू० १४. २. ६, ७, ८ ।

‡ 'सुरारूपं'—इति च, क ।

§ का० औ० सू० १४. २. ८ ।

तावच्चनेति । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थे \* । यावत् तृणाग्रं तावन्मात्रं  
स्वल्पं मपि ‘एनः’ पापं ‘तस्मिन्’ ‘न’ भवति ॥ १८ ॥

अथ मधुग्रहग्रहणं विधत्ते — “अथाध्वर्युरिति । तस्य सादन-  
प्रदेशं विधत्ते — “तं मध्य इति । अत्र कात्यायनः — “हिर-  
ण्यमेन मधुग्रहं गृहीत्वा खरमध्ये सादयति” — इति † ।

अथ प्राकृतावुक्यध्रुवग्रहौ दर्शयति — “अथोक्त्य मित्यादि ।  
सूत्रकृता अनयोश्चोदकादेव ग्रहणं सिद्धं मिति सूत्रितम् —  
“उक्त्यादि” — इति ‡ ।

पृथग्ग्रहणप्रसङ्गात् द्विविधग्रहाणां होमकालं भक्षणं च  
विधत्ते — “अथैतान्सोमग्रहानिति । तान् प्रातस्सवने गृही-  
तान् सोमग्रहान् ‘उत्तमे स्तोत्रे’ तृतीयसवने बृहत्स्तोत्रे वाज-  
पेयसंस्थापननिमित्ते सुते सति ‘ऋत्विजां चमसेषु’ ‘व्यवनीय’  
व्यवनयनं कृत्वा जुहुयुर्भक्षयेयुश्च ।

तत्प्रसङ्गात् सुराग्रहाणां मधुग्रहस्य च माध्यन्दिनसवनमध्ये  
विनियोगो भविष्यतीत्याह — “अथ माध्यन्दिन इति । ‘उद्यते’  
— इति, “वद व्यक्तायां वाचि” §, कर्मणि यकि सम्प्रसारणम् ।  
एतेषां होमास्तावत् तद्विनियोगप्रकारोऽपि “अथाध्वर्युश्च यज-  
मानश्च पूर्वया द्वारा मधुग्रह मादाय निष्क्रामतः” — इत्यारभ्य,  
“अथ नेष्टाऽपरया द्वारा सुराग्रहानादाय निष्क्रामति” — इत्यादिना ॥

\* अम० को० ३. ४. ३ ।

† का० श्रौ० सू० १४. २. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. २. १० ।

§ भा० प० १००६ धा० ।

॥ पञ्चमे ब्राह्मणे २८ कण्ठी द्रष्टव्या ।

अस्मिन्नेवाध्याये वक्ष्यत इत्यर्थः । “तस्यात इति । ‘अतः’ सोम-  
यहोमभक्षणप्रतिपादनानन्तरं ‘तस्य’ आन्नातस्य सुराग्रहविनि-  
योगप्रतिपादकवाक्यस्य पाठानुसन्धानं कार्यं मित्यर्थः ॥ १८ ॥ २ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे प्रथमाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

48146

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम्. )

आग्नेयु मग्निष्टोम ऽत्रालभते । अग्निर्वा  
ऽअग्निष्टोमो ऽग्निष्टोम \* मेवैतेनोज्जयत्यैन्द्राग्नमुक्-  
थेभ्य आलभत ऽऐन्द्राग्नानि वा ऽउक्त्यान्युक्-  
थान्येवैतेनोज्जयत्यैन्द्रु षोडशिन ऽत्रालभत ऽइन्द्रो  
वै षोडशी षोडशिन मेवैतेनोज्जयति ॥ १ ॥

सारस्वतु सप्तदशाय स्तोत्रायालभते । तदे-  
तदुनतिरात्रे सति रात्रे रूपं क्रियते प्रजापतिं  
वा ऽएष उज्जयति यो व्याजपेयेन यजते

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तदेतेन सारस्वतेन रात्रि  
मुञ्जयति तस्मादेतदनतिरात्रे सति रात्रे रूपं  
क्रियते \* ॥ २ ॥

अथ मरुद्गा उज्जेषेभ्यः । वृशां पृश्नि माल-  
भत ऽद्वयं वै वृशा पृश्निर्यदिद् मखां मूलि चा-  
मूलं चान्नादां प्रतिष्ठितं तेनेयं वृशा पृश्निरन्नं  
वा ऽएष उज्जयति यो व्याजपेयेन यजते ऽन्न-  
पेयं ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं वृशो वै मरुतो-  
ऽन्नं † वै वृश उज्जेषेभ्य इत्युज्जित्या ऽएव  
दुर्व्वेदे ऽउज्जेषवत्यौ याज्यानुवाक्ये यदुज्जेषवत्यौ  
न विन्देदपि ये ऽएव के च मारुत्यौ स्वातां  
दुर्व्वेदो ऽएव वृशा पृश्निर्यदि वृशां पृश्निं न विन्दे-  
दपि यैव का च वृशा स्वात् ॥ ३ ॥

तस्या आवृत् ‡ । यत्र होता माहेन्द्रं ग्रह  
मनुश्रुसति तदस्यै वपुया प्रचरेयुरेष वा ऽद्व-  
न्दस्य निष्केवल्यो ग्रहो युन्माहेन्द्रो ऽप्यस्यैत-  
न्निष्केवल्य मेव स्तोत्रं निष्केवल्यं शस्त्र मिन्द्रो

\* 'क्रियते'—इति ग, घ ।

† 'अन्न'—इति ग, घ ।

‡ 'आवृत्'—इति ग, घ ।

वै यजमानस्तन्मध्यत एवैतद्यजमाने व्वीर्यं दधाति  
तस्मादस्या अत्र व्वपया प्रचरेयुः ॥ ४ ॥

हेधावदानानि श्रपयन्ति । ततो ऽर्धानां जुह्वा  
मुपस्तीर्य द्विर्द्विरवद्यति सकृदभिधारयति प्रत्य-  
नक्तावदानान्यथोपभृति सकृत्सकृदवद्यति द्विरभि-  
धारयति न प्रत्यनक्तावदानानि तद्यदर्धानां द्वि-  
र्द्विरवद्यति तथैषा कृत्स्ना भवत्यथ यदेतैः प्रच-  
रति तेन दैवीं व्विश मुञ्जयत्यथार्धानि मानुष्यै  
व्विश ऽउपहरति तेनो मानुषीं व्विश मुञ्ज-  
यति ॥ ५ ॥

तद् तथा न कुर्यात् । ह्वलति वा ऽएष  
यो यज्ञपथादेत्येति वा ऽएष यज्ञपथाद्य एवं  
करोति तस्माद्यज्ञैवेतरेषां पशूनां व्वपाभिः प्रच-  
रन्ति तदेवैतस्यै व्वपया प्रचरेयुरेकधावदानानि श्रप-  
यन्ति \* न मानुष्यै व्विश ऽउपहरति † ॥ ६ ॥

अथ ‡ समुदश प्राजापत्यान् पशूनालभते । ते वै

\* 'श्रपयन्ति'—इति च डा० रोथ-दृष्टम् ।

† 'उपहरति'—इति ख, 'उपहरति'—इति ग, घ ।

‡ 'अथ'—इति क ।

सुर्वे तूपरा भवन्ति सुर्वे श्यामाः सुर्वे मुष्कराः  
 प्रजापतिं वा ऽएष उज्जयति यो व्याजयेवेन  
 यजते ऽन्नं वै प्रजापतिः पशुर्वा ऽअन्नं तत्  
 प्रजापति मुज्जयति सोमो वै प्रजापतिः पशुर्वै  
 प्रत्यक्षं सोमस्तत्प्रत्यक्षं प्रजापति मुज्जयति  
 सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत् प्रजा-  
 मुज्जयति ॥ ७ ॥

ते वै सुर्वे \* तूपरा भवन्ति । पुरुषो वै प्रजा-  
 पतेर्नेदिष्ठु सो ऽयं तूपरो † ऽविषाणस्तूपरो वा  
 ऽअविषाणः प्रजापतिः प्राजापत्या एते तस्मात्  
 सुर्वे तूपरा भवन्ति ॥ ८ ॥

सुर्वे श्यामाः । द्वे वै श्यामस्य रूपे शुक्लं  
 चैव लोम कृष्णं च द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननं  
 प्रजननं प्रजापतिः प्राजापत्या एते तस्मात् सुर्वे  
 श्यामा भवन्ति ॥ ९ ॥

सुर्वे मुष्कराः । प्रजननं वै मुष्करः प्रज-  
 ननं प्रजापतिः प्राजापत्या एते तस्मात् सुर्वे

\* 'सुर्वे'—इति ग, घ ।

† नास्थितश्चिह्नं ग-घ-पुस्तकाभ्या मन्वत्र ।



मुष्करा भवन्ति दुर्वेदा एवम् समृद्धाः पशवो यद्ये-  
वम् समृद्धान् न विन्देदपि कतिपया एवैवम् समृद्धाः  
स्युः सर्वे मु ह्येवेदं प्रजापतिः ॥ १० ॥

तद्वैके । व्याच ऽउत्तम मालभन्ते यदि वै  
प्रजापतेः परं मुस्ति व्यागेव तदेतद्वाच मुज्जयाम  
इति वृदन्तस्तदु तथा न कुर्यात् सर्वं वा ऽइदं  
प्रजापतिर्यदिमे लोका यदिदं किं च सा यदे-  
वेषु लोकेषु व्यावदति तद्वाच मुज्जयति तस्मादु  
तन्नाद्रियेत ॥ ११ ॥

तेषा मावृत्\* । यत्र मैत्राव्यरुणो व्यामदेव्य  
मनुश्रुसति तदेषां व्यापाभिः प्रचरेयुः प्रज-  
ननं वै व्यामदेव्यं प्रजननं प्रजापतिः प्राजापत्या  
एते तस्मादेषा मुत्र व्यापाभिः प्रचरेयुः † ॥ १२ ॥

अथेष्टा अनुयाजा भवन्ति‡ । अय्यूहे सुचा-  
व्यैषां हविर्भिः प्रचरन्ति सोऽन्तोऽन्तो वै  
प्रजापतिस्तदन्त एवैतत् प्रजापति मुज्जयत्यथ

\* 'मावृत्'—इति ग, घ ।

† 'तस्मादेषां व्यापाभिरुत्र प्रचरेयुः'—इति ग, घ ।

‡ 'भवन्ति'—इति क ।

यत् पुरा प्रचरेद्यथा य मुध्वान मेध्यन्त्यात्तं गत्वा  
सु क्त ततः ह्यादेवं तत्तस्मादेषा मुच हविर्भिः  
प्रचरन्ति ॥ १३ ॥

तद् तथा न कुर्यात् । ह्वलति वा ऽएष  
यो यज्ञपथादेत्येति वा ऽएष यज्ञपथाद्य एवं  
करोति तस्माद्यज्ञैवेतरेषां पशूनां व्वपाभिः प्रच-  
रन्ति तदेवैतेषां व्वपाभिः प्रचरेयुर्यज्ञैवेतरेषां  
पशूनां हविर्भिः प्रचरन्ति तदेवैतेषां हविषा  
प्रचरेयुरेकानुवाक्या भवत्येका \* याज्यैकदेवत्या हि  
प्रजापतय ऽइत्युपांशूक्त्वा कृागानां ह-  
विषो ऽनुब्रूहीति प्रजापतय ऽइत्येवोपांशूक्त्वा †  
कृागानां हविः प्रस्थितं प्रेष्टेति व्वषट्कृते  
जुहोति ॥ १४ ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [१.३.] ॥

तृतीये पशुतन्त्र मभिधीयते । तत्र तावत् वाजपेयस्य  
अग्निष्टोमोक्त्यषोडश्यतिरात्रसंस्थालक्षणसङ्गावेन सर्वक्रत्ववरोधकत्व  
मस्तीति वैदिकप्रसिद्धिः ‡ तत्तत्क्रत्वसाधारणपशुसङ्गावे सत्यु-

\* 'एका'—इत्येव ग, घ ।

† 'इत्युपांशूक्ता'—इति ग, घ ।

‡ 'वैदिकत्वप्रसिद्धिः'—इति च ।

पपद्यते, नान्यथा । तथा च तैत्तिरीयकम्— “ब्रह्मवादिनो वदन्ति, नाग्निष्टोमो नोक्थ्यो न षोडशी नातिरात्रः, अथ कस्माद् वाजपेये सर्वे यज्ञक्रतवोऽवकुन्ध्यन्त इति ; पशुभिरिति ब्रूयात्”—इति \* । यज्ञशब्देन यजतिचोदिता वषट्कारप्रदाना अङ्गप्रधानभूता यागा अभिधीयन्ते । तत्समूहरूप एकफल-साधनायापूर्ववान् कर्मविशेषः क्रतुरित्यर्थः † ।

अतस्तानग्निष्टोमादिगतानाग्नेयादिसवनीयपशून् विधत्ते— “आग्नेय मग्निष्टोम इति । तत्राग्निष्टोमस्य द्वादश स्तोत्र-शस्त्राणि ; उक्थ्यस्य उक्थ्यत्रयेण पञ्चदश ; षोडशिः षोडशि-स्तोत्रेण सह षोडश ; वाजपेयस्य बृहत्स्तोत्रेण सह सप्तदश, अतिरात्रपर्यायत्रयेण ‡ सह षोडशिपक्षे एकोनत्रिंशत्, अन्यदा अष्टाविंशतिः पशूनाम् ।

तत्सत्क्रत्वसाधारणं द्योतयितु मग्निष्टोमादिपदाभिधानम् । अग्निः स्तूयते अस्मिन्निति अग्निष्टोमो नाम साम, मस्मिन् विषयभूते ‘आग्नेय मालभते’ । एतेन पशुना अस्मिन् वाजपेये अग्निष्टोमसंस्थं क्रतु मेवानुष्ठितवान् भवतीत्यर्थः । एव मुक्त-रत्नापि योज्यम् । ‘उक्थ्येभ्यः’ तृतीयसवने स्तूयमानेभ्योऽन्वेभ्य स्त्रिभ्यः § उक्थ्यस्तोत्रेभ्यः इन्द्रादिदेवताकः ॥ पशुरालम्बनीयः । ‘षोडशिने’ षोडशिस्तोत्राय ‘ऐन्द्रं’ पशुम् आलभेत ¶ ॥ १ ॥

\* ते० ब्रा० १. ३. ४. १ ।

† ‘सर्वाग्निष्टोमेर्वा राजसूयसोमेः’—इति १४. १. ७ ।

‡ ‘अतिरात्रस्य पर्यायत्रयेण’—इति च ।

§ ‘स्तूयमानेभ्यस्त्रिभ्यः’—इति ङ, च, छ ।

॥ ‘इन्द्रादीदेवः’—इति ङ, छ ।

¶ ‘ऐन्द्रः पशुः’—इत्येव च ।

“सारस्वत मिति । ‘सप्तदशाय’ सप्तदशसङ्ख्यापूरकाय बृहत्स्तोत्राय ‘सारस्वतं’ सरस्वतोदेवताकं \* पशु मालभेत । अन्तिम मिदं बृहत्स्तोत्रं वाजपेयस्यासाधारणं लिङ्गम् ; श्रूयते हि— “माकृत्या बृहत्स्तोत्रम्”—इति † । कथं वाजपेये अतिरात्रान्तर्भाव इत्याशङ्का, अनेन सारस्वतालम्बनेनातिरात्रस्यान्तर्भावं दर्शयति— “तदेतदिति । ‘अनतिरात्रे, सति प्रसुते वाजपेये यज्ञे अतिरात्रान्तर्भावविधुः ‘तदेतत्’ सारस्वतालम्बनं ‘रात्रेः’ रात्रिपर्यायस्य ‘रूपं क्रियते’ ‡ ; तेन तदन्तर्भावोऽपि सिद्ध इत्यर्थः । एतेषा मान्येयादीना मग्निष्टोमादिसंस्थाचतुष्टयसारूप्यं § सूत्रे दर्शितम्— “आग्नेयोऽग्निष्टोमे सवनीयः पशुः, ऐन्द्राग्न्योक्ष्ये द्वितीयः, ऐन्द्रो वृष्णिः षोडशिनि तृतीयः, सारस्वती मेथति-रात्रे चतुर्थी”—इति ॥ ।

नन्वतिरात्रान्तर्भावाय रात्रिसामान्यपि कस्मान्न प्रयोज्यानीत्यत आह— “प्रजापतिं वा एष इति । प्रजापतेस्तु संवत्सरात्मकता सङ्ख्यासाम्यात् ; द्वादशमासाः पञ्चर्चव इति संवत्सरस्य सप्तदशत्वम्, प्रजापतेरप्याश्रावयेत्यादिसप्तदशाक्षरमन्त्रात्मकत्वात् ¶ । अतः सप्तदशेनैव बृहत्स्तोत्रेण सप्तदशात्मकप्रजापतेरुज्जितिः सिद्धेति प्रयोजनाभावात् रात्रिसामानि न प्रयो-

\* ‘सरस्वतीदेवत्वम्’—इति च ।

† तै० ब्रा० १. ४. ४. २ ।

‡ ‘रात्रेः रात्रिपर्यायस्येवार्थः’, तद्रूपं क्रियते ; अतिरात्रस्यासाधारणं रूपं क्रियते—इति च ।

§ ‘मग्निष्टोमसंस्थाचतुष्टयासाधारणरूपत्वं’—इति च ।

॥ ‘अतिरात्रपशुतुपाकत्वम्’—इति का० श्रौ० सू० १६. ९. ११ क ।

¶ ए० २४ टीप्पनी ‘\*’ द्रष्टव्या ।

ज्यानि । तस्मादुक्तविधे एवातिरात्रान्तर्भावः साधीयानित्याह—  
“तदेतेन सारस्वतेनेति ॥ २ ॥

अथास्य यज्ञस्यासाधारणपशुं विधत्ते— “अथ मरुद्वा इति । उज्जेषगुणकेभ्यो मरुद्वा देवेभ्यः ‘पृश्निं’ नानावर्णां ‘वशां’ वस्थ्याम् आलभेत । उक्तं पशुं भूम्यात्मत्वेन स्तौति— “इयं वै वशेति । ‘इयं’ भूमिः, ‘वशा पृश्निः’ । भूमिः पृश्नित्वं सुपपादयति— ‘यदिदम्’ ‘अस्यां’ भूमौ ‘मूलं’ मूलवत् स्यावरम्, ‘अमूलं’ पश्वादिकम् ; एव सुभयम् ‘अन्नाद्यम्’ आद्यम् अदनीयं मन्त्रं ‘प्रतिष्ठितम्’, ‘तेन’ अस्याः पृश्नित्वम् । अस्य पशोर्मरुद्देवतात्वं प्रशंसति— “अन्नं वा एष इति । ‘वाजपेयम्’ इति यत्, तत् अन्नपेयम्’ । वाजशब्दोऽन्नवाची । अन्नम् अन्नविकारभूतं सुराद्रव्यं पीयते अत्रेति हि भ्युत्पत्तिः । ‘मरुतः’ खलु ‘विशः’ प्रजाः ; “मरुतो वै देवानां विशः”— इति श्रुतेः \* । कथं मेतावता मरुता मन्त्ररूपत्वम् ? तत्राह— “अन्नं वै विश इति । ‘अन्नं’ ‘वै’ खलु ‘विशः’ प्रजाः ; अन्नीपजीवनात् तच्छब्देन व्यपदिश्यन्ते । तेषां मुज्जेषविशेषणस्य प्रयोजनं माह— “उज्जेषेभ्य इति ।

तत्र वशावपाहोमे उज्जेषपदवत्यौ याज्यापुरोऽनुवाक्ये विधत्ते— “दुर्वेदे उज्जेषवत्याविति । ‘दुर्वेदे’ लब्धुं मशक्ये, अतस्ते एव सम्पाद्ये इत्यर्थः । तयोरसुलभत्वं मत्वा स्वयं मेव श्रुतिः पक्षान्तरं माह— “यद्युज्जेषवत्यावित्यादि । ‘मारुत्यौ’ मरुद्देवत्ये भवे वा पशोरपि पृश्निवर्णस्यालामे पक्षान्तरं दर्शयति— “दुर्वेदे

\* तै० सं० २. २. ५. ७ । “विड् वै मरुतः”— इति, तै० ब्रा० २. ७. २२ ।  
“विशे वै मरुतः”— इति श्र० ब्रा० ३. ६. १. १७ ।

एषेत्यादिना । दुर्वेदो लब्धु मशक्यः \* खलु इति निपातेन सह प्रयोगः । अत एव कात्यायनः— “वशां पृश्निं मरुद्वा उज्जेषेभ्यस्तदभावे पृश्निम्”—इति † ॥ ३ ॥

मारुतीवपाप्रचरणं प्राकृतानां मार्गैर्माहेन्द्रान्प्रमृतीनां वपा-प्रचरणेन सह विधास्यते । तत्र तावतेकेषां मतमुपन्यस्यति— “तस्या आहृद् यत्र होतेति । ‘तस्याः’ मारुत्या वशायाः ‘आहृत्’ तन्वम्, वक्ष्यत इति शेषः । यत्र होता माहेन्द्रं ग्रहम् ‘अनुशंसति’ अनुशंसितवान् भवतीति भूतार्थपरत्वेन व्याख्येयम् ; “माहेन्द्रान्ते वशावपाचरणम्”—इति ‡ कात्यायनेन सूत्रितत्वात् । ‘तत्’ तदा ‘अस्यै’ अस्या मारुत्याः ‘वपया’ ‘प्रचरेयुः’ । प्रचरणं माहेन्द्र इति यत् ‘एष वै इन्द्रस्य’ असाधारणो ‘ग्रहः’ ; ग्रहणमन्ते केवलेन्द्रस्यैव देवतात्वेन प्रतिपादनात् । निश्चयेण केवलमिन्द्रस्यायमिति ‘निष्केवल्यो ग्रहः’ । माध्यन्दिने सवने हि माहेन्द्रग्रहग्रहणम् ; तच्च सवनमिन्द्रस्येति नियतम् । श्रूयते हि— “प्रातः सुतमपिबो हर्यश्च माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते”—इति § ।

न केशलं माहेन्द्रग्रह एव निष्केवल्यः, अपि तु तद्ग्रहणानन्तरं प्रयोज्ये सुतशस्त्रे अपि केवलेन्द्रदेवताकत्वात् इन्द्रस्यासाधारणमित्यत आह— “अप्यस्यैतन्निष्केवल्यमेवेति ।

अस्तु ग्रहादीनां केवलेन्द्रदेवताकत्वं तेन प्रकृते किमायात

\* ‘दुर्वेदे लब्धु मशक्यः’—इति ज ।

† का० श्रौ० सू० १४. २. ११ ख, १२ ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. २. १६ ।

§ ऋ० सं० ४. ३५. ७ ।

मित्यत आह— “इन्द्रो वै यजमान इति । यस्माद् याग-  
लक्षणेन परमैश्वर्येण योगाद् ‘यजमानः’ इन्द्ररूपः । ‘वै’-  
शब्दः शाखान्तरीयां प्रसिद्धिं द्योतयति ; “एष खलु वा एतर्हीन्द्रो  
यो यजते”—इति तैत्तिरीयके अवणात् \* । ‘अतः’ इन्द्रयज-  
मानयोस्तादात्म्यात् माध्यन्दिनसवनवर्त्तिमाहेन्द्रयज्ञान्ते वपा-  
चरणेन यज्ञमध्ये एव ‘यजमाने’ ‘वीर्यं’ निहितवान् भव-  
सीत्यर्थः ॥ ४ ॥

पशवदानानां मयैकध्येन † अवणं सिद्धान्तयितुं द्वैविध्यं  
पूर्वपक्षयति— “देधावदानानि अपयन्तीति । कात्यायनस्तु  
उक्तं वपाप्रचरण ‡ मवदानानां देधा अपणं च विकल्पेन सूत्र-  
यामास— “माहेन्द्रान्ते वशावपाचरणम् अवदानैश्च द्वैधं शृतैः”—  
इति, “यथान्यायं वोभयोः वशायाश्च, एकध्यश्च अपणम्”—इति §  
च । ब्राह्मणे तु “तदु तथा न कुर्यात्”—इत्येकं निषिध्य,  
अन्यत् सिद्धान्तितम् । कथं मनयोर्विकल्पः सिध्यतीति चेत्,  
सत्यम् ! मतान्तरनिषेधस्तु प्रसक्तिपूर्वको भवितुं मर्हति,  
प्रसक्तिस्तु शाखान्तरीयेति तस्मात्तानुसारेण सूत्रकृता विकल्पः  
कृत इत्यविरोधः ॥ । हृदयं जिह्वा वक्षो यज्ञदृष्टकौ सव्यो

\* ते० सं० ६. १. ११. २ ।

† ‘मयैक मध्यमेन’—इति च । ‘मयैकध्येन’—इति ऊ, क ।

‡ ‘वपाप्रणम्’—इति ऊ ।

§ का० श्रौ० सू० १४. २. १६, १७. २२—२४ ।

॥ ‘पूर्वेभ्यो देवतास्त्रिष्टुप्भ्यां मवदति, उत्तराणि विशेषे ददाति’  
—इति का० श्रौ० सू० १४. २. १८, १९ । ‘पूर्वाणि हृदयादीनि,  
उत्तराणि त्राङ्गानि’—इत्यादिदृष्टिग्रन्थश्च तत्रालोच्यः ।

दोऋमे पाश्चं दक्षिणा ओणिः गुदहतीय मिति देवतानि ;  
दक्षिणो दोः सव्या ओणिः गुदहतीय मिति सौविष्टकृता-  
नीति । एतानि सर्वाण्यवदानानि द्विधा पृथक् अपयन्ति  
पक्वानि कुर्युः । देवतानां हृदयादीनां सौविष्टकृतानां तज्ज्ञाणां  
च पृथक् अण मित्यर्थः ।

हविषा भवदानप्रकार माह— “ततोऽर्हाना मिति । अथ  
जुह्वा माज्येनोपस्तरणं कृत्वा ‘अर्हानां’ प्रधानहविषां हृदया-  
दीनां मध्ये एकैकस्माद् ‘द्विर्हिः’ अवद्येत् । एव मेकादशा-  
वदानान्यवदाय पुनराज्येनैकवार मभिघारणं कुर्यात् । एव  
सुपस्तरण-द्विरवदान-पुनरभिघारणैर्हविषां चतुरवस्तत्वं सम्पादि-  
तम् । अनन्तरं स्विष्टकृदर्थान्यवदानानि घृतेन प्रत्यञ्ज्यात् ।

“अथोपभृतीति, वाक्यं स्पष्टार्थम् । अत्र उपस्तरणावदाने  
सकृत् सकृद्, द्विरभिघारण मिति चतुरवदानसम्पत्तिः ।  
अत्र स्थितानि \* अवत्तशेषाणि न प्रत्यञ्ज्यात् ; उत्तरत्र विनि-  
योगाभावात् ।

एतेषां द्विरवदानं प्रशंसति— “तद्यदर्हाना मिति । अर्हानां  
हृदयादीनां प्रत्येकं देवतार्थं स्विष्टकृदर्थं च द्विरवद्यतीति  
‘यत्’, तेन द्विरवदानेन ‘एषा’ वशा ‘कृतस्त्रा’ सम्पूर्णा भवति,  
यथेतरः पशुस्तथेत्यर्थः ।

अथैतेषां प्रचरणं स्तौति— “अथ यदेतैरिति । “देवीं  
विश मिति । अवदानानां देवतोद्देशेनाग्नौ प्रक्षिप्तत्वात् तेन  
प्रचरणेन ‘देवी’ देवसम्बन्धिनीं ‘विशम्’ प्रजाम् ‘उज्जयति’ ।

एव मर्हानां हविषां विनियोग मभिघाय, अर्हान्तरस्यापि

\* ‘अपात्रस्थितानि’—इति क, ज ।



दर्शयति — “अथाह्वानीति । यागार्थाह्वविषः पृथक् पक्वानि  
अङ्गानि ‘मानुष्यै’ मनुष्यसम्बन्धिन्यै ‘विशे’ प्रजायै ‘उपहरति’  
ददाति । ‘तेन’ नानेन ‘मानुषीं’ प्रजां जितवान् भवतीति ।  
अतएव सूत्रितम् — “पूर्वेभ्यो देवतास्त्रिष्टुक्तद्वया मवद्यत्युत्त-  
राणि विशे ददाति”—इति \* । अत्र पूर्वोत्तरशब्दौ कर्कषीपा-  
ध्यायेनैवं व्याख्यातौ — “पूर्वाणि हृदयादीनि, उत्तराणि  
अङ्गानि”—इति ॥ ५ ॥

तदिदमादिकं † माहेन्द्रान्ते वपाचरणं हविषां द्विधा अपणं  
च दृषयति — “तदु तथा न कुर्यादिति । करणे प्रत्यवायं  
दर्शयति — “हलति वा एष इति । ‘यो यज्ञमार्गादेः सका-  
शाद् ‘एति’ प्रच्युतो भवति, सः ‘हलति’ विभ्रष्टो भव-  
तीत्यर्थः । कस्य यज्ञपथाद् भ्रंशनम् ? त माह — “एति  
वा एष इति । ‘एवम्’ उक्तरीत्या ‘वपया’ प्रातस्सवनकर्त्तव्यं  
‘वपाहोमं’ माहेन्द्रान्ते अपणञ्च करोति, स यज्ञमार्गात् प्रच्युते  
भवेत्, अतस्तथा न कुर्यादिति सम्बन्धः ॥

अथ प्राक्तपशुवपाप्रचरणकाले ‡ माकृती-वपा-प्रचरणं  
हविषा मैकध्वेन अपणञ्च विधत्ते — “तस्माद् यत्रैवेत्यादिना §  
अस्मिन् पक्षे त्रिष्टुभ्यः स्त्रिष्टुक्तद्यागावदान मिति पृथक्पक्षः  
हविषोऽभावात् मानुष्ये विशे अवदान मिति विशेषः ॥ ६ ॥

\* का० श्रौ० सू० १४. २. १८, १९ ।

† ‘तदिदं’—इति ज ।

‡ इत उत्तरम् ‘[= प्रातस्सवने ]’—इत्यधिकं ज-पुस्तके ।

§ ‘यथाम्यायं वोभयोः, वप्रायाश्च, ऐकध्वञ्च अपणम्’—इति

का० श्रौ० सू० १४. २. २२, २३, २४ ।

पञ्चन्तराणि \* विधत्ते— “अथ सप्तदशेति । ‘प्रजापत्यान्’ प्रजापतिदेवताकान् सप्तदशसङ्ख्याकान् पशून् आलभेत । अत्र देवतासङ्ख्यालक्षणद्वयविशिष्टपशुविधिः । तेषु पशुषु गुणत्रयं विधत्ते— “ते वै सर्वे तूपरा इति । ‘तूपराः’ अविषाणा इत्यर्थः । ‘श्यामाः’ शुक्लकृष्णवर्णाः, ‘मुष्कराः’ मुष्को येषां मस्तीति । “उषसुषिमुष्कमधो रः”—इति † मत्वर्थीयो र-प्रत्ययः । मुष्कवृद्धिः सर्वाङ्गवृद्धि मन्तरेण न घटते इति सर्वे पुष्टाङ्गा भवेयुरित्यर्थः ॥

पशुतन्त्ररूपेण प्रत्यक्षसोमात्मना च स्तुवन् तदात्मक-प्रजापतिप्राप्तिं प्रतिपादयति— “प्रजापतिर्वा इत्यादिना । सोमवत् पशोरपि सवनत्रयव्यापित्वात् ताच्छब्दम्, अत्र देवतार्थपारोक्ष्याभावात् प्रत्यक्षत्वम् ॥ ७ ॥

पशुगतां सङ्ख्यां सुपजीव्य प्रशंसति— “ते वै सर्वे तूपरा इति । अस्याय मर्थः ;— यस्मात् ‘पुरुषः’ ‘प्रजापतेः’ ‘नेदिष्ठम्’ अन्तिकतमं वस्तु, वस्तुमत्सृष्टेः प्रथमभावित्वात् ; ‘सः’ ‘अयं’ पुरुषः ‘तूपरः’ । तूपरशब्दार्थं स्वयं मेव दर्शयति— “अविषाण इति । पुरुषत्वादविषाणः, ततः प्रजापतिदेवत्यानां पशूनां तूपरत्वगुणेन भाव्य मिति ॥ ८ ॥

श्यामत्व मन्त्रेण व्याचष्टे— “सर्वे श्यामा इति । शुक्लकृष्णवर्णद्वयात्मकं श्यामत्व मित्यर्थः । द्वित्व मालम्ब्य प्रशंसति— “द्वन्द्वं वा इति । ‘प्रजापतिः प्रजननम्’ ; सर्वोत्पादकत्वात् ॥ ९ ॥

“सर्वे मुष्करा इति, वाक्यं निगदव्याख्यातम् । उक्तत्रिविधगुणानां पशूनां मसुलभत्वप्रतिपादनपूर्वकं पञ्चान्तर माह—

\* ‘द्विपञ्चन्तराणि’—इति ङ, छ ।

† पा० सू० ५. २. १०० ।

“दुर्वेदा इति । उक्तगुणानां पशूना मसम्भवे कतिपया एव पशवो मुणत्तयवन्तो भवेयुः । अत्र सूचम्— “प्राजापत्यांश्च सप्तदश श्याम-तूपरान् वस्तांस्तद्गुणाभावे सर्वेषा मेकदेशोऽपि” —इति \* । यद्येवं तर्हि कतिपयपशूनां वर्णान्तरयुक्तत्वेऽपि कर्मणोऽङ्गवैकल्यं परिहरति— “सर्वं मु हीति । प्रजापतेः सर्वात्मकत्वात् वर्णान्तरयुक्तत्वं पशूनां प्राजापत्यत्वं न विरुध्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥

अत्र केचित् सप्तदशप्राजापत्यपशूना मन्ते वाग्देव्यं पशुम् , तत्र चोपपत्तिं वदन्ति ; तेषां पचं निरसितु मनुवदति— “तद्वैके वाच इति † । ‘एके’ शाखान्तरीयाः ‘वाचे’ वाग्दे-वतायै ‘उत्तमम्’ अन्ते कर्तव्यत्वाच्चरम मित्यर्थः , तम् ‘आल-भन्ते’ । न हि ‘प्रजापतेः’ ‘परम्’ उल्कृष्टं पूर्वभावि किञ्चि-दपि ‘अस्ति’, यदर्थं पशुरालभ्यते ; यद्यस्ति , ‘वागेव’ अस्ति ; तस्या अशक्तशब्दब्रह्मत्वेन पूर्वं मवस्थानादिति भावः । ताम् ‘उज्जयामः’ साधयामः ‘इति’ बुद्ध्या वाग्देदत्यः पशुरालभ-नीय इति । तद् दूषयति— “तदुतथेति । ‘सर्वं वा इदमिति अत्याय मर्थः ; — प्रजापतेः सर्वात्मकत्वेन लोकात्मकत्वम् , तत्रत्य चराचरसर्वभूतात्मकत्वञ्चास्त्येव ; अतो लोकेषूद्यमाना वाव अपि प्रजापतिरूपैवेति [ प्रजापतिवदावाप्तैवाचिपिप्राप्तत्वात् ‡ तदर्थं वाग्देवत्यपशुरालम्भनं नादरणीय मिति ॥ ११ ॥

\* का० औ० सू० १४. २. १३, १४ ।

† ‘वाच उत्तम एके’—इति का० औ० सू० १४. २. १५ ।

‡ ‘अपि प्रजापतिरूपैवेति’—इत्यस्य स्थाने बन्धनीचिह्नान्तर्गतं ए एव पाठः प्रायः सर्वत्र , स एष नून मशुद्ध इत्येवास्मत्प्रशङ्कान् मिति

उक्तानां प्राजापत्यपशूनां वपाप्रचरणस्य हविर्यागस्य च प्राकृतपशुवपाहविर्भिः सह होमकालं विधास्यति, तत्र तावत् पूर्वपक्ष माह— “तेषां माहृद् यत्नेति । ‘मैत्रावरुणः’ नाम-  
त्विक् माध्यन्दिने सवने ‘वामदेव्यं’ साम ‘अनुशंसति’ अनु-  
शंसितवान् भवतीति भूतार्थपरतया व्याख्येयम् । अतएव कात्या-  
यनः—“वामदेव्यग्रहान्ते प्राजापत्यानाम्”—इति \* । अनुष्ठानमिति  
शेषः । तदा एषां समदशानां वपायागः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ १२ ॥

“अथेष्टा इति । तृतीयसवने अनुयाजयागानन्तरं जुह्व-  
पशूतोर्व्यूहनादर्वागेषां प्राजापत्यानां हविर्यागः कर्त्तव्यः । अत्र  
कात्यायनः—“सुग्व्यूहनात् प्राग्धविषा”—इति † । तं कालं  
प्रशंसति—“सोऽन्त इति । ‘सः’ एव कालः ‘अन्तः’ सवनीये  
कर्त्तव्यानां यागानां भवधिः । प्रजापतेः सर्वोत्तमत्वादन्तत्वम् ।  
तस्मादन्तरूपे तस्मिन् काले क्रियमाणेन हविर्होमेन ‘प्रजापति  
मेव’ उज्जितवान् भवतीत्यर्थः । “अथ यत् पुरेति । अस्यार्थः ;—  
‘यत्’ यदि उक्तकालात् ‘पुरा’ प्राकृत एव काले वपा-  
हविर्भिः प्रचरेत्, तर्हि व्यर्थं मेव प्रजापतिप्राप्तेरुत्तरकर्म-  
कलापकरणं मयुक्तं मित्तीयं मर्थं प्रदर्शयितुं दृष्टान्तः— “यथाय  
मिति । ‘यथा’ लोके पुरुषो यं मार्गं गमिष्यन् भवेत्, ‘तं’  
लक्ष्यं देशं प्राप्य ‘क्व’ कुत्र गच्छति ; लक्ष्यप्राप्तेः सिद्धत्वात् ।  
‘एवम्’ एतत्काले होमकरणफलरूपप्रजापतिप्राप्तेः सिद्धत्वात्,  
उपरितनकर्मनुष्ठानं निष्फलं स्यात् । तस्मादनुयाजान्ते सुग्व्यू-  
हनात् प्राक् पशुहविर्होम इति केषाञ्चिन्नतम् ॥ १३ ॥

\* का० श्रौ० सू० १४. २. २० ।

† का० श्रौ० सू० १४. २. २१ ।

तदूषयन् सिद्धान्तयति—“तदु तथेति । अत्र सूत्रम्— “यथान्यायं वोभयोः”—इति \* । ‘उभयोः’ वपाहविर्यागयोः यथान्यायं प्रकृतिवत् कर्त्तव्य मित्यर्थः । “एतेषां पशूना मिति । तद्वितश्रुत्या पृथक्-पृथक्-देवतासम्बन्धप्रतिपादकेन † समदश-यागात्मकत्वात् प्रतियागं याज्यापुरोऽनुवाक्याभेद माशङ्क्य देव-तैक्यात् सह प्रदान मिति मन्वानो याज्यापुरोऽनुवाक्ययो-रैक्य माह— “एकानुवाक्येति । यत एते पशवः प्रजापत्येक-देवत्याः, तस्माद् याज्यानुवाक्ययोरैक्य मित्यर्थः । अनुवाक्या-पाठात् प्रागध्वर्युणा कर्त्तव्येऽनुवचनप्रैषे विशेषं विधत्ते— “प्रजापतय इति । देवतावाचकं पद सुपांशुक्ता ह्यागाना मित्यादिक मुञ्चैर्ब्रूयादित्यर्थः । हे मैत्रावरुण ! ‘प्रजापतये’ देवतायै ‘ह्यागानां’ पशूनां ‘हविषः’ अवदीयमानस्य अर्थाय ‘अनुब्रूहीति’ अनुवचनं कुर्विति तस्यार्थः ॥

आश्रावणानन्तरकर्त्तव्ये प्रैषेऽपि ‡ विशेषं विधत्ते— “प्रजा-पतय इति । अत्रापि मैत्रावरुणः सम्बोध्यः । अथ होतुः कर्त्तव्यं दर्शयति— “वषट्कृत मिति । होत्रा याज्यान्ते वषट्-कारे कृते सति ‘जुहोति’, अध्वर्युरिति शेषः ॥ १४ ॥ ३ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे प्रथमाध्यायस्य तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १४. २. २२ ।

† पृथगित्येकमिह च-पुस्तके । ज-पुस्तके त्वेष पाठो नास्ति ।

‡ ‘०कर्त्तव्यप्रैषेऽपि’—इति ज ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

तं वै माध्यन्दिने सुवने ऽभिषिञ्चति ।  
 माध्यन्दिने सुवन ऽत्राजिं धावन्त्येष वै प्रजा-  
 पतिर्य एष यज्ञस्तायते युस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता  
 एतम्बेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तन्माध्यत एवैतत्  
 प्रजापति मुञ्जयति ॥ १ ॥

अगृहीते माहेन्द्रे । एष वा ऽइन्द्रस्य निष्के-  
 वल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रोऽप्यस्यैतन्निष्केवल्य मेव  
 स्तोत्रं निष्केवल्यं शस्त्र मिन्द्रो वै यजमान-  
 स्तुदेनं स्व ऽएवायतने ऽभिषिञ्चति तस्मादगृहीते  
 माहेन्द्रे \* ॥ २ ॥

अथ † रथ मुपावहरति ‡ । इन्द्रस्य वृजो ऽसी-  
 ति वृजो वै रथ इन्द्रो वै यजमानस्तस्मादा-  
 हेन्द्रस्य वृजो ऽसीति व्वाजसा इति व्वाजसा  
 हि रथस्त्वयायं व्वाजं सेदित्यन्नं वै व्वाजस्त्व-  
 याय मन्न मुञ्जयत्वित्येवैतदाह ॥ ३ ॥

\* 'माहेन्द्रे'—इति ग, घ ।

† 'अथ'—इति क ।

‡ 'ति'—इति ग, घ ॥

तं धूर्गृहीत मन्तर्वेद्यभ्यववर्तयति । व्वाजस्य  
 नु प्रसवे मातरं मही मिल्यन्नं वै व्वाजो ऽन्नस्य  
 नु प्रसवे मातरं मही मिल्येवैतदाहादिति नाम  
 व्वचसा करामह ऽद्वतीयं वै पृथिव्यदितिस्तु-  
 स्मादाहादिति नाम व्वचसा करामह ऽद्विति  
 यस्या मिदं व्विश्वं भुवन माविवेशेत्यस्याः ण् ह्रीदः  
 सर्वं भुवन माविष्टं तस्यां नो देवः सविता धर्म  
 साविषदिति तस्यां नो देवः सविता यजमानः  
 सुवता मिल्येवैतदाह ॥ ४ ॥

अथाश्वानङ्गिरभ्युक्षति । स्रपनायाभ्यवनीय-  
 मानारूक्षपितान्वोदानीतानद्भ्यो ह वा ऽद्ये  
 ऽश्वः सुम्बभूव सो ऽद्भ्यः सम्भवन्नसर्वः समभव-  
 दसर्वो हि वै समभवत्तस्मान्न सर्वैः पङ्क्तिः प्रति-  
 तिष्ठत्येकैक मेव पाद मुदुच्यति तिष्ठति तद्यदेवा-  
 स्यावाप्स्वहीयत तेनैवैन मेतत् समर्हयति कृत्स्नं  
 करोति तस्मादश्वानङ्गिरभ्युक्षति स्रपनायाभ्यवनीय-  
 मानारूक्षपितान्वोदानीतान् \* ॥ ५ ॥

सो ऽभ्युक्षति\* । अस्वन्तरमृत मपु मेषजु मपा  
 मृत प्रशस्तिष्वश्वं भवत व्याजिन इत्यनेनापि  
 देवीरापो यो व ऊर्मिः प्रतूर्तिः ककुम्मान्वाज-  
 सास्तेनायं व्याजः सेदित्यन्नं वै व्याजस्तेनाय  
 मन्न मुञ्जयत्वित्येवैतदाह † ॥ ६ ॥

अथ रथं युनक्ति । सु दक्षिणायुग्य मेवाये  
 युनक्ति सव्यायुग्यं वा ऽत्रये मानुषि ऽथैवं  
 देवत्रा ‡ ॥ ७ ॥

सु युनक्ति । व्यातो वा मनो वेति न वै  
 व्यातात् किञ्चनाशीयो ऽस्ति न मनसः किञ्चना-  
 शीयो ऽस्ति तस्मादाह व्यातो वा मनो वेति  
 गन्धर्वाः सप्तविंशतिस्ते § ऽये ऽश्व मयुञ्जन्ति  
 गन्धर्वा ह वा ऽत्रये ऽश्वं युयुजुस्तद्ये ऽये ऽश्व  
 मयुजंस्ते त्वा युञ्जन्त्वित्येवैतदाह तेऽस्मिन् जव  
 मादधुरिति तद्ये ऽस्मिन् जव मादधुस्ते त्वयि  
 जव मादधत्वित्येवैतदाह ॥ ८ ॥

\* 'ति'—इति ग, घ ।

† 'ह'—इति ग, घ ।

‡ 'देवत्रा'—इति क; 'देवत्रा'—इति ग, घ ।

§ 'सप्तविंशतिः । ते'—इति क, ख ।



अथ सव्यायुग्यं युनक्ति । व्यातरहा भव  
 व्याजिन् युज्यमान इति व्यातजवो भव व्याजिन्  
 युज्यमान इत्येवैतदाहेन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियै धीति  
 यथेन्द्रस्य दक्षिणः श्रियैवं यजमानस्य श्रियै धीत्ये-  
 वैतदाह युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस इति  
 युञ्जन्तु त्वा देवा इत्येवैतदाहाते त्वष्टा पत्सु जवुं  
 दधात्विति नात्र तिरोहितमिवास्त्यथ दक्षिणा-  
 प्रष्टिं युनक्ति सव्याप्रष्टिं वा ऽअग्रे मानुषे ऽथैवं  
 देवरा \* ॥ ६ ॥

स युनक्ति । जवो युस्ते व्याजिन्निहितो  
 गुहा युः श्येने परीत्तो ऽअचरच्च व्यात इति  
 जवो युस्ते व्याजिन्नप्यन्यत्रापनिहितस्तेन न इमं  
 यज्ञं प्रजापति मुञ्जयेत्येवैतदाह तेन नो व्या-  
 जिन् बलवान् बलेन व्याजजिच्च भव समने च  
 पारयिष्णुरित्यन्नं वै व्याजो ऽन्नजिच्च न एध्यस्त्रिंश  
 नो यज्ञो देवसमन् इमं यज्ञं प्रजापति मुञ्जये-  
 त्येवैतदाह ॥ १० ॥

ते वा ऽएत ऽएव त्रयो युक्ता भवन्ति । त्रि-  
 वृद्धिं देवानां तद्वि देवत्राधिप्रष्टियुग एव चतुर्थी  
 ऽन्वेति मानुषो हि सतं यत्र दास्यन् भवति  
 तच्चतुर्थं मुपयुज्य ददाति तस्मादप्येतरस्मिन्यङ्ग  
 ऽएत ऽएव त्रयो युक्ता भवन्ति त्रिवृद्धिं देवानां  
 तद्वि देवत्राधिप्रष्टियुग एव चतुर्थी ऽन्वेति मानुषो  
 हि स तं यत्र दास्यन् भवति तच्चतुर्थं मुपयुज्य  
 ददाति \* ॥ ११ ॥

अथ बार्हस्पत्यं चरुं नैवारुं सप्तदशशरावं  
 निर्वपति† । अन्नं वा ऽएष उज्जयति यो ब्राज-  
 पेयेन यजते ऽन्नपेयं ह वै नामैतद्यद्वाजपेयं तद्य-  
 देवैतदन्नं मुदुजैषीत देवास्मा ऽएतत् करोति ॥ १२ ॥

अथ यद्बार्हस्पत्यो भवति । बृहस्पतिर्ह्येत मय  
 ऽउदुजयत्तस्माद्बार्हस्पत्यो भवति ॥ १३ ॥

अथ यन्नैवारो भवति । ब्रह्मा वै बृहस्पति-  
 रते वै ब्रह्मणा पच्यन्ते यन्नैवारास्तस्मान्नैवारो  
 भवति सप्तदशशरावो भवति सप्तदशो वै प्रजा-  
 पतिस्तत् प्रजापति मुज्जयति ॥ १४ ॥

\* 'ददाति'—इति क ।

† 'ति'—इति क ।

त मश्वानवघ्रापयति । व्याजिन इति व्याजि-  
 नो ह्यश्वास्तस्मादाह व्याजिन इति व्याजजित  
 इत्युक्तं वै व्याजो ऽज्जित इत्येवैतदाह व्याजः  
 सरिष्यन्त इत्याजिः हि सरिष्यन्तो भवन्ति  
 बृहस्पतेर्भागं मवजिघ्रतेति बृहस्पतेर्ह्येषु भागो  
 भवति तस्मादाह बृहस्पतेर्भागं मवजिघ्रतेति  
 तद्यदश्वानवघ्रापयतीम मुज्जयानीति तस्मादा ऽश्व-  
 श्वानवघ्रापयति ॥ १५ ॥ ४ ॥

॥ अति प्रथमप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [१.४.] ॥

अथ माध्यन्दिने सवने कर्त्तव्यः प्रयोगोऽभिधीयते ।—

तत्र, यजमानाभिषेकं माजिधावनं ( च \* ) प्राधान्येन विधत्ते  
 — “तं वै माध्यन्दिन इति । अभिषेकाजिधावनयोः स्वरूपं  
 सुस्तरत्र विशदोभविष्यति । “एष वा इति । ‘य एष यज्ञः’  
 त्वनत्रयात्मना ‘तायते’ विस्तार्यते, ‘एषः’ एव खलु स  
 ‘प्रजापतिः’, ‘यस्मात्’ ‘इमाः प्रजाः’ मनुष्याद्याः उत्पन्नाः  
 ‘एतर्हि’ इदानीम् ‘अपि’ ‘एत मेव’ यज्ञात्मकं प्रजापतिं  
 ‘अनु’-स्रज्ज्, प्रजा उत्पद्यन्ते । ‘तत्’ तेन माध्यन्दिने सवने  
 अभिषेकेण आजिधावनेन च यज्ञमध्ये एव तं ‘प्रजापतिं’ जित-  
 वान् भवतीति ॥ १ ॥

तत्र कालं विधत्ते— “अगृहीत इति । महेन्द्रदेवत्वे  
ग्रहे ‘अगृहीते’, माहेन्द्रग्रहात् पूर्वं मित्यर्थः । अत्र सूत्रम्—  
“महत्त्वतीयान्त इन्द्रस्य वज्र इति रथावहरणम्”—इति \* ।  
“एष वा इन्द्रस्य निष्कैवल्य इत्यादिकं वाक्यं पूर्ववद् व्याख्ये-  
यम् † । “स्व एवायतन इति । यजमानस्येन्द्रतादात्म्यादिन्द्रस्य  
यदसाधारणं माहेन्द्रग्रहादिलक्षणं स्थानम्, तद् यजमानस्यापि  
स्वकीयं भवतीति स्व-शब्दस्याभिप्रायः ॥ २ ॥

पूर्वं रथवाहने ‡ काष्ठविशेषे स्थापितम्, आजिधावनाय  
सञ्जीकर्तुं तस्य रथस्य तस्मात् काष्ठादवहरणं समन्त्रकं विधत्ते  
—“अथ रथ मिति । ‘उपावहरति’ ऊर्ध्वप्रदेशादवतारयेत् ।  
मन्त्रस्याय मर्थः § ;— हे रथ ! त्वम् ‘इन्द्रस्य वज्रोऽसि’ । वज्र  
एव हि स्फारथयूपमेदात् त्रिधा विभक्तः ; “इन्द्रो रथाय वज्रं  
प्राहरत्, स त्रेधा व्यभवत् ; स्फारस्तृतीयं, रथस्तृतीयं, यूप-  
स्तृतीयम्”—इति ॥ श्रुतेः । ‘वाजसाः’ वाज मन्त्रं सनोति  
ददातीति वाजसाः, अन्नदाता च भवसि । अतः ‘अयं’ यज-  
मानः ‘त्वया’ वज्रभूतेन ‘वाजम्’ अन्नं ‘सेत्’ सनोतिः सेधतेर्वा-  
रूपम्, सिनुयात् वध्नीयात्, साधयतु वेति ॥

तं मन्त्रं भागशोऽनूच्य व्याचष्टे— “वज्रो वा इति । वै-

\* का० श्रौ० सू० १४. ३. १ ।

† पुरस्तात् ३ब्रा० ४क० ( ८०३६ पं० १४ ) द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘विसृज्य संयन्तकं रथवाहणे करोति, अगस्त्यकर्म’—इति

का० श्रौ० सू० १५. ६. २७, २८ ।

§ वा० सं० ६. ५. १ ।

॥ ते० सं० ५. २. ६. ४१ ।

शब्दः सर्वतः प्रसिद्धिद्योतनार्थः । श्रुतिस्तूदाहृता ; मन्त्र-  
व्याख्यानैर्नैव गतार्थं मन्यत् ॥ ३ ॥

धूर्गृहीतस्य रथस्य वेदिमध्येऽभ्यावर्त्तनं समन्त्रकं विधत्ते—  
“तं धूर्गृहीत मिति । धूरिति अश्वबन्धनस्थानं युगम् , ‘अस्त-  
र्वेदि’ सौमिकवेदिमध्ये प्रादक्षिण्येनानयेदित्यर्थः । अत्र सूत्रम्—  
“दक्षिणेन चात्वालं भावर्त्तयति वाजस्येति”—इति \* ।

धूर्गृहीत मिति † मन्त्रस्यार्थः ; — ‘वाजस्य’ अन्नस्य ‘प्रसवे’  
प्रेरणे अनुष्ठानविषये ‘करामहे’—इति ‡ सम्बन्धः । ‘मात-  
रम्’ अन्नस्य निर्मात्री, ‘महीं’ वेदिरूपां पृथिवीम् , ‘अदितिं  
नाम’ अखण्डनीया मेव ‘वचसा’ वेदवाक्येन मन्त्रेण ‘करा-  
महे’ अन्नप्रदात्रीं करवामहे ‘इति’ । ‘यस्यां’ पृथिव्याम् ‘इदं  
विश्वं भुवनं’ सर्वं भूतजातम् “आविवेश” ‘आविष्टम्’ । ‘तस्यां’  
पृथिव्या मेव ‘सविता’ प्रसविता ‘देवः’ ‘नः’ अस्माकं ‘धर्म’  
धरणं मनुष्ठानं ‘साविष्टत्’ अनुजानातु । मन्त्रप्रतिपाद्यं मनूय  
व्याचष्टे—“अन्नं वै वाज इति । व्याख्यातम् § ॥ ४ ॥

अथाश्वानां प्रोक्षणं तत्कालञ्च विधत्ते— “अथाश्वानिति ।  
‘स्नपनाय’ प्रक्षालनाय जलाशयम् ‘अभि’-लक्ष्य ‘नीयमानान्’,  
‘स्नपितान्’ कृतस्नानान् , ‘उदानीतान्’ आगतान् वा प्रोक्षेत् ।  
स्नपनार्थं गमनकाले तदुत्तरकाले वा प्रोक्षणं मित्यर्थः ॥  
अग्निः क्रियमाणं प्रोक्षणं प्रशंसति— “अग्नो ह वा इति ।

\* का० औ० सू० १४. ३. २ ।

† वा० सं० ६. ५. २ ।

‡ ‘करवामहे’—इति च, छ ।

§ पुरस्तात् ३ ब्रा० ३ क० ( ए० ३८ पं० १० ) द्रष्टव्यम् ।

॥ का० औ० सू० १४. १. ३ ।

अङ्गोऽश्वोत्पत्तिः प्रसिद्धा ; “अप्सुयोनिर्वा अश्वः”—इति \* श्रुतेः ।  
यस्मादप्सु प्रतिष्ठितोऽश्वः , तस्मादिदानीं भूमावश्वो न सर्वैः  
पादैरवतिष्ठते । तदेवाह—“एकैक मिति । ‘उदच्य’ उदयस्ये-  
त्यर्थः । “तद्यदेवेति । ‘तत्’ तत्र आसु कारणभूतासु ‘अप्सु’  
यदेवाङ्गम् ‘अहीयत’ हीन मवशिष्ट मभूत् , ‘तेन’ अङ्गेन  
‘एनम्’ अश्वम् ‘एतत्’ एतेन प्रोक्षणेन कृत्स्नं सर्वपादयुक्तं  
‘करोति’ कृतवान् भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रोक्षणविधि मनूय मन्त्रद्वयं विधत्ते— “सोऽभ्युक्षतीति ।  
तत्र “अपस्वन्तर”—इति मन्त्रेण † , “देवीरापः”—इत्यनेनापि ‡  
प्रोक्षणं कुर्यात् । ‘अपि’—शब्दः समुच्चयवाची ; मन्त्रद्वयेन कुर्यात् ।  
अत्र सूत्रम्— “अश्वान् प्रोक्षत्यपोवसानीयमानान् स्नातान्  
वागतानप्स्वन्तरिति , देवीराप इति वा, समुच्चयो वा”—इति § ।

मन्त्रयोरर्थः ;— ‘अप्सु’ मध्ये ‘अमृतम्’ अपमृत्युनिवारकं  
रोगनिवारकं च वीर्यं वर्त्तते , हे ‘वाजिनः !’ अन्नवन्तः ॥  
‘अश्वाः !’ ‘अपां’ सम्बन्धिषु ‘प्रशस्तिषु’ अमृतत्वे भेषजत्व-  
सदृशीष्वन्यास्वपि गुणवत्त्वप्रशंसासु प्रशस्तप्रदेशेषु वा यूयं  
सम्बद्धा भवतेति । ‘देवीः’ द्योतमानाः , हे ‘आपः !’ ‘वः’  
शुष्माकं ‘यः’ ‘जर्मिः’ जलसङ्घः ‘प्रतृप्तिः’ प्रतरणशीलः ,  
निमज्जनेन प्रसक्तस्थोपद्रवस्य प्रकर्षेण हिंसकः , ‘ककुद्भान्’  
ककुच्छब्देन वृषभस्कन्धे उन्नतप्रदेश उच्यते , तत्समानैरुदक-

\* श्रु० ब्रा० १३. २. २. १६ ।

† वा० सं० ६. ६. १ ।

‡ वा० सं० ६. ६. २ ।

§ का० श्रौ० सू० १४. ३. ३ , ४ , ५ ।

॥ ‘भवन्तः’—इति च ।

निचयैस्तान्, 'वाजसाः' अन्नस्य संसक्ताः, य एवंविधः 'तेन'  
'अयम्' अन्नः प्रोक्षितः सन् 'वाजम्' अन्नं 'सेत्' सिनुयात्,  
साधयतु वेति । तत्र द्वितीयमन्त्रगतं 'वाजं सेत्'—इति षट्  
व्याचष्टे— "अन्नं वा इति ॥ ६ ॥

अथाश्वेन रथयोजनं विधत्ते— "अथ रथ मिति \* ।  
तत्र, 'अथे' प्रथमं 'दक्षिणा' दक्षिणतः 'युग्यं' युगस्य वोढा-  
रम् अश्वं युञ्ज्यात् । "सव्यायुग्य मिति । अस्याय मर्थः ;—  
श्लोके 'मानुषे' मनुष्यसम्बन्धिनि कर्मणि 'सव्यायुग्यं' सव्यभाग-  
योजनीय मेवाश्वं प्रथमं युञ्जन्ति । दीर्घश्चान्दसः † । अत्र  
तु दक्षिणस्य प्रथमं योजनम्, 'एवं देवता' देवयोग्य मेव ‡  
कर्म कृतवान् भवतीति । 'देवता' देवशब्दात् देयार्थे सप्त-  
म्यर्थे वा ता-प्रत्यय ॥ ७ ॥

योजनं मनूय मन्त्रं विधत्ते— "स युनक्ति वातो वेति § ।  
'वा'-शब्दः समुच्चयार्थः । वायुश्च मनूय सप्तविंशतिसङ्ख्याकाः  
'गन्धर्वाः' नक्षत्राणीत्यर्थः । 'ते' सर्वे 'अथे' अस्मत्तः पुरा  
रथे 'अश्वं' योजितवन्तः । 'ते' पुनः 'अस्मिन्' अश्वे 'जवं'  
वेगम् 'आदधुः' स्थापितवन्तः । लोड्ये लिट् ; अस्मिन् अश्वे  
त्वयि जवं मादधत्विति । व्याचष्टे— "न वै वातादिति ।  
'वाताद्' वायोः 'मनसः' च 'आशीयः' आशुतरं किञ्चिदपि  
वस्तु अतिवेगवत् 'न अस्ति' । उत्तरवाक्यं स्पष्टम् ॥ ८ ॥

\* का० श्रौ० सू० १४. ३. ६ ।

† पा० सू० ६. ३. १३७ ।

‡ 'प्रथमयोजनेन देवयोग्य मेव'—इति क ।

§ वा० सं० ६. ७. १ ।

अथ सव्यस्याश्वस्य रथे योजनं समन्त्रकं विधत्ते— “अथ सव्यायुग्य मिति \* । ‘सव्यायुग्यं’ सव्ये भागे योजनीयम् । अच्-प्रत्ययश्चान्दसो द्रष्टव्यः । हे ‘वाजिन्’ अश्व ! युज्यमानस्त्वं ‘वातजवः’ † वायुवेगो ‘भव’ । ‘इन्द्रस्य’ अश्वः ‘इव’ ‘दक्षिणः’ प्रवृद्धः पुष्टाङ्गः त्वं ‘श्रिया’ शोभनया युक्तः ‘एधि’ भव । यदा , श्री-शब्दात् परस्य सोर्यादेशः ; ‘यथेन्द्रस्य’ अश्वस्य श्रीर्भवति , ‘एवं यजमानस्य’ श्रीर्भव । ‘विश्ववेदसः’ सर्वज्ञाः ‘मरुतो देवाः’ ‘त्वा’ त्वाम् अश्वं ‘युञ्जन्तु’ । ‘त्वष्टा’ ‘ते’ तव रथे युक्तस्व ‘पत्न्यु’ पादेषु ‘जवं’ वेगं ‘दधातु’ ‘इति’ । ‘नात्र तिरहित मिति । मन्त्रगतचतुर्थपादे अनवबुद्धोऽर्धो नास्तीत्यर्थः ‡ ॥

तृतीयस्याश्वस्य योजनं विधत्ते— “अथ दक्षिणेति । प्रष्टिर्नाम पादत्रयोपेतो भोजनपात्रादेराधारः § , तद्वत् ॥ अश्वे-

\* का० श्रौ० सू० १४. ३. ७ ।

† ‘वातरंहाः’—इति च । ‡ वा० सं० ६. ८. १ ।

§ त्रिपदीति यावत् । ‘भोजनपात्रादिवदाधारः’—इति च-पाठः ; ‘भोजनपात्रादिकाधारः’—इति ज । ‘प्रष्टिः पादत्रयोपेतो भोजनपात्रस्याधारः’—इति ते० सं० १. ७. ८. ७ सा० भा० ।

॥ “प्रष्टिर्वाहिनं युनक्ति , प्रष्टिर्वाहो वे देवरथः”—इति ते० ब्रा० १. ३. ६. ४ ; ७. ६. १ “यथा प्रष्टिर्मिर्याति ताड्येव तत्”—इति च तत्रैव ३. ८. २१. ३ । “प्रष्टिर्वाहो रथो दक्षिणासङ्घट्टे”—इति च तत्रैव १. ७. १. ५ । ऋक्संहितायां च “अयुग्मं प्रष्टिर्वहति”—इति १. ३६. ६ । “ऋक्षाश्वः प्रष्टिर्मिरम्बरीषः”—इत्यस्या ऋचो भाष्ये सायण व्याह—‘पार्श्वस्थोः’—इति ऋ० सं० १, १००. १७ । अथर्वसंहिता-यान्तु पञ्चाश्वयुक्तस्य रथस्याप्यस्ति श्रवणम् । तदथा १०. ४. ८. ८—



स्त्रिभिर्युक्तं रथं कुर्यात् \* । अतः पूर्वं मश्वद्वयस्य युक्तत्वात्  
तृतीयस्य प्रष्टित्वं युक्तम् । अतः एवापस्तम्बः— “प्रष्टिवाहितं  
रथं युनक्ति”—इति । तृतीयेनाश्वेन रथं युञ्ज्यादित्यर्थः ।  
तं ‘दक्षिणा’ दक्षिणतः प्रथमं युञ्ज्यात् । “सव्याप्रष्टि मित्वादि,  
पूर्ववद् व्याख्येयम् † ॥ ८ ॥

योजनं मनूय मन्त्रं विधत्ते—“स युनक्ति जवो य इति ‡ ।  
हे वाजिन् ! ‘ते’ तव हृदये ‘यः’ ‘जवः’ वेगः ‘गुहा’ गुहायां  
गूढप्रदेशे ‘निहितः’ स्थापितः, ‘श्वेने’ पक्षिणि च यो जवः  
‘परीतः’ व्यवस्थितः, यो वेगो ‘वाते’ वायौ ‘अचरत्’ तिष्ठति ।  
हे ‘वाजिन् ! तेन बलेन बलवान् त्वं ‘नः’ अस्माकं बलेन ‘वाज-  
जित् भव’ अन्नस्य जेता दाता भव । ‘समने’ यज्ञरूपे  
सङ्गामे पारयिष्णुः पारयिता पारगमनशीलश्च भवेति ॥

त मर्मं मन्त्रं व्याचष्टे—“जवो यस्त इति । “अप्यन्य-  
त्वापनिहित इति । ‘अन्यत्’ गुहाशयेत्याद्युपलक्ष्यते, प्रदेशा-  
न्तरे ‘अपनिहितः’ निक्षिप्तः । पूर्वार्धस्य तात्पर्यं माह—“तेन  
न इति । यज्ञप्रजापत्योस्तादात्म्यं युक्तम् । ‘समने पारयिष्णुः’  
—इत्यस्याभिप्रायं माह—“अस्मिंश्च नो यज्ञ इति । ‘देवसमने’  
समन मिति सङ्गामनाम §, देवसमाजलक्षणेऽस्मिन् यज्ञे ।  
गतार्थं मन्थत् ॥ १० ॥

“पञ्चवाह्यौ वृहद्वयं मेघां प्रष्टयो युक्ता अमुसंवहन्ति ।

अथात मस्य दृष्टे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः”—इति ।

\* का० श्रौ० सू० १४. ३. ८ ।

† ५७ पृ० १२ पं० अथ दक्षिणेत्यादि द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० खं० ६. ६. १ ।

§ निघ० २. १७. १६ ।

उक्तानां मन्त्रानां त्रित्वसङ्ख्या मन्त्रेषु प्रशंसति— “ते वा एत इति । त्रित्वत्वं त्रिरावृत्तिः । दैवे कर्मणि प्रोक्षणादौ प्रसिद्धे ‘हि’-शब्दार्थः । चतुर्थस्याश्वस्यानुगमनं विधत्ते— “अधिप्रष्टीति । तृतीयस्याश्वस्य युगप्रदेशे । ‘अधिः’ सप्तम्यर्था-नुवादी । मन्त्रेण युक्तः सन्नेवानुगच्छेत् । यस्मात् स चतुर्थो ‘मानुषः’ मनुष्यसम्बन्धी ; मानुषे हि कर्मणि चतुर्णां वाहनां योजनं दृष्टम् । अत्र मानुषरूपव्युदासाय तस्यायोजन मिति । अत्र सूत्रम्— “अयुक्तश्चतुर्थोऽनुगच्छति”—इति \* ।

यदैष चतुर्थ्युक्तो † रथोऽध्वर्यवे दीयते, तस्मिन् प्रदान-समये चतुर्थस्य रथे योजनं दर्शयति— “तं यत्र दास्यन्मिति । तदुक्तं सूत्रे— “चतुर्थं युक्ताध्वर्यवे ददाति”—इति ‡ । उक्त मर्थं मन्यत्राप्यतिदिशति— “तस्मादपीति । ‘इतरस्मिन्’ राज-सूयादावित्यर्थः । शिष्टं गतार्थम् ॥ ११ ॥

विधत्ते— “अथ बार्हस्पत्य मिति । अत्र द्रव्यदेवताविशिष्ट-चक्रविधिः । “सप्तदशशराव मिति । सप्तदशशरावपरिमितम् । मुष्टिप्रतिनिधित्वेन शरावस्य तत्सङ्ख्यायाश्च पृथग्विधानात् प्रकृति-गतमुष्टितत्सङ्ख्यानिवृत्तिः । तथाच कात्यायनः— “माध्यन्दि-नीयैः सह नैवारचरुर्बाहस्पत्यः सप्तदशशरावः, सङ्ख्यामुष्टि-निवृत्तिः”—इति § । चक्रविधिं प्रशंसति -- “अन्नं वा एष इति ।

\* का० श्रौ० सू० १४. ३. ६ ।

† ‘यजुर्युक्तो’—इति ङ, क, ज ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ४. १३ ।

§ का० श्रौ० सू० १४. २. २६, २७ । कर्कोपाध्यायमते तु ‘न यजतिशब्दान्’—इति तदुत्तरसूत्रसंस्कारस्यादिह न सङ्ख्याबाधः ।

“तद्देवेत्यादि । तत्र वाजपेये ‘यत्’ ‘एतत्’ अन्नम् ‘उदजै-  
षीत्’, पुरा बृहस्पतिर्गनेन क्रतुना यदेतत्फलभूतं मन्त्रं साधित-  
वान्, ‘तदेव’ अन्नम् ‘अस्मै’ बृहस्पतये ‘एतत्’ एतेन चरुणा  
‘करोति’ ॥ १२ ॥

देवताशरावसङ्ख्याविधित्वय मनूय प्रशंसति— “अथ यदि-  
त्यादिना । पुरा बृहस्पतिः ‘एतं’ चरुं साधितवान्, अतो-  
ऽस्य चरोर्बृहस्पतिर्देवतेति युक्तम् ॥ १३ ॥

“अथ यन्नेवार इति । “नीवारा इति । यत् ‘एते’  
‘ब्रह्मणा’ एव ‘पच्यन्ते’, न तु कृष्टक्षेत्रीमशाल्यादिवत्, अतः काल-  
वशात् पक्वा नीवाराः ब्रह्मरूपस्य बृहस्पतेर्योग्या इत्यर्थः ॥ १४ ॥

विधत्ते— “तं मश्वानवघ्रापयतीति \* । ‘तं’ चरुम्  
‘अश्वान्’ रथे युक्तान् अवघ्रापयेत् । “घ्रा गन्धोपादाने” † ।  
तस्य मन्त्रमाह— “वाजिन इति ‡ । हे ‘वाजिनः’ ‘अश्वाः !’  
‘वाजजितः’ अन्नस्य जितारः, ‘वाजः’=‘अन्नम्’ अन्नसाधनं  
माजिं प्रति संस्थिता यूयम्, ‘बृहस्पतेर्भागम्’ ‘अवजिघ्रत’  
अवाङ्मुखा गन्धोपादानं कुरुतेति तस्यार्थः § ।

तद् व्याचष्टे— “वाजिनो ह्यश्वा इति । “वाजि” हि सरि-  
ष्यन्त इति । साध्यभूतान्नवाची वाजशब्दः उपचारात् तत्साधने  
आजौ वर्तत इत्यर्थः । अवघ्रापणस्य प्रयोजनमाह— “तद्य-

\* का० औ० सू० १४. ३. १० ।

† आ० प० ६२६ घा० ।

‡ वा० सं० ६. ६. २ ।

§ ‘अवघ्राणश्चाश्वसंस्कारः, आजिघ्रावनार्थः । ततश्च विस्मरणे  
तदुत्तरकार्जं न भवति’—इति का० औ० सू० १४. ३. १० वृत्तिः ।

दश्वानिति । इमं यज्ञं साधयामीति बुद्ध्या 'अश्वान्'  
अवघ्रापयेत् ॥ १५ ॥ ४ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनयतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

( अथ पञ्चमं ब्राह्मणम्. )

तद्युदाजिं धावन्ति । इम मेवैतेन लोक  
मुज्जयत्यथ यद् ब्रह्मा रथचक्रे सामे गायति  
नाभिदघ्न ऽउद्विते ऽन्तरिक्षलोक मेवैतेनोज्जयत्यथ  
यद्युपं रोहति देवलोक मेवैतेनोज्जयति तस्मा-  
द्वा ऽएतत् त्रयं क्रियते \* ॥ १ ॥

स ब्रह्मा रथचक्र मधिरोहति । नाभिदघ्न ऽउ-  
द्वितं देवस्याहुं सवितुः सवे सत्यसवसो बृह-  
स्पतिरुत्तमं नाक् रुहेय मिति यदि ब्राह्मणो  
युजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्मा हि ब्राह्मणः † ॥ २ ॥

\* 'क्रियते'—इति ख ।

† 'ः'—इति ग, घ ।

अथ यदि राजन्यो यजते । देवस्याहुः  
सवितुः सवे सत्यसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकं रुहेय  
मिति क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः ॥ ३ ॥

त्रिः सामाभिगायति । त्रिरभिगीयावरोहति  
देवस्याहुः सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पते-  
रुत्तमं नाकं मरुह मिति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म  
हि बृहस्पतिर्ब्रह्म हि ब्राह्मणः \* ॥ ४ ॥

अथ यदि राजन्यो यजते । देवस्याहुः सवितुः  
सवे सत्यप्रसवस इन्द्रस्योत्तमं नाकं मरुह मिति  
क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः ॥ ५ ॥

अथ सप्तदश दुन्दुभीननुवेद्यन्तुं सुम्निन्वन्ति ।  
प्रतीच आग्नीध्रात् प्रजापतिं वा ऽएष उज्जयति  
यो व्वाजपेयेन यजते व्वाग्वै प्रजापतिरेषा वै  
परमा व्वाग्या सप्तदशानां दुन्दुभीनां परमा  
मेवैतद्वाचं परमं प्रजापति मुज्जयति सप्त-  
दश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत् प्रजापति  
मुज्जयति ॥ ६ ॥

अथैतेषां दुन्दुभीनाम् \* । एकं यजुषाहन्ति  
तत् सर्वं यजुषाहता भवन्ति ॥ ७ ॥

स आहन्ति । बृहस्पते व्वाजं जय बृह-  
स्पतये व्वाचं व्वदत बृहस्पतिं व्वाजं जापय-  
तेति यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्मा हि बृहस्पति-  
ब्रह्मा हि ब्राह्मणः † ॥ ८ ॥

अथ यदि राजन्यो यजते । इन्द्र व्वाजं  
जयेन्द्राय व्वाचं व्वदतेन्द्रं व्वाजं जापयतेति  
क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः ‡ ॥ ९ ॥

अथैतेष्वजिसृत्सु रथेषु । पुनरुसृतेष्वेतेषां  
दुन्दुभीनामेकं यजुषोपावहरति तत् सर्वं यजु-  
षोपावहता भवन्ति ॥ १० ॥

स उपावहरति । एषा वः सासत्या संवा-  
गभूयया बृहस्पतिं व्वाजं मजीजपताजीजपत § बृह-  
स्पतिं व्वाजं व्वनस्पतयो विमुच्यध्व मिति

\* '०नाम्—इति ग, घ ।

† 'ब्राह्मणः'—इति ग, घ ।

‡ 'राजन्यः'—इति क । 'राजन्यः'—इति ख ।

§ 'मजीजपत'—इत्येव ग-पुस्तके ।

यदि ब्राह्मणो यजते ब्रह्म हि बृहस्पतिर्ब्रह्म  
हि ब्राह्मणः \* ॥ ११ ॥

अथ यदि राजन्यो यजते । एषा वः सा  
सत्या संवागभूद्येन्द्रं व्याज मुजीजपताजीज-  
पतेन्द्रं व्याजं व्वनस्पतयो विमुच्यध्व मिति  
क्षत्रं हीन्द्रः क्षत्रं राजन्यः † ॥ १२ ॥

अथ वेद्यन्तात् । राजन्य उदङ् सप्तदश  
प्रव्याधान् प्रविध्यति यावान्वा ऽएकः प्रव्याधस्ता-  
वांस्तिर्यङ् प्रजापतिरथ यावत् सप्तदशप्रव्याधास्ता-  
वानन्वङ् प्रजापतिः ॥ १३ ॥

तद्यद्राजन्यः प्रविध्यति । एष वै प्रजापतिः  
प्रत्यक्षतमां यद्राजन्यस्तस्मादेकः सन् बहूना मीष्टे  
यदेव चतुरक्षरः प्रजापतिश्चतुरक्षरो राजन्य-  
स्तस्माद्राजन्यः प्रविध्यति सप्तदश प्रव्याधान्  
प्रविध्यति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत् प्रजापति  
मुज्जयति ‡ ॥ १४ ॥

अथ यं यजुषा युनक्ति । तं यजमान आति-

\* 'ब्राह्मणः'—इति ग, घ ।

† 'राजन्यः'—इति क, ख ।

‡ 'ति'—इति क ।

ष्ठति देवस्याहुः सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृह-  
स्पतर्वाजजितो व्वाजं जेष मिति ॥ १५ ॥

तद्यथैवादी बृहस्पतिः । सवितारं प्रस-  
वायोपधावत् सविता वै देवानां प्रसवितेदं मे  
प्रमुव त्वत्प्रसूत इद मुज्जयामीति तदस्मै स-  
विता प्रसविता प्रामुवत्तत्सवितुप्रसूत उदजयदेव  
मेवैष एतत् सवितार मेव प्रसवायोपधावति स-  
विता वै देवानां प्रसवितेदं मे प्रमुव त्वत्प्रसूत  
इद मुज्जयानीति तदस्मै सविता प्रसविता प्रसौति  
तत् सवितुप्रसूत उज्जयति \* ॥ १६ ॥

अथ यद्यध्वर्योः । अन्तेवासी वा ब्रह्मचारी  
वैतद्यजुरधीयात् सो ऽन्वास्थाय व्वाचयति व्वाजिन  
इति व्वाजिनो ह्यश्वस्तस्मादाह व्वाजिन इति  
व्वाजजित इत्यन्नं वै व्वाजो ऽन्नजित इत्येवैत-  
दाहाध्वन स्क्लुवन्त इत्यध्वनो हि स्क्लुवन्तो  
धावन्ति योजना मिमाना इति योजनशो हि  
मिमाना अध्वानं धावन्ति काष्ठां गच्छतेति  
यथैनानन्तरा नाष्टा रुक्षांसि न हिष्ट्युर्व



मेतदाह धावत्याजि माम्नन्ति दुग्दुभीनभि साम  
गायति ॥ १७ ॥

अथैताभ्यां जुगतीभ्याम् । जुहोति वानु वा  
मन्त्रयते यदि जुहोति यद्यनुमन्त्रयते समान  
एव बन्धुः ॥ १८ ॥

स जुहोति । एष ख्व्वाजी क्षिपणिं तुर-  
ण्यति यीवायां बद्धो ऽपि कक्ष् ऽआसुनि । क्रतुं  
दधिक्रा अनु सस्सुनिष्यदत् पथा \* मुक्काण्खन्वा-  
पनीफणात् स्वाहा ॥ १९ ॥

उत्तु \*स्म । अख् द्रवतस्तुरण्यतः पथं न  
वे रनुवाति प्रगर्हिनः । श्येनख्वेव ध्रुजतो ऽअ-  
क्षसम् परि दधिक्राव्ण सहोर्जा तरिव्रतः  
स्वाहेति † ॥ २० ॥

अथोत्तरेण त्रिचेन । जुहोति वानु वा  
मन्त्रयते इयं तद्यस्माज्जुहोति वानु वा मन्त्र-  
यते यदि जुहोति यद्यनुमन्त्रयते समान एव  
बन्धुरेतानेवैतदुश्वान् धावत उपवाजयत्येतेषु व्वीर्यं

\* 'पथा'—इति ग, घ ।

† 'स्वाहेति'—इति क, 'स्वाहेति'—इति ख ।

दधाति तिस्रो वा ऽइमाः पृथिव्य इय महैका  
दे ऽअस्याः पुरे ता एवैतदुज्जयति ॥ २१ ॥

सो ऽनुमन्त्रयते । शुं नो भवन्तु व्वाजिनो  
हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः \* । जम्भ-  
यन्तो ऽहिं वृक् रक्षांसि सनेम्यस्मद् युयव-  
न्नमीवाः ॥ २२ ॥

ते नो ऽनुर्वन्तः । हवनश्रुतो हवं विश्वे  
शृण्वन्तु व्वाजिनो मितद्रवः । सहस्रसा मेधु-  
साता सनिष्यवो महो ये धनं समिधेषु  
जभिरे † ॥ २३ ॥

व्वाजे वाजे ऽवत । व्वाजिनो नो  
धनेषु विप्रा ‡ अमृता ऋतज्ञाः । अस्य गन्धः  
पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानै-  
रिति § ॥ २४ ॥

अथ बार्हस्पत्येन चरुणा प्रत्युपतिष्ठते । त  
मुपस्पृशत्यन्नं वा ऽएष उज्जयति यो व्वाजपेयेन

\* 'स्वर्काः'—इति ग, घ ।

† 'रे'—इति ग, घ ।

‡ 'विप्रा'—इति क ।

§ 'रिति'—इति ख, 'रिति'—इति ग, घ ।

युजते ऽन्नपेयं ह वै नामैतद्यज्ञापेयं तद्यदेवै-  
तदन्नं सुदुजैषीतेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सु-  
स्पृशते तदात्मन् कुरुते ॥ १५ ॥

स उप स्पृशति । आ मा व्वाजस्य प्रसवो  
जगम्यादित्यन्नं वै व्वाज आ मान्नस्य प्रसवो  
जगम्यादित्येवैतदाहेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपेऽ  
इति द्यावापृथिवी हि प्रजापतिरा मा गन्तां  
पितरामातरा चेति मातेव च हि पितेव च  
प्रजापतिरा मा सोमो ऽअमृतत्वेन गम्यादिति  
सोमो हि प्रजापतिः ॥ १६ ॥

त मुश्वानुवप्रापयति । व्वाजिन इति व्वा-  
जिस्तेन ह्यग्वास्तस्मादाह व्वाजिन इति व्वाज-  
जित इत्यन्नं वै व्वाजो ऽन्नजित इत्येवैतदाह  
व्वाजं समुवांस इति सरिष्यन्त इति वा  
ऽअग्न्य ऽआह सरिष्यन्त इव हि तर्हि भुवन्त्य-  
थात्र समुवांस इति समुवांस इव ह्यत्र  
भुवन्ति तस्मादाह समुवांस इति बृहस्पते-  
र्भागं भुवजिघ्रतेति बृहस्पतेर्ह्यग्नौ भागो भुवति  
तस्मादाह बृहस्पतेर्भागं भुवजिघ्रतेति निमृजाना

इति तद्युजमाने व्वीर्यं दधाति तद्यदुश्वानवघ्ना-  
पयतीम मुञ्जयानीति वा ऽअग्रे ऽवघ्नापयत्य-  
थात्रेम मुदजैष मिति तस्मादा ऽअश्वानवघ्ना-  
पयति \* ॥ २७ ॥

अथैतेषा माजिसृताः † रथानाम् । एक-  
स्मिन् वैश्यो वा राजन्यो वोपास्थितो भवति स  
व्वेदेरुत्तरायाः श्रोणा ऽउपविशत्यथाध्वर्युश्च युज-  
मानश्च पूर्व्या द्वारा मधुग्रहं मादाय निष्क्राम-  
तस्तं वैश्यस्य वा राजन्यस्य वा पाणावाधत्तो  
ऽथ नेष्टापरया द्वारा सुराग्रहानादाय निष्क्रा-  
मति स जघनेन शलां पर्येत्यैकं वैश्यस्य वा  
राजन्यस्य वा पाणावादुधदाहानेन त ऽइमं  
निष्क्रीणामीति सत्यं वै श्रौज्योतिः सोमो  
ऽनृतं पाप्मा तमः सुरा सत्यमेवेतच्छ्रियं ज्योति-  
र्युजमाने दधात्यनृतेन पाप्मना तमसा वैश्यं  
विध्यति तैः स यं भोगं कामयते तं कुरुते  
ऽथैतः सहिरण्यपात्रमेव मधुग्रहं ब्रह्मणे

\* 'ति'—इति क ।

† 'माजिश्रिताः'—इति ग, घ ।

ददाति तं ब्रह्मणे दृढदमृत मायुरात्मन् धत्ते  
ऽमृतं ह्यायुर्हिरण्यं तेन स यं भोगं कामयते  
तं कुरुते ॥ २८ ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [१.५.] ॥

विहित माजिधावन मनुष्य प्रशंसति — “तद् यदिति ।  
आजिधावनेन भूलोकं जितवान् भवतीत्यर्थः \* । अथ साम-  
गानं यूपारोहणं च सार्थवादं विधत्ते — “अथ यद् ब्रह्म-  
त्यादि । ‘ब्रह्मा’ नामर्त्विक् ‘नाभिदन्ने’ नाभिमात्रे ‘उच्चिते’  
उन्नते ‘रथचक्रे’ स्थित्वा ‘साम’ गायेत् । ‘एतेन’ भूम्यूर्ध्व-  
प्रदेशयोर्मध्यदेशे गीयमानेन साम्ना ‘अन्तरिक्षलोकं’ जितवान्  
भवति । चक्रादुन्नतस्य सप्तदशारन्निपरिमितस्य यूपस्यारोहणेन  
‘तृतीयलोक मेव स्वाधीनं कृतवान् भवति ॥ १ ॥

ब्रह्मणो रथचक्रे गानं विहितम्, तत् आरोहण मन्त्रेण  
न सम्भवतीति तदिदानीं विधत्ते — “स ब्रह्मेति † । तत्र  
वाजपेथे द्वावधिकारिणौ, ब्राह्मणो राजन्यश्चेति ; तत्र यज-  
मानभेदेन मन्त्रभेदं विवक्षुः प्रथमं ब्राह्मणपथे मन्त्रं पठति —  
“देवस्याह मिति ‡ । ‘सत्यसवसः’ सत्यानुज्ञानस्य ‘सवितुः’  
सर्वेषां प्रसवितुर्देवस्य ‘सवे’ प्रसवे अनुज्ञायां वर्त्तमानो हि ‘हृह-

\* ‘आजिगश्चेन सङ्गोच्यते, सङ्गं या व्यहमहमिकया शीघ्रं धावन्ति ।  
सङ्गोधावन माजिगश्चेनोच्यते’ — इति का० श्रौ० १४. ३. २१ सूत्रवृत्तिः ।

† का० श्रौ० सू० १४. ३. १२ ।

‡ वा० सं० ६. १०. १ ।

स्यतेः' सम्बन्धिनः 'उत्तमम्' उत्कृष्टं 'नाकं' स्वर्गं 'रुहेयम्' भारो-  
हणं करवै । रुहेराशीर्लिङि, 'लिङ्याशिष्यङ्'-इत्यङ् \* ।  
“ब्रह्महीति । देवानां मध्ये ब्रह्मस्यतिर्ब्राह्मणजातिः ॥ २ ॥

राजन्यपक्षेऽपि मन्त्रं पठति— “अथ यदीति । ब्रह्मस्यते-  
रित्यस्य स्थाने इन्द्रस्येति विशेषः † । अर्थस्तु पूर्ववत् । “सत्तं  
हीन्द्र इति । देवानां मध्ये इन्द्रः क्षत्रियजातिः ॥ ३ ॥

विहितस्य ब्रह्मकर्तृकस्य सामगानस्य त्रित्वसङ्ख्यां विधत्ते—  
“त्रिः सामेति ‡ । ‘त्रिः’ त्रिवार मित्यर्थः । “देवस्य वयम्”  
—इति, “रुहेम”—इति च बहुवचनान्तः शाखान्तरीयो मन्त्रः ।  
तथैव कात्यायनोऽपि सूत्रयामास— “देवस्य वय मिति ब्रह्मा  
रथचक्रा मारोहति”—इति § । अत्र “अरुहम्”—इति, “रुहे-  
यम्”—इति च एकवचनान्तत्वेन संहिताया माम्नानात् ॥ त मनु-  
स्यत्वैव ब्राह्मणे विहित मित्यविरोधः ।

प्रसङ्गाद् ब्रह्मणो रथावरोहणं वधत्ते— “त्रिरभिगीयाव-  
रोहतीति । प्रयोगक्रमस्तु सूत्रे दर्शितः ¶ — “ब्रह्मा त्रिः साम  
गायति, दुन्दुभीन् वादयति, एषस्य इति प्रत्युचं जुहोति”—

\* पा० सू० ३. १. ८६ ।

† वा० सं० ६. १०. २ । का० औ० सू० १४. ३. १३ ।

‡ का० औ० सू० १४. ४. १ ।

§ का० औ० सू० १४. ३. १२ । अस्मदृष्टपुस्तके तु देवस्याह  
मित्येकवचनान्त एव पाठः ।

॥ माध्यन्दिन्या मिति यावत् ।

¶ का० औ० सू० १४. ४. १—८ । अत्र तु कात्यायनस्य च देवस्याह  
मिति पाठे सम्मतिः स्वीकृता सायणेनेति ध्येयम् ।

इत्युपक्रम्य, “प्रदक्षिणं कृत्वा यन्ति, आगतेषु ब्रह्मावरोहति देवस्याह मिति”—इति ।

अत्रापि पूर्ववद् यजमानभेदेनावरोहणं मन्त्रभेदं दर्शयति — “देवस्याह मिति \* । “अरुह मिति, रुहेर्लुङि “क-  
मृ-ह-रुहिभ्यः”—इति † च्छेरङादेशः ॥ ४, ५ ॥

विधत्ते— “अथ समदशेति । समदशसङ्ख्याकाम् ‘दुन्दु-  
भीन्’ ‘अनुवेद्यन्तं’ वेदिसमीपे ‘प्रतीचः’ आग्नीहोत्रात् ‘आग्नी-  
होत्रपश्चिमप्रदेशे’ स्थितान् ‘सम्पन्वन्ति’ वादयितुं मावधन्ती-  
त्यर्थः । अत्र सूत्रम्— “समदश दुन्दुभीनासजत्यनुवेदि पश्चा-  
दाग्नीहोत्रात्”—इति ‡ ।

“एषा वा इत्यादिकस्याय मर्थः ;— दुन्दुभीनां नादस्य  
महत्त्वात् परमवाक्त्वम् ; अतो वायूपप्रजापत्युज्जयहेतुदुन्दुभि-  
वाद इत्यर्थः । गत मन्यत् ॥ ६ ॥

विधत्ते— “अथैतेषा मिति । समदशानां दुन्दुभीनां मध्ये  
एकं दुन्दुभिम् “बृहस्पते वाजम्”—इति वक्ष्यमाणेन मन्त्रेण  
समाह्वय्यात् । इतरान् षोडश दुन्दुभीन् तूष्णीं वादयेत् ।  
एकस्य समन्त्रकाहननेन सर्वेऽपि दुन्दुभयश्च त्रिन्यायेन सम-  
न्त्रक मेवाहताः ताडिता वादिताः स्युरित्यर्थः । अत्र सूत्रम्  
— “बृहस्पते वाज मित्येकं दुन्दुभि माहन्ति, तूष्णी मित-  
रान्”—इति § ॥ ७ ॥

\* वा० सं० ६. १०. ३, ४ ।

† पा० सू० ३. १. ५६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ३. १४ ।

§ का० श्रौ० सं० १४. ३. १५ ।

हवनविधि मन्त्रं मन्त्रं \* विधत्ते — “स आहन्तीति ।  
हे ‘हहस्यते!’ ‘वाजम्’ अन्नं ‘जय’ । हे दुन्दुभयः ! ‘हहस्य-  
तये’ हहस्यतेरर्थाय ‘वाचं’ सत्यभूतां यूयं ‘वदत’ । ‘हहस्यति’  
‘वाजम्’ अन्नं ‘जापयत’ अन्नविषयं जयं प्रापयत । हहस्यतिः  
स्वयं मेव वाजं जयति , तं जापयत । जयतेत्यन्तस्य “व्रीड-  
जीनां शौ च”-इत्यात्वे कृते पुगागमः ॥ ८ ॥

राजन्यमन्त्रभेदं दर्शयति— “अथ यदीति । हहस्यतिस्थाने  
इन्द्र पदं प्रक्षेपणीयम् † । अन्यत् समानम् ॥ ९ ॥

विधत्ते— “अथेतिष्विति । ‘रथेषु’ ‘आजिसृक्षु’ सस्यस्थानं  
प्रति स्रुतवत्सु गतवत्सु ‘पुनरासृतेषु’ पुनरागतेषु सत्सु ‘एतेषां’  
सर्वेषां ‘दुन्दुभीनां’ मध्ये ‘एकं’ प्राग् ‘यजुषा’ मन्त्रेण ‘उपाव-  
हरति’ अवरोहयेत् ; अन्येषान्तु तूष्णीं मित्यर्थः § ॥ १० ॥

“स उपावहरतीति । अवरोहणमन्त्रस्याय मर्थः ॥ ;—  
हे दुन्दुभयः ! ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिनी ‘सा सत्या’ ‘संवाक्’  
समुदिता वाक् ‘अभूत्’, ‘यया’ वाचा ‘हहस्यति’ ‘वाजम्’  
‘अजीजपत’ अन्न-विषयं जयं प्रापयत । एतस्यैव पुनर्वचन  
मजीजपतेति वाक्यम् । हे ‘वनस्पतयः !’ कार्ये कारणशब्दः ,  
वानस्पत्या दुन्दुभयः ‘विमुच्यध्वम्’ विमुक्ता भवतेति ॥ ११ ॥

“अथेति । अत्रापि पूर्ववन्मन्त्रभेदो “यदि राजन्य इत्या-  
दिना प्रदर्शितः ¶ ॥ १२ ॥

\* वा० सं० ६. ११. १ ।

† पा० सू० ६. १. ४८ ।

‡ वा० सं० ६. ११. २ ।

§ का० श्रौ० सू० १४. ४. ६, १० ।

॥ वा० सं० ६. १२. १ ।

¶ वा० सं० ६. १२. २ ।



दुन्दुभ्युपावहरणसमनन्तरकर्त्तव्यं क्षत्रियस्य विधत्ते— “अथ वेद्यन्तादिति । ‘प्रव्याध्यान्’ प्रकर्षेण बलाधिक्येन विमुक्तेष्ववो \* यावति देशे लब्धं विध्यति, तावानेकः प्रव्याधः । तथा-विधान् सप्तदशसङ्ख्याकान् ‘वेद्यन्तात्’ आरभ्य उदङ्मुखः उद-गपवर्गान् ‘प्रविध्यति’ † । त मिमं प्रशंसति— “यावान् वा एक इति । ‘प्रजापतिः’ एकप्रव्याधपरिमाणेन ‘तिर्यङ्’ स्थौल्येन विस्तारवान् कर्त्तते, सप्तदशप्रव्याधपरिमाणेन ‘अन्वङ्’ आयाम-वान् वर्त्तते । अतः सप्तदशप्रव्याधकरणं प्रजापतिशरीरपरि-मितत्वात् प्रशस्तमित्यर्थः ॥ १३ ॥

एषा मिषुप्रव्याधानां राजन्यकरणीयत्वेन कारणमाह— “तद्यद्राजन्य इति । ‘एष राजन्यः’ खलु ‘प्रजापतेः’ ‘प्रत्यक्ष-तमां’ प्रत्यक्षतमं रूपम् ; ‘तस्मात्’ प्रजापतेः प्रत्यक्षरूपत्वात् ‘एकः’ अपि सन् ‘राजन्यः’ ‘बहूनां’ प्रजानाम् ‘ईष्टे’ ईश्वरो भवति । ‘प्रजापतिः’ अपि ‘चतुरक्षरः’, ‘राजन्यः’ अपि ‘नियः’—इत्यक्षरविशेषात् ‘चतुरक्षरः’ । ‘तस्मात्’ प्रजापत्यात्मक-त्वाद् राजन्यकर्त्तृक इषुप्रव्याधः करणीयः ।

प्रव्याधानां सप्तदशत्वं प्रजाप्रत्यात्मना स्तौति— “सप्तदशेति । सप्तदशप्रव्याधकरणं सुदीरितरीत्या प्रजापतिशरीरसम्पादनम् ; तदन्ते या औदुम्बरी शाखा स्थापिता, तस्यावस्थितेन यज-मानेनाजिघावनं कुर्वता प्राप्तत्वात् कृत्स्नं प्रजापतिशरीरं मेव प्राप्तं भवतीत्यर्थः ‡ ॥ १४ ॥

\* ‘विमुक्तो वाणो’—इति ज ।

† का० श्रौ० सू० १४. ३. १६ ।

‡ “शाखां प्रदक्षिणं कृत्वा यन्ति”—इति का० श्रौ० सू० १४. ४. ७ ।

अध्वैर्युक्तस्य रथस्य यजमानकर्त्तृकं समन्तक मारोहणं विधत्ते  
—अथ य मिति । उक्तं सप्तदशप्रव्याधान्तपथाजिधावनं कर्त्तुम्  
‘आतिष्ठति’ आरोहेदित्यर्थः । अत्र सूत्रम्— “देवस्याह मिति  
यजुर्युक्त मारोहति यजमानः”—इति \* । आरोहणमन्त्रस्याय  
मर्थः † ;—‘सत्यसवसः’ यथार्थप्रसवस्य ‘सवितुर्देवस्य’ ‘सवे’ अभ्य-  
नुज्ञायां चर्त्तुमनः ‘अहम्’ ‘वाजजितः’ अन्नस्य जेतुः ‘बृहस्पतेः’  
सम्बन्धि ‘वाजम्’ अन्नम् ‘जेषम्’ जीयास मिति । सवितुरनुज्ञ-  
यैव प्रवर्त्तने वाजोज्जयो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

इम मथे बृहस्पतिदृष्टान्तेन दृढयति— “तद्यथैवाद इत्या-  
दिना । ‘अदः’ अमुष्मिन् विप्रकृष्टे काले , आजिधावनकाले  
‘बृहस्पतिः’ ‘सवितारम्’ अनुससार । “एव मेवैष इत्यादिना  
दार्ष्टान्तिके योजयति ॥ १६ ॥

विधत्ते — “अथ यदीति । ‘अथ’ यजमानस्य रथारोहणा-  
नन्तरम् , ‘अध्वर्योः’ शिष्यो ‡ वा , अन्यो ‘ब्रह्मचारी’ वा ‘एतद्’  
वक्ष्यमाणं मन्त्रम् ‘अधीयात्’ स्मरेत् ; ‘सः’ त मेव रथम्  
‘अन्वास्याय’ तूष्णीं मारुह्य “वाजिनः इति” मन्त्रं § ‘वाच-  
यति’ , यजमान मिति शेषः । अत्र सूत्रम्— “अध्वर्योश्च  
तूष्णीं ब्रह्मचार्यन्तेवासी वा वाचनाय”—इति , “वाजिन इति  
वाचयति”—इति ॥ च । हे ‘वाजिनः’ अश्वाः ! ‘वाजजितः’

\* का० श्रौ० सू० १४. ३. १८ ।

† वा० सं० ६. १३. १ ।

‡ ‘अध्वर्युशिष्यो’—इति क , ज ।

§ वा० सं० ६. १३. २ ।

॥ का० श्रौ० सू० १४. ३. १६, २२ ।

अथ स्र जेतारः ‘अध्वनः’ मार्गान् ‘स्वभुवन्तः’ । “स्वभि  
स्वभि प्रतिबन्धे” \* । स्वध्वनं नाम वेगेनाक्रमणम्, मार्गान्  
पृष्ठतः कृत्वा पुरोममनम् । तत् कुर्वन्तः, क्षोभयन्तो वा ‘योजना’  
योजनानि ‘मिमानाः’ । “माङ् माने” † । शीघ्रगत्या परि-  
च्छिन्दन्तः शीघ्रगामिनः, ‘काष्ठाम्’ आजिधावनस्यावधिभूताम् ।  
“आज्यन्तोऽपि काष्ठेऽत्युच्यते”—इति ‡ हि यास्कः । सप्तदशप्रव्याधान्ते  
निर्मिता मौदुस्वरीं शाखां लक्ष्यभूतस्वर्गात्मिकाम् ; “स्वर्गां वै  
लोकः काष्ठा”—इति युते § । वेगेन गच्छतेति ।

त मिमं व्याचष्टे— “वाजिनोऽश्वा इति । “योजनशो  
हीति । लोके ‘हि’ अध्वगाः ‘योजनशः’ एकैकं योजनं ‘मिमा-  
नाः’ परिच्छिन्नन्तो महात्सम् ‘अध्वानं’ ‘धावन्ति’ गच्छन्ति,  
एव मश्वो अपीति ।

“यथैनादिति । अस्याय मर्थः ;— ‘अन्तरा’ आजिधावन-  
मध्ये ‘नाश्रा’ नाशकानि ‘रक्षांसि’ ‘एनान्’ अश्वान् ‘यथा’  
‘न हिंस्युः’, तथा लक्ष्यस्थानं गच्छतेति ।

विहितानां माजिधावनदुन्दुभ्याहननब्रह्मकर्तृकसामगानानां  
प्रयोगकालं विधत्ते— “धावन्त्याजि मिति । अत्र सूत्रम्—  
“अन्तेवासी वा वाचनाय”—इत्येतस्मादनन्तरम् “आजिं शीघ्रं  
यन्ति, वाजिन इति वाचयति, ब्रह्मा त्रिः साम गायति,  
दुन्दुभीन् वादयन्ति”—इति ॥ १७ ॥

\* भा० आ० ३८७ धा० ।

† दि० आ० ३६ धा० ।

‡ निरु० २. ५. १ ।

§ ते० ब्रा० १. ३. ६. ५ ।

॥ का० श्रौ० सू० १४. ३. १६, २१, २२; ४. १, २ ।

विधत्ते — “अथैताभ्या मिति । ‘एताभ्यां’ वक्ष्यमाणाभ्यां मन्त्राभ्यां हवन मनुमन्त्रणं वा विकल्पेन कर्त्तव्यम् \* । उभय-  
 चार्थवादवाक्यशेषः समान इत्याह — “यदि जुहोतीति ।  
 ‘बन्धुः’ बध्यतेऽनेन स्तुतिरिति बन्धुर्वाक्यशेषः , स तु समानः ।  
 “एतानिवैतदश्वान् धावत उपवाजयति , एतेषु वीर्यं दधाति”-  
 इति वाक्यशेषो वक्ष्यते † । ‘एतत्’ एतेन हवनेन मनुमन्त्र-  
 णेन वा ‘धावतः’ शीघ्रगामिनः तान् ‘अश्वान्’ ‘उपवाजयति’  
 अत्यन्तवेगयुक्तान् करोति , एतेष्वश्वेषु वीर्यं सामर्थ्यं निहित-  
 वान् भवतीत्यर्थः । अतो वेगसाधनत्वात् हवन मनुमन्त्रणं वा  
 कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

हवन मनुय मन्त्रद्वयं विधत्ते — “स जुहोत्येष स्य इति ‡ ।  
 ‘एषः’ ‘स्यः’ सः ‘वाजी’ वेजनवान् अश्वः ‘ग्रीवायाम्’ ‘अपि’  
 ‘कक्षे’ कक्षमूले ‘आसनि’ आस्ये तदुचितरज्जुविशिष्टैः ‘बद्धः’  
 ‘क्षिपणिं’ कक्षां ‘तुरण्यति’ त्वरयति । ‘दधिक्राः’ धारकान्  
 मार्गावरोधकान् पाषाणादीन् अपि अतिक्रामन् अश्वः ‘क्रतुं’  
 क्रतुसादिनोऽभिप्रायम् ‘अनुसंसनिष्यदत्’ सम्यगनुसन्द्धानः ‘पथां’  
 मार्गाणाम् ‘अङ्गांसि’ लक्षणानि , कुटिलानि निम्नोन्नतानि च  
 ‘अन्वापनीफणत्’ अनुक्रमेण ऋजुत्वं समत्वं वापादयन् , तुर-  
 ण्यतीति पूर्वत्र सम्बन्धः । ‘स्वाहा’-इति होमलिङ्गं वषट्-  
 कारनिवृत्त्यर्थम् ॥ १९ ॥

“उत स्मेति § । द्वितीयमन्त्रस्याय मर्थः ; — ‘उत स्म’

\* का० श्रौ० सू० १४. ४. ३, ४ ।

† अस्मिन्नेव ब्राह्मणे २१ का० ( ६६८० १७ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० ६. १४. १ ।

§ वा० सं० ६. १५. १ ।

अपि च 'अस्य' यजमानस्य रथे नियुक्तस्य 'द्रवतः' गच्छतः  
 'तुरण्यतः' तूर्णं मध्वान् मश्रुवानस्य 'प्रगर्जिनः' अवधिं प्राप्तुं  
 मभिकाङ्क्षतोऽश्वस्य 'अङ्कुमं' शृङ्गारचिह्नं \* वस्त्रचामरादिकं  
 'परि' सर्वस्मिन्नपि देहे वर्त्तमानम् अनुगच्छति । तच्च दृष्टान्तः  
 — 'वेः' पक्षिणः 'परि' न वातोद्गतं पत्रम् इव । यथा  
 त्वरया गच्छतः पक्षिणः पत्रं उत्क्षिप्तो गच्छन् नावलोक्यते,  
 तथेत्यर्थः । शीघ्रधावने श्येनो दृष्टान्त्यते — 'भ्रजतः' परिधावतः  
 'श्येनस्य इव' 'दधिक्रावणः' धारकपर्वताद्यतिक्रामिणोऽश्वस्य 'ऊर्ज्ज'ा  
 बलेन 'सह' 'तरित्वतः' भृशं तरतोऽश्वस्येति योज्यः । 'स्वाहा'  
 — इति पूर्ववत् ॥ २० ॥

कर्त्तव्यान्तरं विधत्ते — "अथोत्तरेणेति † । वक्ष्यमाणेन  
 त्वचेन हवनं मनुमन्त्रणं वा कुर्यात् । "इयं तदिति । अस्याय  
 मर्थः — 'जुहोत्यनुमन्त्रयते वा' — इति यत्, तद् इयं सत्या-  
 नृतात्मकत्वेन द्विप्रकार मिति ; "इयं वा इदं न तृतीय  
 मस्ति, सत्यञ्चैवानृतञ्च" — इति श्रुतेः ‡ । हवनानुमन्त्रणयो-  
 रभयत्वार्थवादवाक्यशेषः समान इत्याह — "यदि जुहोतीति ।  
 'बभ्रुः' वाक्यशेषः समानः ; जागतमन्त्रकरणयोस्तृचकरणयोश्च  
 हवनानुमन्त्रणयोस्तावकवाक्यशेषः समान इत्यर्थः । कः पुन-  
 रसावित्याह — "एतानेवैतदिति । हवनानुमन्त्रणार्थवादवाक्यशेषः ॥  
 "तिस्रो वा इत्यादिकं त्वचेन त्रित्वसङ्ख्यार्थवादब्राह्मणम् ।  
 'पृथिव्यस्तिन्नः' ; "तयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः" — इति

\* 'शृङ्गान्तरचिह्नं' — इति च, क ।

† का० श्रौ० सू० १४. ४. ५ । 'न-शब्दात् जुहोति अनु-  
 मन्त्रयते वा' — इति तत्र वृत्तिः । ‡ प्र० ब्रा० १. १. ३. ४ ।

एकैकस्य त्रयात्मकत्वश्रुतेः । तत्र 'इयं' परिदृश्यमाना भूमिः  
'एका', 'अस्याः' भूमेः 'परे' उपरि दृश्यमाने 'हे' पृथिव्यौ ;  
'ताः' तिस्रो भूमौः लचकरणकेन होमेनानुमन्त्रणेन वा उज्जित-  
वान् भवति ॥ २१ ॥

तत्रानुमन्त्रण मन्त्र मन्त्रत्रयं पठति— "सोऽनुमन्त्रयत  
इति । अन्यदन्यस्योपलक्षकम् ; अत्रानुमन्त्रणानुवादत्वात्, मन्त्रान्ते  
हवनं वा कार्यम् ; वचनबलादित्यवगन्तव्यम् \* । तत्र, प्रथममन्त्र-  
स्थाय मर्थः † ;— 'वाजिनः' अश्वाः 'हवेषु' यज्ञेषु, सङ्ग्रामेषु वा  
'नः' अस्माकं 'शं भवन्तु' सुखप्रापका भवन्तु । 'देवताता'  
देवयोग्याः । यद्वा, देवास्तन्यन्ते विस्तार्यन्ते यत्र सा देव-  
तातिर्यङ्गः, तस्मिन् । 'हवेषु' आह्वानेषु शं भवन्त्विति योजना ।  
'मितद्रवः' मित मल्पं द्रवन्ति गच्छन्तीति मितद्रवः, 'स्वर्काः'  
शीघ्रधावनेन सुचर्चनीयाः 'अहिं' 'वृकं' 'रक्षांसि' सर्पवत्  
आरण्यश्ववत् बाधकान् राक्षसान् 'जम्भयन्तः' जम्भन्तः, वर्ण-  
व्यत्ययः, क्षोभयन्तः । 'सनेमि'—इति पुराणनाम ‡, इह 'तु'  
क्षिप्रवचनम् । शीघ्रम् 'अमीवान्' रोगान् 'अस्मत्' अस्मात्तः  
'युजवत्' वियोजितवन्त इत्यर्थः ॥ २२ ॥

"ते नो अर्वन्त इति § । द्वितीयमन्त्रस्थाय मर्थः ;—

\* पूर्वकण्ठी द्रष्टव्या । "अनुमन्त्रयते वा, उत्तरेण च त्रिचेन"—  
इति का० श्रौ० सू० १४. ४. ४, ५ । 'च-शब्दात् जुहोति अनु-  
मन्त्रयते वा'—इति च तत्र कर्कः ।

† वा० सं० ६. १६. १ ।

‡ निघ० ३. २८. ४ ।

§ वा० सं० ६. १७. १ ।

‘ते’ ‘अर्वन्तः’ गतिकुशला अश्वाः, ‘हवनश्रुतः’ अस्मदाह्वान-  
श्रोतारो ‘वाजिनः’ अश्ववन्तोऽश्वाः सर्वेऽपि ‘नः’ अस्माकं  
‘हवम्’ आह्वानम् अस्मादह्वनं ‘शृण्वन्तु’ । ‘मितद्रवः’ पूर्ववत् ।  
‘सहस्रसाः’ महतोऽस्त्रस्य सनितारो दातारः । ‘मेघसाता’ यज्ञे ।  
सुप आकारः \* । ‘सनिथतः’ सनिं दानम् † अस्माक मिच्छन्तः ।  
ईदृशाः ‘ये’ अश्वाः ‘समिधेषु’ सङ्ग्रामेषु ‘महः’ मंहितः शत्रोः  
‘धनम्’ । मह इति धनविशेषणं वा, महद्वनं ‘जम्बिरे’  
आङ्कितवन्तः । शृण्वन्त्विति पूर्वणान्वयः ॥ २२ ॥

“वाजे वाजेऽवत इति ‡ । तृतीयमन्त्रस्याय मर्थः ;—  
हे ‘वाजिनः’ अश्वाः ! ‘वाजे-वाजे’ तत्तदन्ननिमित्तं धन-  
निमित्तं च ‘नः’ अस्मान् ‘भवत’ । ‘विप्राः’ मेधाविनः ‘असृताः’  
अमरणधर्माणः ‘ऋतज्ञाः’ ऋतं सत्यं गन्तव्यदेशं जानन्तः ।  
तादृगश्वाभिमानिनो हे देवाः ! ‘अस्य मध्वः पिबत’ इदं  
धावनात् पूर्वं पद्याञ्चवप्रायमाणं मधुसमानं नैवारचरुलक्षणं  
पिबत । पीत्वा च ‘मादयध्वम्’ जृष्टा भवत । ततः ‘हताः’  
सन्तो ‘देवयानैः पथिभिः’ देवाधिष्ठितैर्मार्गैः अध्वभिराजिं प्रति  
‘यात’ इति ॥ २४ ॥

विधत्ते— “अथ बार्हस्पत्येनेति § । ‘प्रत्युपतिष्ठते’ आजि-  
धावनं कृत्वा तीर्थदेशं । प्रत्यागच्छतोऽश्वान् प्रति नैवारचरुणा

\* पा० सू० ७. १. ३६ ।

† ‘द्रव्यदानं’—इति च ।

‡ वा० सं० ६. १८. १ ।

§ का० श्रौ० सू० १४. ४. ११ ।

॥ इह चाल्वालोत्करयोर्मध्यप्रदेशस्तीर्थं ज्ञेयः ।

सह गच्छेदित्यर्थः । तस्य चरोः स्पर्शनं विधत्ते — “त उपेति । तत् प्रशंसति — “अन्नं वेत्यादिना । ‘एतां गतिम्’ आजि-  
धावनलक्षणां गत्वा चरूपस्पर्शनेन एतदाजिधावनोज्जित मन्त्र  
मेवात्मनि निहितवान् भवतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

उपस्पर्शनं मनूय मन्त्रं विधत्ते — “स उपेति । मन्त्र-  
स्थाय मर्थः \* ; — ‘वाजस्य’ अन्नस्य ‘प्रसवः’ अभ्यनुज्ञा उत्प-  
त्तिर्वा ‘मा’ मां ‘आजगम्यात्’ आगच्छतु । ‘विश्वरूपे’ नाना-  
रूपे ‘इमे’ ‘द्यावापृथिवी’ द्यावापृथिव्यौ प्रजापत्यात्मिके,  
तत्कृष्टत्वात् ‘आगन्ताम्’ आगच्छताम् । “पितरामातरा च  
छन्दसि”—इत्यानङ्† निपात्यते । अस्मदीयः पिता माता च  
मां प्रत्यागतम् ; चिरं जीवित्वा आगच्छताम् । यद्वा , द्यावा-  
पृथिव्योः पितेति मातेति च परोक्षनाम्ना निर्देशः । तत्र  
पितरूपा द्यौः , मातरूपा पृथिवीति ; “द्यौर्बः” पिता पृथिवी  
माता”—इति श्रुतेः ‡ । ‘सोमः’ च ‘अमृतत्वेन’ देवत्वेन मां  
प्रति ‘आजगम्यात्’ आगच्छतु ; “अपाम सोम ममृता  
अभूम”—इति § ह्यन्यत्र श्रुतम् । मन्त्रं प्रतिपादयन्तु द्यावा-  
पृथिव्यादिके प्रजापत्यात्मना स्तौति—“आ मा वाजस्येति ॥ २६ ॥

विधत्ते — “त मश्वानिति ¶ । ‘तम्’ उपस्थापितं चरुम्

\* मन्त्रस्त्वेषः बा० सं० ६. १६. १ ।

† पा० सू० ६. ३. ३३ ।

‡ ऋ० सं० १. १६१. ६ ।

§ ऋ० सं० ८. ४८. ३ ।

॥ वा० सं० ६. १६. २ ।

¶ का० श्रौ० सू० १४. ४. १२ ।



‘अश्वान्’ अवघ्रापयेत् । तन्मन्त्रस्याय मर्थः ;— हे ‘वाजिनः’ अश्वः ! ‘वाजजितः’ वाजस्यान्त्रस्य जितारः , वाज मन्त्रं जेतु मिति शेषः । ‘ससृवांसः’ आजिसरणं कृतवन्तः सन्ती ‘सृह-  
स्यतेः’ सम्बन्धिनं ‘भागम्’ अन्नशेषम् ‘अवजिघ्रत’ अवघ्राणं  
कुरुत । ‘निमृजानाः’ चरुलेपनिमार्जनं कुर्याणाः ‘इति’ ।  
मन्त्रं पदशोऽनुद्य व्याचष्टे— “वाजिनी हीति । ससृवांस इति  
भृतार्थविहितकस्त्वन्त्वेन प्रयोगस्याभिप्राय माह— “सरिष्यन्त  
इति । पूर्वं माजिधावनप्राक्काले चरोरश्वैरवघ्रापणं विहितम् ,  
तन्मन्त्रे ‘वाजं सरिष्यन्तः’—इति तु अत्रन्तत्वेन प्रयुक्तम् ; आजि-  
धावनस्य करिष्यमाणत्वात् , अत्र त्वस्य कृतत्वात् तदन्ते विधीय-  
माने चर्वाघ्रापणमन्त्रे ससृवांस इति भृतार्थवाचकत्वेन प्रयोगो  
युक्त इत्यभिप्रायः । निमृजाना इत्यस्य तात्पर्यं माह— “तद्यज-  
मान इति । “अन्नरसनिमार्जनस्य वीर्यहेतुत्वात् ‘तत्’ तेन  
‘निमृजाना इति’—पदेन ‘यजमाने’ ‘वीर्यं’ स्थापितवान् भवति ॥

आजिधावनस्यादौ तदन्ते च विहितस्य चर्वाघ्रापणस्य प्रयो-  
जनमेदं दर्शयति — “तद्यदश्वानिति । ‘अग्रे’ पूर्वं वाजोज्जि-  
त्यर्थम् , अत्र तूज्जितस्य वाजस्य स्वाधीनकरणार्थम् ; अतः पूर्वं  
मिमं वाज मुज्जयानोति , अत्रेमं वाज मुदजेष मित्याशीर्व-  
दर्थवाचि भृतार्थवाचि च पदं युक्तमित्यर्थः ॥ २७ ॥

सुराग्रहाणां मधुग्रहस्य च विनियोगप्रकारो माध्यन्दिने  
सवने वक्ष्यत इति द्वितीयब्राह्मणान्ते \* प्रतिज्ञातम् , तं मिदानी  
मवसरप्राप्तं दर्शयितु माह— “अथैतेषा मिति । ‘आजि-  
सृताम्’ आजिं प्रति सरिष्यतां रथानां यजमानरथव्यतिरिक्तानां

\* ‘द्वितीयब्राह्मणे’—इति ज । २६८० १७पं० ( २. १६. ) द्रष्टव्यम् ।

मेकस्मिन् रथे वैश्यराजन्ययोरन्यतरः सुराग्रहान् प्रतिग्रहीतु  
मासीनो भवति । अत्र कात्यायनो यजुर्गुक्तरथारोहण मध्वर्यु-  
शिष्यस्य यजमान-वाचनार्थं मुक्ता \* सूत्रयामास— “इतरेषा  
मेकस्मिन् राजन्यो वैश्यो वा सौरप्रतिग्रहायाजिं शीघ्रं यन्ति”  
—इति † ।

“स वेदेरिति । अस्याय मर्थः ;— ‘सः’ वैश्यराजन्ययो-  
रन्यतरो रथादवस्तुह्योत्तरस्यां ‘ओणी’ उपविशेत् । ‘अथ’ अनन्त-  
रम् अध्वर्युयजमानौ ‘पूर्व्या हारा’ हविर्दानस्य पूर्वहारेण ‘मधु-  
ग्रहम्’ आदाय , निष्क्रम्य , वैश्यराजन्ययोरन्यतरस्य हस्ते निद-  
ध्याताम् ‡ । ‘नेष्टा’ अपि हविर्दानस्य पश्चिमहारेण ‘सुराग्रहान्  
आदाय’ निष्क्रम्य ‘शालां जघनेन’ पत्नीशालायाः पश्चिम-  
प्रदेशादागत्योत्तरस्यां वेदिश्रोणावुपविश्य उक्तयोरन्यतरस्य पाणा-  
वेकं सुराग्रहं प्रयच्छन् “अनेन त इमं निष्क्रीणामि”—इति  
वाक्यं पठेत् § । ‘अनेन’ सुराग्रहेण ‘ते’ तव सम्बन्धिनम् ‘इमं’  
मधुग्रहं ‘निष्क्रीणामि’ स्वाधीनं करोमीति तस्यार्थः ।

त मिमं निष्कृत्यं प्रशंसति— “सत्यं वै श्रीरिति । सोमस्य  
सत्यात्मकत्वम् , इतरस्य अनृताद्यात्मकत्वं च प्रागेव व्याख्या-  
तम् ॥ । सुराग्रहप्रतिग्रहीतारं ‘वैश्यं’ ‘विध्यति’ बाधते । अनेन

\* “देवस्याह मिति ( ६. १३. १. ) यजुर्गुक्तं मारोहति यज-  
मानः , अध्वर्योश्च तूष्णीं ब्रह्मचार्यन्तेवामी वा वाचनाय”—इति का०  
श्रौ० सू० १४. ३. १८, १९ द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १४. ३. २०, २१ ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ४. १५ ।

§ का० श्रौ० सू० १४. ४. १६ ।

] पृ० २३ पं० १३ द्रष्टव्यम् ।

राजन्यं च विध्यतीत्यर्थो लभ्यः ; वैश्यराजन्ययोरन्यतरस्य हस्ते  
प्रदानस्योक्तत्वात् ।

प्रतिगृहीतानां तु सुरायहाणा मैच्छिकव्यवहारं दर्श-  
यति— “तैः स यं भोग मिति । क्रीतस्य मधुग्रहस्य दानं  
विधत्ते— “अथैत मिति । ‘एतं’ मधुग्रहं हिरण्यपात्रसहितं  
ब्रह्मणे दद्यात् \* । आपस्तम्बेन सौवर्णपात्रपरिमाणं मुक्तम्  
— “ब्रह्मणे ददाति हि मधुस्थालञ्च सौवर्णं शतमानस्य  
कृतम्”—इति † ।

तद् दानं प्रशंसति— “तं ब्रह्मण इति । ‘तं’ मधुग्रहं  
‘ब्रह्मणे’ ‘ददत्’ प्रयच्छन् । हेतौ शब्दप्रत्ययः । हिरण्यदानेन  
‘अमृतम्’ अमरणशीलम् ‘आयुः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि निहित-  
वान् भवतीनि । ब्रह्मप्रतिगृहीतस्य मधुग्रहस्यैच्छिकं व्यवहारं  
दर्शयति— “स यं भोग मिति । “ब्रह्मणे मधुग्रहं ददाति  
सपात्रम्, तं स यथेष्टं कुरुते”—इति ‡ हि कात्यायनेन  
सूत्रित मिति ॥ २८ ॥ ५ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे प्रथमाध्यायस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १४. ४. १७ ।

† आप० श्रौ० सू० १८. ५. ५ । ‘मधुस्थालञ्च’—इति तत्रत्यपाठः ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ४. १७, १८ ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हाहं निवारयन् ।

पुमर्थान्श्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् \* पञ्चमीरीं†-स्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोत्स्रां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः ‡ सिङ्गणार्यौ § ,  
व्यश्राणीद्विष्वक्क्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं षट्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजम्ना तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो ॥ राजतं राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजम्ना ¶ लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाब्धौ रत्नरूपं गिरि मक्त मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

\* 'पञ्चाब्धीन्'—इति ठ (१) ।

† 'सप्तमीरीं'—इति ठ ।

‡ 'सायणः' स्यात् ?

§ स्यात् 'सिङ्गणार्यौ' ?

॥ 'मजडं'—इति ठ ।

¶ 'प्राज्यबुद्धिर्'—इति ठ ।

(१) ठ इति प्रथमकाण्डोपसम्पादकोक्त्या विवृतं द्रष्टव्यम् ।

( अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम्. )

अथ स्तुवं चाज्यविलापनीं चादाय । आह-  
वनीय मभ्यैति स एता द्वादशाम्नीर्जुहोति वा  
व्वाचयति वा यदि जुहोति यदि व्वाचयति  
समान एव बभूवुः ॥ १ ॥

स जुहोति । आपये स्वाहा स्वापये स्वाहा-  
ऽपिजाय स्वाहा क्रतवे स्वाहा वसवे स्वाहा-  
ऽहर्षतये स्वाहाऽङ्गे मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय व्वेन-  
शिनाय स्वाहा व्विनश्शिनाय स्वाहान्यायनाय स्वा-  
हाऽन्यायभौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहा-  
ऽधिपतये स्वाहेत्येता द्वादशाम्नीर्जुहोति द्वादश  
वै मासाः \* संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजा-  
पतिर्यज्ञस्तद्वैवास्याप्तिर्या सम्पत् ता मेवैतदुज्जयति  
ता मात्मन् कुरुते † ॥ २ ॥

अथ षट् कृष्णीः । जुहोति वा व्वाचयति  
वा यदि जुहोति यदि व्वाचयति समान एव  
बभूवुः ॥ ३ ॥

\* 'मासाः'—इति ग, घ ।

† 'कुरुते'—इति ग, घ ।

सुव्वाचयति \* । आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो  
यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं  
यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो  
यज्ञेन कल्पता मित्येताः षट् कृष्णीर्वाचयति षड्  
वा ऽऋतवः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः प्रजा-  
पतिर्यज्ञस्तद्वैवाख्यं कृष्णिर्या सम्पत्ता मेवैतदुज्जयति  
ता मात्मन् कुरुते ॥ ४ ॥

अष्टाश्रियूपो † भवति । अष्टाक्षरा वै गायत्री  
गायत्रं मग्नेश्छन्दो देवलोक मेवैतेनोज्जयति  
सप्तदशभिर्वासोभिर्यूपो व्वेष्टितो वा व्विग्रथितो वा  
भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत् प्रजापति  
मुज्जयति ॥ ५ ॥

गौधूमं चषालं भवति । पुरुषो वै प्रजा-  
पतेर्नेदिष्टुः सो ऽयं मत्वगेते वै पुरुषस्यौषधीनां  
नेदिष्टतमां युङ्गोधूमास्तेषां न त्वगस्ति मनुष्य-  
लोक मेवैतेनोज्जयति ॥ ६ ॥

गर्त्तन्वान् यूपो ऽतीक्ष्णागो भवति । पितृ-

\* 'ति'—इति क ।

† 'अष्टा०'—इति ग, घ ।

देवत्यो वै गर्त्तः पितृलोक मेवैतेनोञ्जयति सप्त-  
दशारत्निर्भवति सप्तदशो वै प्रजापतिस्तत् प्रजा-  
पतिः मुञ्जयति ॥ ७ ॥

अथ नेष्टा पत्नी मुदानेष्यन् । कौशं वासः  
परिधापयति कौशं वा चण्डातक मन्तरं दौक्षित-  
वसनाज्जघनाङ्गीं वा ऽएष यज्ञस्य यत् पत्नी ता  
मेतत् प्राचीं यज्ञं प्रसादयिष्यन् भवत्यस्ति वै  
पत्न्या अमेध्यं यदवाचीनं नाभेर्मेध्या वै दर्भा-  
स्तद्यदेवास्या अमेध्यं तदेवास्या एतद्भर्मेध्यं कृत्वा-  
ऽथैनां प्राचीं यज्ञं प्रसादयति तस्मान्नेष्टा पत्नी  
मुदानेष्यन् कौशं वासः परिधापयति कौशं वा  
चण्डातक मन्तरं दौक्षितवसनात् ॥ ८ ॥

अथ निश्चयणी \* निश्चयति । स दक्षिणत  
उदङ् रोहेदुत्तरतो वा दक्षिणा दक्षिणतस्त्वे-  
वोदङ् रोहेत् तथा ह्युदङ् भवति † ॥ ९ ॥

स रोक्ष्यन् जाया मामन्वयते । जाय ऽएहि  
स्त्री रोहावेति रोहावेत्याह जाया तद् युञ्जाया

\* 'निश्चयणी'—इति सा०-सम्मत इति डा० वेबरः ।

† 'भवति'—इति ग. घ ।

मामन्त्रयते ऽर्हो ह वा ऽएष आत्मनो यज्जाया  
 तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत् प्रजा-  
 यते ऽसर्वो हि तावद्भवत्यथ युदैव जायां वि-  
 न्दते ऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति  
 सर्व एतां गतिं गच्छानीति तस्माज्जाया माम-  
 न्त्रयते ॥ १० ॥

स रोहति । प्रजापतेः प्रजा अभूमेति  
 प्रजापतेर्ह्येष प्रजा भवति यो व्याजपेयेन  
 यजते \* ॥ ११ ॥

अथ गोधूमानुपस्पृशति † । स्वर्देवा अग-  
 न्मेति ‡ स्वर्ह्येष गच्छति यो व्याजपेयेन य-  
 जते ॥ १२ ॥

तद्यज्ञोद्धूमानुपस्पृशति § । अन्नं वै गोधूमा  
 अन्नं वा ऽएष उज्जयति यो व्याजपेयेन यजते  
 ऽन्नपेयं ह वै नामैतद् यद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्न

\* 'यजते'—इति क, ख ।

† '०ति'—इति ग, घ ।

‡ '०मेति'—इति क, ख ।

§ '०ति'—इति क, '०ति'—इति ग, घ ।



मुदुजैषीत्तेनैवैतदेतां गतिं गत्वा सुस्पृशते तदा-  
त्मन् कुरुते तस्माद्भोधुमानुपस्पृशति \* ॥ १३ ॥

अथ शीष्णां यूप मत्स्यज्जिहीते । अमृता अभू-  
मेति देवलोक मेवैतेनोत्तजयति † ॥ १४ ॥

अथ दिशो ऽनुवीक्ष्यमाणो जपति । अक्षे  
वो ऽअस्त्विन्द्रिय मक्षे नृम्य सुत क्रतुरक्षे वर्वा-  
सि सन्तु व इति सर्व्वं वा ऽएष इदं सुज्ज-  
यति यो ब्वाजपेयेन यजते प्रजापतिः ॥ ह्यज्ज-  
यति सर्व्वं सु ह्येवेदं प्रजापतिः सो ऽस्य सर्व्वस्य  
यश इन्द्रियं व्यीर्य्य ‡ संवृज्य तदात्मभक्ते तदात्मन्  
कुरुते तस्मादिशो ऽनुवीक्ष्यमाणो जपति § ॥ १५ ॥

अथैन मूषपुटेरनुदद्यन्ति । पशवो ऽवा ऽजंषा  
अन्नं वै पशवो ऽन्नं वा एष उवजयति यो  
ब्वाजपेयेन यजते ऽन्नपेयः ॥ वै नामैतद्युवाज-  
पेयं तद् यदेवैतदन्न मुदुजैषीत् तेनैवैतदेतां गतिं

\* 'स्पृशति'—इति क ।

† 'जयति'—इति क ।

‡ 'इन्द्रियं वै व्यीर्य्य'—इति क-पुस्तके ।

§ 'जपति'—इति क ।

गत्वा सुस्पृशते तदात्मन् कुरुते तस्मादेन मुष  
पुटैरनूदयन्ति \* ॥ १६ ॥

आश्वत्येषु पलाशेषुपनङ्गा भवन्ति । स यदे-  
वादो ऽश्वत्ये तिष्ठत इन्द्रो मरुत उपामन्त्र-  
यत तस्मादाश्वत्येषु पलाशेषुपनङ्गा भवन्ति विशो  
ऽनूदयन्ति विशो वै मरुतो ऽन्नं विशस्त-  
स्माद्विशो ऽनूदयन्ति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो  
वै प्रजापतिस्तत् प्रजापति मुञ्जयति † ॥ १७ ॥

अथेमा मुपावेक्षमाणो जपति ‡ । नमो माचे  
पृथिव्यै नमो माचे पृथिव्या ऽइति बृहस्पतिर्ह  
वा ऽअभिषिषिचानात् पृथिवी विभयाञ्चकार  
महद्वा ऽअयं समुद्यो ऽभ्यषेचि यद्वै मायं नाव-  
दणीयादिति बृहस्पतिर्ह पृथिव्यै विभयाञ्चकार  
यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनयैवैतन्निन्नधेय  
मकुरुत न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो  
मातरम् ॥ १८ ॥

\* '०दयन्ति'—इति क ।

† 'मुञ्जयति'—इति क ।

‡ 'भवति'—इति पाठः ख-पुस्तके ।

बृहस्पतिसवो वा ऽएष यदाजपेयम् । पृ-  
थिव्यु हैतस्माद्विभेति महद्वा ऽअयं मभूद्यो ऽभ्य-  
षिचि यद्वै मायं नावदृणीयादित्येष उ हास्यै  
विभेति यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदन्यैवैतन्मित्र-  
धेयं कुरुते न हि माता पुत्रं हि नस्ति न  
पुत्रा मातरम् ॥ १६ ॥

अथ हिरण्य मभ्यवरोहति । अमृत मायुर्हिरण्यं  
तदमृतं ऽआयुषि प्रतितिष्ठति \* ॥ २० ॥

अथाजर्षभस्त्राजिनमुपस्तृणाति । तदुपरिष्ठाद्रुक्मं  
निदधति तं मभ्यवरोहतीमां वैव † ॥ २१ ॥

अथास्मा ऽआसन्दी माहरन्ति उपरिसृद्यं वा  
ऽएष जयति यो जयत्यन्तरिक्षसृद्यं तदेनमुप-  
र्यासोनमधस्तादिमाः प्रजा उपासते तस्मादद्या  
ऽआसन्दी माहरन्ति ‡ ॥ २२ ॥

औदुम्बरी भवति § । अन्नं वा ऽजुर्गुदुम्बर  
जुर्जी तस्माद्यस्यावरुह्यै तस्मादौदुम्बरी भवति

\* 'तिष्ठति'—इति क ।

† 'वैव'—इति ग, घ ।

‡ 'माहरन्ति'—इति क ।

§ 'भवति'—इति क ।

ता मग्नेण हविर्हुनि जघनेनाहवनीयं निद-  
धाति \* ॥ २३ ॥

अथाजर्षभं ह्याजिन मां स्मृणाति । प्रजापति-  
र्वा ऽएष यदजर्षभ एता वै प्रजापतेः † प्रत्यक्ष-  
तमां यदजास्तस्मादेतास्त्रिः संवत्सरस्य विजाय-  
माना द्वौ त्रीनिति जनयन्ति तत् प्रजापति  
मेवैतत् करोति तस्मादजर्षभं ह्याजिन मां स्मृ-  
णाति ॥ २४ ॥

स आं स्मृणाति । इयं ते राडिति राज्यं  
मेवास्मिन्नेतद् दधात्यथैन मां सादयति युन्तासि युमन  
इति यन्तार मेवैन मेतद् युमन मासां प्रजानां  
करोति ध्रुवो ऽसि धरुण इति ध्रुव मेवैन मेतद्-  
धरुण मस्मिंल्लोके करोति कृष्यै त्वा क्षेमाय  
त्वा रथ्यै त्वा पोषाय त्वेति साधवे त्वेत्ये-  
वैतदाह ॥ २५ ॥ ६ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणम् [२.१.] ॥

\* 'निदधाति'—इति क, ख ।

† 'प्रजापतिः'—इति क ।

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त म हं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमब्राह्मणे यूपारोहणं मुच्यते ।  
तत्र प्रथमं मासिहोमं विधित्पुराह— “अथ सुव मिति ।  
आज्यं विलाप्यतेऽस्या मित्याज्यविलापनी स्थाली ; सुववचनं  
जुह्वपञ्चत्विर्थम् । अत्र सूत्रम्— “द्वादश सुवासीर्जुहोत्यापये  
स्वाहेति प्रतिमन्त्रं, वाचयति वा”—इति \* । होमं विधत्ते—  
“स एता द्वादशेति । द्वादशसंज्ञाकाः आग्निसाधनत्वादास्याख्याः  
आज्याहुतीर्जुहुयात् । “आपये स्वाहा”—इत्यामिलिङ्गसमवायात्  
प्राणभृत उपदधातीतिवत् आय्यनाग्निसमुदाये आग्निशब्दः ।  
विकल्पेन यजमानवाचनं विधत्ते— “वाचयति वेति । आसी-  
र्जुहुयाद्, यजमानं वा वाचयेदित्यर्थः । अत्रोभयत्रार्थवादवाक्य-  
शेषः समान इत्याह— “यदि जुहोतीति । ‘बन्धुः’ वाक्यशेषः,  
“द्वादश वै मासाः”—इत्यादिना वक्ष्यते † ॥ १ ॥

होमं मनूय द्वादश मन्त्रान् विधत्ते— “स जुहोत्यापये  
स्वाहेति ‡ । संवत्सरस्य यज्ञात्मकप्रजापतेरेतानि नामानि ।  
आप्नोतीत्यापिः, तस्मै ‘स्वाहा’ सुहुत मस्तु । ‘स्वापये’ शोभन  
माप्नुवते देवाय । ‘पिजाय’ अस्तु जाताय । ‘क्रतवे’ सङ्कल्पाय,  
यज्ञाय वा । ‘वसवे’ वासकाय । अङ्गाम्यतिः अहर्पतिः संव-  
त्सरः, तस्मै । “सुह वैचित्थे” §, अपकर्त्तुं मजानते ‘अङ्गे’

\* का० श्रौ० सू० १४. ५. १ ।

† इत उत्तरस्मिन्नेव कण्डिकायाम् ( ८६ पृ० ११ पं० = ६५ पृ० ११ पं० ) ।

‡ वा० सं० ६. २०. १-१२ ।

§ दि० प० ६२ धा० ।

दिवसाय ; ‘अङ्गे मुग्धाय’-इत्येकं नाम । एव सुत्तरत्रापि विशेषणयुक्त मेकैकं नाम । ‘वैनंशिनाय’ विनाशयुक्तेषु हितकारित्वेन वसतीति वैनंशिनः , विनंशिनः पुत्रो वा वैनंशिनः , तस्मै । एव सुत्तरत्राप्यपत्यार्थे प्रत्यय इति वेदितव्यम् । ‘विनंशिन’ शत्रुविनाशकाय । अन्त्ये अयने भवः आन्त्यायनः , अन्त्याख्यस्य पुत्राय वा , तस्मै । ‘आन्त्याय’ अन्ते भवाय ‘भौवनाय’ भुवनस्थापत्याय । ‘भुवनस्य पतये’-इत्येकं नाम , भुवनस्य पतिः प्रजापतिः ; “प्रजापतिर्वै भुवनस्य पतिः”-इति \* हि तैत्तिरीयकम् । तथा ‘अधिपतये’-इति , अधिपतिः प्रजापत्यात्मको वाजपेययज्ञः । अत्र स्वाहान्त एकैको मन्त्र इत्यर्थः ।

आहुतिगतां द्वादशसङ्ख्यां प्रशंसति— “द्वादश वै मासा इति । अयं वाक्यशेषो होमवाचनयोरुभयोरपि समानः— “तद्यैवास्याप्तिरिति । ‘अस्य’ संवत्सरस्य प्रजापत्यात्मकस्य यज्ञस्य ‘या’ ‘आप्तिः’ सर्वात्मकत्वेन व्यापनशक्तिः , ‘या’ ‘सम्पत्’ संवत्सरसमृद्धिः , सर्वात्मकता , ता मेता सुभयी मेतेनाप्तिहोमेन जितवान् भवति ; जिह्वा च ‘ताम्’ ‘आत्मनि’ स्वस्मिन् कृतवान् भवति ॥ २ ॥

विधत्ते— “अथ षट् कृत्सीरिति † । ‘कृत्सीः’ कृत्पिधातु-निष्पन्नशब्दयुक्तमन्त्रकरणिका आहुतीर्जुहुयात् । मन्त्राणां वाचनं कार्यं मिति वा ॥ ३ ॥

\* ते० सं० १. ७. ६. ६ ; ४. ७. ११. २ ; ५. ४. ६. १६ ; ते० ब्रा० १. ३. ७ । ऋ० सं० ४. ५३. २ प्रभृतिषु द्रष्टव्यम् ।

† “षट्कोत्तराः”-इति का० श्रौ० सू० १४. ५. २ । “जुहोति वाचयति वा”-इति तत्र वृत्तिः ।

वाचन मनुष्य मन्त्रान् विधत्ते— “स वाचयतीति । अत्र वाचनविवक्षया मन्त्रान्ते स्वाहा-शब्दो न प्रयुक्तः ; वचनबलाद् हवनं वा कार्यम् , तदा स्वाहाशब्दः प्रयोक्तव्यः । मन्त्रार्थसु— ‘आयुः’ मदीयं , ‘यज्ञेन’ वाजपेयाख्येन ‘कल्पतां’ समर्थं भवतु । ‘पृष्ठं’ रथन्तरादि ; यद्वा ‘पृष्ठं’ वंशवदायुःप्राणादेराधारभूतो मध्यदेहः । ‘यज्ञः’ विष्णुः । अन्यत् स्पष्टम् \* ।

ता मिमां षट्सङ्ख्यां प्रशंसति— “षड् वा ऋतव इति । हवनवाचनयोरयं वाक्यशेषः समान इत्यर्थः । “तद् यैवास्य कृत्स्निरित्यादि , पूर्ववद् योज्यम् ॥ ४ ॥

कृत्स्निवाचनमन्त्रतदर्थभिन्नस्य यजमानस्य यूपारोहणं विवक्षुरादौ स्वर्गत्वेन निरूपयिष्यमाणस्य यूपस्य प्राक्तनं गुण मर-  
वदति— “अष्टाश्रियूप इति । अश्रिगता मष्टसङ्ख्यां प्रशंसति—  
“अष्टाक्षरेति । यतः ‘अग्नेः कृन्दः गायत्रम्’ ततस्तद्रूपत्वाद् देव-  
लोकाजयहेतुरष्टाश्रियूप इत्यर्थः । यूपस्य वेष्टनं विधत्ते—  
“सप्तदशभिरिति । ‘वेष्टितः’ यथा यूपो न दृश्यते , तथाच्छा-  
दनं ‘वा’ कार्यम् , ‘विग्रथितः’ यूपस्यैकत्र प्रदेशे वाससां  
ग्रन्थनं † ‘वा’ कार्यम् । वासोगर्ता सङ्ख्यां प्रजापत्यात्मना स्तौति—  
“सप्तदश इति ‡ ॥ ५ ॥

चषालनामकस्य यूपशकलस्य दारुमयत्वापवादाय विधत्ते—  
“गोधूम मिति । गोधूमपिष्टमयं चषालं कुर्यादित्यर्थः । “पुरुषो

\* ते षट् मन्त्रास्तु वा० सं० ६. २१. १-६ ।

† ‘ग्रन्थनं’—इति ङ, च, क ।

‡ “यूपवेष्टनं सप्तदशभिर्वस्त्रैर्बुद्ग्रन्थनं वा परिग्रहणकाने”—इति  
का० श्रौ० सू० १४. १. २० ।

वा इत्यादि । अस्याय मर्थः— ‘पुरुषो’ नु ‘प्रजापतेः’ ‘नेदि-  
ष्ठम्’ अन्तिकतमं वस्तु ; पुरुषसृष्टेः प्रथमभावित्वात् । ‘सो-  
ऽधम्’ ‘अत्वक्’ अश्वत्यादिदृष्ट इव बाह्यत्वप्रहितः ; ‘ओष-  
धीनां’ मध्ये एते ‘गोधूमाः’ अपि ‘पुरुषस्य’ सन्निहिततमं  
वस्तु, बलकारित्वात् । तेषां तु त्वगभावः प्रसिद्धः । अतो गोधूम-  
चषालकरणेन ‘मनुष्यलोक मेव’ जितवान् भवतीति \* ॥ ६ ॥

तस्मिन् यूपे गुणविशेषं विधत्ते— “गर्त्तन्वानिति । गर्त्त-  
वान्, यूपस्याग्रे निम्नप्रदेशः कार्यः । ‘गर्त्तन्वान्’ † “अनो  
नुट्”—इति ‡ अन्नन्तात्परस्य मतुवी नुडागमो विहितः, व्यत्य-  
येनाकारान्तादपि भवति । ‘अतीक्ष्णायः’ अतनूकतायः,  
रूपाग्रप्रदेशो भवेत् । गर्त्तं पितृलोकात्मना प्रशंसति—  
“पितृदेव्य इति । “पितृणां सदन मसि”—इत्यादिमन्त्रवर्णाद्  
यूपावटस्य पितृदेवतास्थानत्वं प्रतीयते । अत एव तैत्तिरीयके  
यूपस्य सर्वदेवतामयत्वकथनप्रस्तावे— “पितृणां निखातं मनु-  
ष्याणां मूर्ध्नि निखातात्”—इति § गर्त्तावच्छिन्नस्य यूपभागस्य  
पितृदेवत्वम् । ईदृशी प्रसिद्धिरत्र ‘वै’-शब्देन द्योत्यते ।  
आरोहणीययूपस्य चोदकप्राप्तं प्रमाणं मपवदितुं परिमाणा-  
न्तरं विधत्ते— “सप्तदशेति । चतुर्विंशत्यङ्गुलपरिमितोऽरत्निः ;  
सप्तदशसङ्ख्याका अरत्नयः प्रमाणं यस्य यूपस्येति विग्रहः ॥ ७ ॥

विधत्ते— “अथ नेष्टेति । ‘उदानेष्ट्यन्’ शालातो निर्ग-  
मयिष्यन् ‘कौशं’ दर्ममयं ‘वासः’ पत्नीं परिधापयेत् ॥ । अत्र

\* ‘उत्कीर्णसमाग्रे गोधूमचषालः’—इति का० श्री० सू० १४. १. २२ ।

† ‘गतवान्’—इति ज । ‡ पा० सू० ८. २. १६ ।

§ तै० सू० ६. ३. ४. १६ । ॥ का० श्री० सू० १४. ५. ३ ।



आपस्तम्बः— “अत्रस्य योनिरसीति दर्भमयं पत्नीम्”—इति \* ।  
 श्रुतिश्च भवति— “दर्भमयं परिधापयति”—इति † । यद्वा ,  
 क्रिमिकोशविकारभूतं वासः ‘कौशम्’, तेन परित आच्छा-  
 दयेत् । यद्वा , ‘कौशम्’ कुशमयं, चण्डातकम् अर्द्धीरुक्तं परि-  
 धापयेत् ; एव मेव हि चण्डातकपदं कर्कोपाध्यायेन व्याख्या-  
 तम्— “चण्डातकं चलनमुच्यते ‡ । एवं ह्यभियुक्तोपदेशः § —  
 ‘अर्द्धीरुक्तं विलासिन्या वासश्चण्डातकं स्मृतम्’—इति । नृत्तो-  
 पयिकत्वेनाच्छादनीय मूरुकञ्चुक मर्द्धीरुक्तं वासः । वसनस्य  
 प्रदेशं विधत्ते— “अन्तरमिति । दीक्षाकाले यद्वस्त्रं परि-  
 हितम्, तस्माद् बहिःप्रदेशे इत्यर्थः । अन्तर-शब्दो बहि-  
 र्योगे वर्तते ॥

दर्भैरेव वासः कर्त्तव्यमिति अत्रोपपत्तिं दर्शयति— “जघ-  
 नार्ह इत्यादिना । पूर्वदेशस्याहवनीयसाध्यत्वात् यज्ञः प्राच्यां  
 दिक्ष्ववस्थितः, तस्य यज्ञस्य पश्चिमभागे ( पत्नीशालाया मध-  
 स्थानात् ¶ ) पत्नी यज्ञस्य जघनार्हे इति निरूप्यते । तां  
 पत्नीम् एतर्हि ‘प्राचीं’ प्राङ्मुखां पूर्वदिगवस्थितं यज्ञं प्रापयि-  
 ष्वन् भवति । तदुपायत्वेन दर्भमयवासः परिधापनस्य मेध्य-

\* आप० श्रौ० सू० १८. ५. ७ । इह तार्थं मित्यनुवर्त्तते ।

तच्च वृत्तात् वस्त्रमिति सा० भा० ( तै० सं० १. ७. ६. २. ) ।

† तै० ब्रा० १. ३. ७. १ ।

‡ ‘चलनकमुच्यते’—इति डा०—वेबरसम्पादितं पाठान्तरम् ।

§ अम० को० २. ६. ११६ । ‘विद्ः’—इति च डा०—वेबरदृष्टः ।

॥ ‘अन्तरं दीक्षितवसनात्’—इति का० श्रौ० सू० १४. ५. ४ ।

¶ नास्त्येष पाठो च-पुस्तकादन्यत्र ।

त्वापादकत्व माह— “अस्ति वा इति । पत्नीसम्बन्धिनाभेर्यद-  
वाचीन मङ्गम्, तद् ‘अमेध्यम्’ अपवित्रम् ; तद्यदेशे मेध्य-  
दर्भमयवासःपरिधापनेन तदङ्गं परिशुद्धं ‘कृत्वा’, ‘एनां’ ‘प्राचीं’  
‘यज्ञं’ प्रापितवान् भवति । दर्भाणां मेध्यत्वम् “पवित्रं वै  
दर्भाः पुनात्येवैनम्”—इति \* श्रुत्यन्तरादवगम्यते । “तस्मात्केष्टे-  
त्यादि, प्रतिज्ञार्थनिगमनम् ॥ ८ ॥

विधत्ते— “अथ निश्रेणी मिति † । ‘निश्रेणीम्’ निश्रेणी  
यूपारोहणार्थं सोपानसदृशः काष्ठनिर्मितपदार्थः, ‘निश्रेयति’  
यूपे निदध्यात् । तथा साधनेन यजमानस्य यूपारोहणे  
कश्चिद् विशेषं विधत्ते— “स दक्षिणत इति । दक्षिणप्रदेशा-  
दुदञ्जुखो यूप आरोहेत्, उदक्प्रदेशाद् दक्षिणमुखो वा  
आरोहेदिति विकल्पः । तत्रैकं पक्षं सिद्धान्तयति— “दक्षिणत  
इति । ‘तु’-शब्दः पक्षान्तरव्यावृत्त्यर्थः । तथाहि एवं कृते  
सति ‘उदग् भवति’ कर्मण उदगपवर्गना सिद्ध्यति ; तस्मा-  
दय मेव पक्षः श्रेयान् ॥ ९ ॥

रोहणकाले जायामन्त्रणं विधत्ते— “स रोष्यन्निति ।  
रोहणं करिष्यन्, हे ‘जाये !’ ‘एहि’ आगच्छ, ‘स्वः’ स्वर्गं  
‘रोहाव’ आरोहणं करवावेति ‡ । जायायाः प्रत्युक्तिं दर्श-  
यति— “रोहावेत्याह जायेति § । अथान्वयव्यतिरेकाभ्यां जाया-  
सहितस्य सम्पूर्णव्यवत्वं प्रतिपादयन्नत्र जायामन्त्रणं विधत्ते—

\* तै० ब्रा० १. ३. ७. १ ।

† का० श्रौ० सू० १४. ५. ४ । तत्र ‘निश्रेयणीं’ दृश्यते ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ५. ६ ।

§ का० श्रौ० सू० १४. ५. ७ ।

“तद्यदिति । प्रथमपर्याये असर्व इति परिच्छेदः, असम्पूर्ण इत्यर्थः । ‘ह’ यस्माद् यजमानस्य ‘अर्हः एषः यत् जाया आत्मनः’, तदभावे प्रजोत्पत्त्यभावः, यदा \* जायासाहित्यं तदा प्रजोत्पादनक्षमत्त्वम् । तथाच ‘सर्वः’ सम्पूर्णावयवोऽस्त्वित्याह—“एतां गति मिति । ‘एतां’ यूपारोहणलक्षणां ‘गतिं’ ‘गच्छामि’ प्राप्तवानीत्यभिप्रायेण जायामन्त्रणं कार्यं मिति ॥ १० ॥

एतद्यूपारोहणं मनूय मन्त्रं विधत्ते—“स रोहतीति † । ‘प्रजापतेः’ ‘प्रजाः’ अपत्यभूताः ‘अभूम’ इति ‡ ॥ ११ ॥

गोधूममयचषालस्पर्शनं समन्त्रकं विधत्ते—“अथ गोधूममिति § । वयं देवाः सन्तः ‘स्वः’ स्वर्गम् ‘अगन्म’ गतवन्त इति मन्त्रस्यार्थः ॥ ॥ १२ ॥

“तद् यद् गोधूमानित्यादि । गोधूमस्पर्शनेन वाजपेयजितं मन्त्रं स्वाधीनं कृत्वान् भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ १३ ॥

विधत्ते—“अथ ग्रीष्णींति ¶ । ‘ग्रीष्णी’ शिरसा ‘यूपम्’ ‘अत्युज्जिहीते’ अतिक्रम्योद्गमयति । यूपं शिरसा स्पृशन् त मतिक्रम्य स्वशिर उन्नमयेदित्यर्थः । ‘अमृताः’ अमरणधर्माणो ‘अभूम’ सम्भूता इति उद्गमनमन्त्रस्यार्थः \*\* । ‘एतेन’ यूपग्रात् स्वशिरस उन्नमनात् यूपस्यातिक्रान्तत्वात् देवलोकजयः ॥ १४ ॥

\* ‘यद्वा’—इति ङ, च, क; ज-पुस्तके नास्त्येव ।

† का० श्रौ० सू० १४. ५. ८ ।

‡ वा० सं० ६. २१. ७ ।

§ का० श्रौ० सू० १४. ५. ६ ।

॥ वा० सं० ६. २१. ८ ।

¶ का० श्रौ० सू० १४. ५. १० ।

\*\* वा० सं० ६. २१. ६ ।

विधत्ते— “अथ दिश इति \* । यूपे तिष्ठन्नेव यजमानः सर्वा दिशोऽनुक्रमेण पश्येद् “अस्मे”—इति † मन्त्रं जपन् । तन्मन्त्रस्थाय मर्थः ;— हे दिशः ! ‘वः’ युष्मत्सम्बन्धि ‘इन्द्रियं’ वीर्यम् ‘अस्मे’ अस्मासु ‘अस्तु’ । तथा ‘नृणं’ युष्मत्सम्बन्धि धनम् ‘अस्मे’ अस्मासु ‘अस्तु’ । ‘उत’ अपि च ‘क्रतुः’ सङ्कल्पः , तत्पूर्वको यज्ञोऽपि ‘अस्मे’ अस्तु । ‘वः वर्चांसि’ युष्मत्सम्बन्धीनि तेजांसि ‘अस्मे’ अस्मासु ‘सन्तु’ इति । इन्द्रियादीनामाशासनं युक्तमित्याह— “सर्वं वा इत्यादि । प्रजापतेः सर्वात्मकत्वाद् वाजपेयेन च प्रजापतिप्राप्तित्वाद् ‘अस्य सर्वस्य’ जगतो यश्चादिकं ‘सम्सृज्य’ विभज्याधाय स्वात्मनि धारयति , अनन्तरं स्वात्मनि कुरुते , आत्मसात् कृतवान् भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

अत्र कात्यायनः— “सप्तदशाश्वत्थपञ्चोपनहानषपुटानुदस्य-  
त्यस्मै विशः प्रतिगृह्णात्येनानिति ‡ यदसूत्रयत् , तत् क्रमेण विधत्ते— “अथैन मिति । ‘जषपुटैः’ चैत्रपांशवः § जषाः , तानश्वत्थपत्रैः पुटीकृत्य तैः पुटैः यूपेऽवस्थितं यजमानमभिलक्ष्य ‘उदस्यन्ति’ जर्षान् प्रतिदिशं प्रक्षिपेयुरित्यर्थः । अतएव आपस्तम्बः— “तमाश्वत्थैरासपुटैरुषपुटैरुभयैर्वा विशः प्रतिदिशं मर्पयन्ति”—इति ॥ । “पशवो वा जषाः”—इत्यादिकस्यायमर्थः ; — जषाणां यज्ञद्वारा पशुसाधनत्वात् ताच्छब्दम् । पशूनाञ्च

\* का० श्रौ० सू० १४. ५. ११ ।

† वा० सं० ६. २२. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ५. १२, १३ ।

§ ‘जषचैत्रपांशवः’—इति ज ।

॥ आप० श्रौ० सू० १८. ५. १६ ।

अन्नत्वं क्षीरादिसाधनत्वेन प्रसिद्धम् । अतः पशुद्वारा जघाणा मन्त्रत्वा-  
दूषपुटहननेन यजमानेऽन्न मेव निहितवान् भवतीति ॥ १६ ॥

विधत्ते — “आश्वत्येष्विति । अश्वत्यपलाषेषूपनवान् सन्नवान्  
कुर्यात् । आश्वत्यैरेव करणे कारण माह — “स यदेवेति । ‘अदः’  
अमुष्मिन् विप्रकृष्टे काले, ‘अश्वत्ये’ अवस्थितान् ‘मरुतः’ ‘इन्द्रः’  
आह्वयन्ते । एव मय मश्वत्यो देवविशां मरुता माश्रयभूतः ।  
अतस्तदीयेषु पत्रेषु अन्नसंस्तुताना मूषाणा मुपनिबन्धनं प्रशस्त  
मित्यर्थः । जघपुटेषु क्षेपणकर्तृन् विधत्ते — “विश इति ।  
‘विशः’ वैश्या अपर्पयेयुः । मरुतां विट्त्व मिन्द्रस्य प्रजात्वात् ;  
अतो मनुष्यविशा मपि तत्साजाल्येन तदात्मकत्वम् । तेषां  
वैश्याना मन्त्रत्वं कृषीवलत्वात् । जघपुटानां सङ्ख्यां विधत्ते —  
“सप्तदशेति ॥ १७ ॥

तत्रैव यजमानस्य भूम्यवेक्षणं समन्तकं विधत्ते — “अथेमा  
मिति \* । ‘मात्रे’ सर्वस्य निर्मादत्वात् माहभूतायै ‘पृथिव्यै’  
‘नमः’ ‘इति’ † । आदरार्थं मन्त्रवाक्याभ्यासः । मन्त्रगत-  
माहशब्दस्य जननि-वाचकत्वं विवक्षित मिति वदन् भूम्यवेक्षणं  
ब्रह्मस्यतिदृष्टान्तमुखेन प्रशंसति — “ब्रह्मस्यतेरिति । पूर्वं वाज-  
पेथयज्ञे ब्रह्मस्यतेरभिषिक्ताद् भूमिर्बिभेति स्म । भयकारण माह  
— “योऽभ्यषेचीति । यत् ‘अयम्’ अभिषिक्तः पुरुषो ‘महद-  
भूत्’ इत्यन्वयः । ‘यद्’ यस्मात् अभिषेकेण महत्त्वगुणवान्  
‘अयं’ ब्रह्मस्यतिः ‘मा’ मां भूमिम् ‘न अवदृणीयात्’ नाव-  
दारयेत् ‘इति’ ; अतो हेतोः ‘मित्रधेय मकुरुत’-इति उत्तर-

\* ‘नमो मात्र इति भूमि मवेक्षते’-इति का० श्रौ० सू० १४. ५. १४ ।

† वा० सं० ६. २२. २ ।

वाक्यशेषसम्बन्धः । तथा 'बृहस्पतिः' अपि भूम्याः सकाशाद्  
 बिभेति स्म ; 'यद्' यस्मात् 'इयं' भूमिः 'मा' माम् अभिषिक्तं  
 'नावधून्वीत' न विचालयेत् 'इति' । 'तत्' तस्मात् कारणात्  
 'अनया' पृथिव्या सह 'एव' 'एतत्' निरीक्षणरूपं 'मित्तधेयं'  
 मैत्रीम् 'अकुरुत' भूमिरपि सख्यं मकरोदित्यर्थः । उपक्रमो-  
 पसंहाराभ्यां भवगम्यते,— उपक्रमे तावदुभयोरपि भीति-  
 रुक्ता, अवदारणपरिहाराय मित्तधेयकरणं मिति चोक्तम् ;  
 उपसंहारेऽपि 'न पुत्रो मातरम्' इति मातुः पुत्रकर्तृकोपद्र-  
 वस्य निषेधात् ॥ १८ ॥

इदानीं मनुष्ठानेऽपि भूम्यवेक्षणं मित्तत्वप्रयोजनं मित्याह—  
 “बृहस्पतिसवो वा इति । “वाजपेय मिति । यदेषः 'बृह-  
 स्पतिसवः' बृहस्पतेरभिषेको यस्मिन्निति स तथोक्तः । शिष्टं  
 पूर्वपर्यायवत् व्याख्येयम् ॥ १९ ॥

विधत्ते— “अथ हिरण्यं मिति । 'हिरण्यम्' 'अभि'-लक्ष्य  
 यूपवादवरोहेत् ; यतः 'हिरण्यं' मरणरहितायुरात्मकम्, तत्ताव-  
 रोहणेन तथाविधे 'आयुषि' एव प्रतिष्ठितो भवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

हिरण्यनिधानार्थं वस्तुजिनास्तरणं विधत्ते— “अथाजिति ।  
 तत्रास्यास्तीर्णाजचर्मणः 'उपरिष्ठात्' 'रुक्मं' निदध्यात् । हिरण्ये  
 पवरोहणं वैकल्पिकं मित्याह— “इमां वैवेति । रुक्मे  
 वावरोहेदिति । अत एव कात्यायनः— “स रुक्मे वस्तुचर्मण्यव-  
 रोहति, भूमौ वा”—इति \* ॥ २१ ॥

\* का० श्रौ० सू० १४. ५. १५, १६ । 'रुक्मः परिमण्डलः  
 सौवर्णाभरणविशेषः, वस्तो मुष्करः साण्डश्चागः'—इति तत्र वृत्तिः ।  
 “हिरण्यं मध्यवरोहति”—इत्यादि च ते० ब्रा० १. ३. ७. ७ ।

विधत्ते— “अथास्मा इति । ‘अस्मै’ यूपादवरोहाय । आसन्दी-  
लक्षणं मुक्तं कात्यायनेन— “औदुम्बरी मासन्दीं नाभिदन्ना  
मरन्निमात्राङ्गी मूता माहरन्ति”—इति \* । ‘उपरिसद्यम्’—  
इत्यस्याय मर्थः ;— वाजपेयेन यागेन ‘उपरिसद्यम्’ उपरिसदनं  
‘जयति’ भद्रपीठादेरुपर्यवस्थानं प्राप्नोति । एतदुपपादनायाह—  
“यो जयतीति । ‘यः’ यूपारोहणेन ‘अन्तरिक्षसद्यम्’ आकाशे  
उपवेशनं ‘जयति’, ‘एषः’ इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २२ ॥

“औदुम्बरीति । उदुम्बरनिर्मिता आसन्दी † । “अन्नं  
वा जर्गिति । यदेतद् ‘जर्ग’ बलकरम् ‘अन्नम्’, तदात्मकः  
‘उदुम्बरः’ वृक्षः ; तज्जन्यत्वात् । श्रूयते हि— “देवा वा  
जर्जं व्यभजन्त, तत उदुम्बर उदतिष्ठत्”—इति । “ता  
मयेणेति । अस्यार्थः ;— ‘हविर्दाने’—इति द्वितीयादिवचनान्तं,  
पदम्, ते ‘अग्रेण’ तयोरग्रप्रदेशम् ‘आहवनीयं जघनेन’  
सोमाहुत्यधिकरणान्तेः पश्चिमप्रदेशे ‘ताम्’ आसन्दीं निदध्यात् ।  
अन्नं सूत्रम्— “उत्तरवेदि मपरैणौदुम्बरी मासन्दीं वस्तुचर्मणा  
स्तृणातीयं ते”—इति ‡ ॥ २३ ॥

आसन्त्या मजजिनेनाच्छादनं विधत्ते— “अथाजर्घभस्याजिन  
मिति । वस्तुप्रजापत्योर्बहुप्रजोत्पादकत्वाद्देवरूप्यं समर्थयते—  
“एता वा इत्यादि । ‘एताः अजाः’ ‘प्रजापतेः’ ‘प्रत्यक्ष-

\* का० श्रौ० सू० ७. ६. २३ ।

† “चतुर्भिः पादैरुपेता खट्वाकारा”—इति तै० सं० ७. ५. ८. १७  
सा० भा० । विशेषतस्त ला० सू० ३. १२. १-१५ ; तै० ब्रा० ७. ५.  
७ ; ८. २. १ टीप्पन्योर्द्रष्टव्यम् । इह चोपरिष्ठादान्नास्यति ६. ७. १. ५ ।

‡ का० श्रौ० सं० १४. ५. १७ ।

तस्मात्' अतिशयेन प्रत्यक्षं रूपम्, यस्मादेवं 'तस्मात्' संवत्सर-  
मध्ये 'त्रिः' त्रिवारं 'द्वा चीन्' वा पुत्रान् 'विजायमानाः'  
सुवाना भवन्ति \* ॥ २४ ॥

आस्तरण मन्त्रं † विधत्ते— “स आस्तृणातीति ।  
हे अभिषिच्यमान वाजपेययाजिन् ! 'ते' तव 'इयम्' आसन्दी  
'राट्' राज्यसाधनम्, पीठादेरुपरिसदम मेव राज्य मित्यर्थः ।  
तस्माभिप्राय माह— “राज्य मिति । तदेतेनास्तरणेन यज-  
माने राज्यं निहितवान् भवति ॥

विधत्ते— “अथैन मिति ‡ । 'एनं' यजमानम् अस्या  
मासन्त्याम् उपवेशयेत् । तन्मन्त्रस्याय मर्थः ;— हे यजमान !  
'यन्ता' सर्वस्व नियन्ता 'असि', 'यमनः' 'प्रजानां' नियमिता  
असि, 'ध्रुवः' स्थिरः 'असि', 'धरुणः' धारकः असि । 'कृष्यै'  
'कर्षणाय 'त्वा' त्वाम्, उपवेशयामीति शेषः ।' एव सुत्तर-  
त्रापि योज्यम् । 'क्षेमाय' लब्धवस्तुपरिपालनाय, 'रख्यै' धनाय,  
'पोषाय' इति § ।

मन्त्रं व्याचष्टे— “यन्तार मिति । “ध्रुव मेवैन मिति ।  
'अस्मिन् लोके' 'ध्रुवं' सन्तम् 'एव' 'एनं' यजमानम् 'एतत्'

\* अग्रेण यूपं वस्ताजिनं प्राचीनग्रीव सुत्तरलोमास्तीर्य, तस्मि-  
ञ्छतमानं हिरण्यं निधायान्तमसीति हिरण्ये दक्षिणं पादं यज-  
मानः प्रतिष्ठापयते, पुष्टिरसि प्रजनन मसीति सञ्चम् ; तस्मादासन्दी  
मारोहति”—इति आप० श्रौ० सू० १८. ५. २१, ६. १—३ ।

† वा० सं० ६. २२. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ५. १८ ।

§ मन्त्रपाठस्तु वा० सं० ६. २२. ४ ।



एतेन मन्त्रभागेन 'धरुणं' धारकं 'करोति' । कथादिपदाना-  
मर्थं सङ्कलन्याह— "साधवे त्वेति । श्रेयसे त्वा मुपवेशया-  
मीति । अनेन कथादिश्रेयांसि, अन्यान्यपि सङ्गृहीतानि  
भवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ ६ [ २. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवौघे वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति पञ्चमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः \* ॥

---

\* इत उत्तर मिह 'कण्डिकाः ११७'—इति क, कण्डिका-  
सङ्ख्या ११७—इति ख, ग, घ । तत्र १ ब्रा० १६ क०, २ ब्रा०  
१६ क०, ३ ब्रा० १४ क०, ४ ब्रा० १५ क०; ५ ब्रा० २८ क०, ६ ब्रा०  
२५ क० । एतासां सङ्कलनयास्मिन् प्रपाठके षट्सु ब्राह्मणेषु ११७  
कण्डिकाः सम्पन्ना इति शम् ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम्,  
अपिवा  
द्वितीयेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

बार्हस्पत्येन चरुणा प्रचरति । तस्मानिष्ट  
एव खिष्टकृत्स्नवत्युथास्मा ऽन्नं सम्भरत्यन्नं वा  
ऽएष उज्जयति यो ब्वाजपेयेन यजते ऽन्नपेयं  
ह वै नामैतद्युद्वाजपेयं तद्यदेवैतदन्नं मुदजैषीत्त-  
देवास्मा ऽएतत् सम्भरति \* ॥ १ ॥

औदुम्बरे पात्रे † । अन्नं वा ऽजुर्गुदुम्बर  
जुर्जो ऽन्नाद्यस्त्रावरुद्धौ तस्मादौदुम्बरे पात्रे सो-  
ऽप एव प्रथमाः सम्भरत्यथ पयो ऽथ यथोपस्मार  
मुन्नानि ॥ २ ॥

\* 'सम्भरति'—इति क ।

† 'पात्रे'—इति ग, 'पात्रे'—इति घ ।

तद्धैके । सप्तदशान्नानि सम्भरन्ति सप्तदशः  
 प्रजापतिरिति \* वृद्धन्तस्तदु तथा न कुर्यात् प्रजा-  
 पतेर्नैव सर्व्वं मन्त्रं मनवरुहं क उ तस्मै मनुष्यो  
 यः सर्व्वं मन्त्रं मवरुन्धीत † तस्मादु सर्व्वं  
 मेवान्नं यथोपस्मारं सम्भरन्नेकं मन्त्रं न सम्भ-  
 रेत ॥ ३ ॥

स यन्न सम्भरति । तस्योद्ब्रवीत तस्य  
 नाग्नीयाद्यावज्जीवं तथा नान्तं मेति तथा ज्योर्जी-  
 वति स एतस्य सर्व्वस्यान्नाद्यस्य सम्भृतस्य सुवे-  
 णोपघातं वाजप्रसवीयानि जुहोति तद्याभ्य एवै-  
 तद्देवताभ्यो जुहोति ता अस्मै प्रसुवन्ति ताभिः  
 प्रसूत उज्जयति तस्माद्वाजप्रसवीयानि जुहोति ॥ ४ ॥

स जुहोति । वाजस्येमं प्रसवः सुषुवे ऽयं  
 सोमं राजान मोषधीष्वसु ‡ ता अस्मभ्यं मधु-  
 मती भवन्तु व्ययं राष्ट्रे जाययाम पुरोहिताः  
 स्वाहा ॥ ५ ॥

\* 'प्रजापतेरिति'—ग-पुस्तके ।

† 'मवरुन्धीति'—इति क, ख ।

‡ 'सु'—इति ग 'सु'—इति घ ।

व्वाजस्येमाम् । प्रसवः शिश्रिये दिव मिमा  
च व्विश्वा भुवनानि सम्म्राट्\* । अदिक्मन्तं  
दापयति प्रजानन्त्स नो रयिः सर्ववीरं निय-  
च्छतु स्वाहा ॥ ६ ॥

व्वाजस्य नु । प्रसव आवभूवेमा च व्विश्वा  
भुवनानि सर्वतः । सुनेमि राजा परियाति  
विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्द्धयमानो ऽअश्ने  
स्वाहा ॥ ७ ॥

सोमः राजानम् । अवसे ऽग्नि मन्वारभा-  
महे । आदित्यान्विष्णुः सूर्यं ब्रह्माणं च बृह-  
स्पतिः स्वाहा ॥ ८ ॥

अर्थमणं बृहस्पतिम् । इन्द्रं दानाय ची-  
दय । व्वाचं व्विष्णुः सुरस्वतीः सवितारं  
व व्वाजिनः स्वाहा ॥ ९ ॥

अग्ने ऽअच्छा । वदेह नः प्रति नः सु-  
रुना भव । प्र नो यच्छ† सहस्रजित्त्वं हि  
यनदा असि स्वाहा ॥ १० ॥

\* 'सम्म्राट्'—इति ग 'सम्म्राट्'—इति घ ।

† 'यच्छ'—इति च डा० वेबरदृष्टः ।

प्र नः । यच्छत्वर्थमा प्र पूषा प्र बृहस्पतिः ।  
प्र वाग्देवी ददातु नः स्वाहेति \* ॥ ११ ॥

अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति । अन्नाद्येनै-  
वैन मेतदभिषिञ्चत्यन्नाद्य मेवास्मिन्नेतद् दधाति  
तस्मादेनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति † ॥ १२ ॥

सो ऽभिषिञ्चति । देवस्य त्वा सवितुः प्र-  
सवे ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूषो हस्ताभ्या मिति  
देवहस्तैरेवैन मेतदभिषिञ्चति सुरस्वत्यै व्वाचो  
यन्तुर्यन्त्रिये ‡ दधामीति व्वाग्वै सुरस्वती तदेनं  
व्वाच एवं यन्तुर्यन्त्रिये दधाति ॥ १३ ॥

तदु हैक ऽआहुः । विश्वेषां त्वा देवानां  
यन्तुर्यन्त्रिये दधामीति सुर्व्वं वै विश्वे देवा-  
स्तादेन० सर्व्वस्यैव यन्तुर्यन्त्रिये दधाति तदु तथा  
न ब्रूयात्सुरस्वत्यै त्वा व्वाचो यन्तुर्यन्त्रिये दधा-  
मीत्येव ब्रूयाद्वाग्वै सुरस्वती तदेनं व्वाच एव  
यन्तुर्यन्त्रिये दधाति बृहस्पतेष्ठा साम्राज्येनाभि-

\* 'स्वाहेति'—इति क । 'स्वाहेति ख , ग ।

† '०षिञ्चति'—इति ग , घ ।

‡ 'यन्तुर्यन्त्रिये'—इति सा-सम्मत इति डा० वेबरः ।

षिञ्चाभ्यसाविति नाम गृह्णाति तद् बृहस्पते-  
रुवैन मेतत्सायुज्यं सलोकतां गमयति ॥ १४ ॥

अथाह । सम्नाडय मसौ सम्नाडय मसाविति  
निवेदित मेवैन मेतत्सन्तं देवेभ्यो निवेदयत्ययं  
महावीर्यो यो ऽभ्यषेचीत्ययं युष्माकैको ऽभूत्तं  
गोपायतेत्येवैतदाह त्रिष्टुत्वा आह त्रिवृद्धि  
यज्ञः \* ॥ १५ ॥

अथोज्जितीः । जुहोति वा व्याचयति वा  
यदि जुहोति यदि व्याचयति समान एव  
बन्धुः ॥ १६ ॥

स व्याचयति । अग्निरेकाक्षरेण प्राण मुद-  
जयत्त मुज्जेषं प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्त-  
दशं स्तोम मुदजयत्त मुज्जेष मिति तद्यदेवै-  
ताभिरेता देवता उदजयंस्तदेवैष एताभिरुज्ज-  
यति सप्तदश भवन्ति सप्तदशो वै प्रजापति-  
स्तत् प्रजापति मुज्जयति † ॥ १७ ॥

अथाहाग्नये स्विष्टकृते ऽनुब्रूहीति । तद्य-

\* 'यज्ञः'—इति ग, 'यज्ञः'—इति घ ।

† 'मुज्जयति'—इति क ।

दन्तरेणाहुती ऽएतत् कर्म क्रियत् ऽएष वै प्रजा-  
पतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः  
प्रजाता एतन्वेवाप्येतद्भुनु प्रजायन्ते तन्मध्यत  
एवैतत् प्रजापति मुञ्जयति तस्मादन्तरेणाहुती  
ऽएतत् कर्म क्रियत् \* ऽआश्राव्याहाग्निः स्विष्टकृतं  
यजेति वषट्कृते जुहोति ॥ १८ ॥

अथेडा मादधाति । उपहृताया मिडाया मपु  
उपस्पृश्य माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति माहेन्द्रं ग्रहं  
गृहीत्वा स्तोत्रं मुपाकरोति तत् स्तोत्राय प्रमी-  
वति स उपावरोहति सो ऽन्ते स्तोत्रं भवत्यन्ते  
शस्त्वथ ॥ १९ ॥

तद्वैके । एतत् कृत्वाथैतत् कुर्वन्ति तदु  
तथा न कुर्यादात्मा वै स्तोत्रं प्रजा शस्त्वमेत-  
स्माद् स यजमानं प्रणाशयति । स जिह्वा  
एति स हलति तस्मादेतदेव कृत्वाथैतत्  
कुर्यात् ॥ २० ॥

अथेडा मादधाति । उपहृताया मिडाया मपु

उपस्पृश्य माहेन्द्रं गृहं गृह्णाति माहेन्द्रं  
 गृहं गृहीत्वा स्तोत्रं मुपाकरोति तं स्तोत्राय  
 प्रसीवति स उपावरोहति सो ऽन्ते स्तोत्रस्य भव-  
 त्यन्ते शस्त्रस्य ॥ २१ ॥ १ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२.२.] ॥

अथ नैवारचरुप्रचारं विधत्ते — “बार्हस्पत्येनेति \* । प्रधान-  
 नैवाराहुतेरनन्तरं कर्त्तव्यं वाजप्रसवीयहोमं विधातुं कालं  
 विधत्ते — “तस्यानिष्ट एवेति । ‘तस्य’ नैवारस्य ‘स्विष्ट-  
 क्तत्’ ‘अनिष्टः’ अनिष्टकृद् ‘भवति’, प्रधानयागादृद्धं स्विष्ट-  
 क्ततः प्रागित्यर्थः । होमार्थं मन्त्रसम्भरणं विधत्ते — “अथास्मा  
 इति । ‘अस्मै’ यजमानाय त मभिषेकार्थम् ‘अन्नं’ सम्भरेत् ॥ १ ॥

अन्नसम्भरणार्थं पात्रविशेषं विधत्ते — “औदुम्बर मिति † ।  
 तत्र प्रथमं मपां सम्भरणं विधत्ते — “सोऽप एवेति । प्रथ-  
 मम् ‘अपः’ जलानि सम्भरेत् । ‘अथ पयः’ क्षीरं तदनन्तरम् ।  
 ‘यथोपस्मारम्’ उपस्मृति मनतिक्रम्य ‘अन्नानि’ सम्भरेत्, यानि  
 तदा स्मृतिपथं भवन्ति तानीत्यर्थः ‡ । तत्र ग्राम्यारण्य-  
 भेदेन चतुर्दशान्नान्यापस्तम्बेन सूत्रितानि, तान्यपि यथो-  
 पस्मारपदेन ग्राह्याणि — “तिलमाषा व्रीहियवाः प्रियङ्गवो

\* ‘नैवारेण प्रचरति’—इति का० औ० सू० १४. ५. १६ ।

† का० औ० सू० १४. ५. २० ।

‡ का० औ० सू० १४. ५. २१ क । “मम ग्राम्या ओषधयः,  
 ममारण्याः—इति च ते० ब्रा० १. ३. ८. १ द्रष्टव्यम् ।



गोधूमाः वेणुस्थामकनीवाराः जर्त्तिलश्च गवीधुका अरण्यजा  
मर्कटका विज्ञेया गर्भुतसप्तमा कुलत्यसप्तमा वा”-इति \* ।  
बुद्धिस्थानि यानि वा , तानि सम्भरेत् ॥ २ ॥

‘यथोपस्मार मन्त्रानि संविभृयात्’-इत्यत्र सङ्ख्याया अनुक्तेः  
यावन्ति स्मर्यमाणानि तावन्ति सम्भरेदित्यर्थो भवति , तत्र  
सङ्ख्याविशेषं पूर्वपक्षयति— “तद्वैक इति । ‘सप्तदश’ सप्तदश-  
सङ्ख्याकानि ‘अन्तानि’ ‘सम्भरन्ति’ । तत्रोपपत्ति माह— “सप्त-  
दशः प्रजापतिरितीति । प्रजापतेः सप्तदशत्वं प्रागुक्तम् † ॥

तन्मतं निराचष्टे— “तदु तथेति । ‘प्रजापतेः’-इति । अस्याय  
मर्थः ;— पूर्वं प्रजापतेरपि सकल मन्त्रं न वशीकृतम् , इदानीं  
‘तस्मै’ प्रजापत्यर्थे ‘मनुष्यः’ ‘कः’ समर्थः सर्वान्नावरोधने ; तस्माद्  
यावत्स्मृति सम्भर्तव्यानीति । बुद्धिस्थाना मपि सर्वेषां सम्भ-  
रणे प्राप्ते एकस्य निषेधति— “एक मन्त्र मिति ‡ ॥ ३ ॥

असम्भ्रियमाणान्नविषयं कञ्चिद् विशेषं विधत्ते— “स  
यदिति । ‘यत्’ अन्नं ‘न’ सम्भरेत् , ‘तस्य’ ‘उद्बुवीत’ न  
सम्भृत मित्युच्चेः तन्नाम ब्रूयात् , यथा असम्भृतस्य अन्नस्य  
थावज्जीवनभोजनेन ‘अन्तं’ विनाशं ‘न एति’ , ‘ज्योक्’ चिर-  
कालं ‘जीवति’ । भोक्तव्यस्य सर्वस्य भोगे सति विनाशो भवति,  
अतस्तदेक मन्त्रशिष्य भुञ्जीतेति तात्पर्यम् § ॥

\* व्याप० श्रौ० सू० १७. ११. ३ । सप्त गाय्त्र्याः कष्टे , सप्ताष्टग्या  
ब्रह्मर्षे—इति तच्छेषः ।

† १ प्र० २ ब्रा० ( २४ पृ० २ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ५. २१ ख ।

§ का० श्रौ० सू० १४. ५. २२ ।

विधत्ते — “स एतस्येति । मिलितस्य ‘एतस्य’ ‘सर्वस्य’ अन्नस्य \* एकदेशं ‘सुवेण’ ‘उपघातम्’ उपहत्योपहत्य गृहीत्वा ‘वाजप्रसवीयानि जुहोति’ वाजप्रसवशब्दयुक्तमन्त्रकरणकहीमान् कुर्यादित्यर्थः † । “तद्याभ्य इति । मान्त्रवर्णिकाभ्यो ‘याभ्यः’ अष्टादिदेवताभ्यो ह्ययते तदैव । ‘ताः’ ‘अस्मै’ यजमानाय एत-  
द्यागफलभूत मन्त्र मवरोहुं ‘प्रसवन्ति’ अनुजानन्ति, ताभि-  
रनुज्ञातः पश्चात् स्वाधीनं करोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

होम मनूय मन्त्रान् विधत्ते — “स जुहोति वाजस्येम मिति । सर्वत्र ‘स्वाहा’-शब्दो हवनलिङ्गम् । प्रथमस्याय मर्थः ‡ ;— ‘अग्रे’ पूर्वं ‘वाजस्य’ अन्नस्य ‘प्रसवः’ उत्पादकः परमेश्वरः ‘ओषधीषु’ ‘अप्सु’ च सारभूतम् ‘इमं’ सोमवल्ली-  
रूपं ‘राजानं’ ‘सुषुवे’ उत्पादयामास, ‘ताः’ ओषधय आपश्च ‘अस्मभ्यम्’ अस्मदर्थं ‘मधुमतीः’ माधुर्योपिता भवन्तु । ‘वयम्’ अपि अस्मिन् ‘राष्ट्रे’ ‘पुरोहिताः’ यागानुष्ठानादौ पुरोगामिनां ‘जागृत्याम’ जागरूका भूयास्मेति ॥ ५ ॥

अथ द्वितीयः § ;— “वाजस्येमा मिति । ‘वाजस्य प्रसवः’ ईश्वरः ‘इमां’ भूमिं ‘दिवम्’ इमानि चान्यानि सर्वाणि ‘भुवनानि’ ‘शिन्त्रिये’ आश्रितवान् । स च ‘सम्नाट्’ सर्वेषां भुवनानां भूत्वा ‘आदित्सन्तं’ दातुं मनिच्छन्तं भोग्यं ‘प्रजानन्’ ‘दापयति’ ‘रयिं’ धनं नियच्छतु’ ददातु ॥ ६ ॥

\* ‘अन्नादस्य’—इति ज ।

† का० श्रौ० सू० १४. ५. २३ ।

‡ वा० सं० ६. २३. १ ।

§ वा० सं० ६. २४. १ ।

अथ तृतीयः \* ;— “वाजस्य न्विति । ‘वाजस्य प्रसवः’  
 ‘नु’ खलु ‘इमा’ इमानि ‘विष्वा’ सर्वाणि ‘भुवनानि’ सर्वतः  
 ‘आ बभूव’ व्याप्नोत् । ‘सनेमि’—इति पुराणवचनम् † । ‘सः’  
 चिरन्तनो ‘राजा’ ‘परियाति’ सर्वतः सञ्चरति । ‘विहान्’  
 अनुष्ठीयमानं कर्म प्रजानन् । ‘अस्मे’ अस्मदर्थे ‘प्रजां’ ‘पुष्टिं’  
 च ‘वर्द्धयमानः’ परियातीति सम्बन्धः ॥ ७ ॥

अथ चतुर्थः ‡ ;— “सोम मिति । वयं सोमादीन् देवान्  
 ‘अवसे’ रक्षणाय, तर्पणाय वा ‘अन्वारभामहे’, ते सर्वे अनु-  
 गृह्णन्त्विति वाक्यशेषः ॥ ८ ॥

अथ पञ्चमः § ;— “अर्यमण मिति । हे वाजस्य प्रसव ।  
 त्व मर्यमादीन् ‘दानाय चोदय’ अस्मभ्यं धनदानार्थं प्रेरय ।  
 वाक्सरस्वत्योरीषज्ञेदो द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

अथ षष्ठः ¶ ;— “अग्ने अच्छेति । हे ‘अग्ने !’ ‘इह’ अस्मिन्  
 कर्मणि ‘नः’ अस्माकम् ‘अच्छ’ अभिमुख्येन ‘वद’ हितं कथय ।  
 ‘नः’ अस्मान् प्रति ‘सुमनाः’ करुणार्द्रचित्तो भव । हे ‘सह-  
 स्रजित् !’ सहस्रस्य धनस्य जितः ! ‘हि’ हेतौ । यतः ‘त्वं’  
 स्वभावतो ‘धनदा असि’, अतः ‘नः’ अस्मभ्यं ‘प्रयच्छ’, धन  
 मिति शेषः ॥ १० ॥

अथ सप्तमः ॥ ;— “प्र न इति । अर्यमादयो ‘नः’ अस्मभ्यं  
 धनं प्रयच्छन्तु । पूषादिदेवतान्तरवाचकपदैःपि क्रियापदस्यानु-

\* वा० सं० ६. २५. १ ।

† निघ० ३. २८. ४ ।

‡ वा० सं० ६. २६. १ ।

§ वा० सं० ६. २७. १ ।

॥ वा० सं० ६. २८. १ ।

¶ वा० सं० ६. २९. १ ।

षङ्गं द्योतयितुं पृथक् पृथक् प्रोपसर्गप्रयोगः , 'प्र' 'ददातु'  
प्रकर्षेण यच्छत्विति ॥ ११ ॥

हुतशेषस्थान्तस्य विनियोगं दर्शयति— “अथैन मिति ।  
'एनं' सुन्वन्तं यजमानं 'परिशिष्टेन' अन्नेन अभिषिञ्चेत् हुत-  
शेषाभिषेकेण यजमाने अन्नमेव विहितवान् भवति \* ॥ १२ ॥

अभिषेक मन्व्य मन्वं विधत्ते— “म इति । “देवस्य  
त्वेति † , व्याख्यातः । 'सरस्वत्यै' षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । सर-  
स्वत्याः 'वाचः', 'यन्तुः' अन्तर्यामिणश्च 'यन्त्रे' ‡ नियमे अभ्यनु-  
ज्ञायां 'नि दधामि' इति ॥ १३ ॥

अत्र तु 'सरस्वत्यै वाचः'—इत्यस्य § स्थाने 'सरस्वत्यै त्वा  
वाचः' इति युष्मच्छब्दं प्रक्षिप्य प्रयोक्तव्य मिति विधातुं पूर्व-  
पक्षं सोपपत्तिकं मुद्रावयति— “तदु हैक इति । केचिच्छा-  
खिनः 'आहुः' । किमिति । 'सरस्वत्यै वाचः'—इत्यस्य स्थाने  
'विश्वेषां त्वा देवानाम्'—इति प्रक्षिप्य 'यन्तुः'—इत्यादि पूर्ववद्  
वक्तव्य मिति स्वमतं दर्शयितुं मुक्तम् । परमतं निराकरोति—  
“तदु तथेति । अत एव कात्यायनः— “सरस्वत्यै वाचः स्थाने  
विश्वेषां त्वा देवानां , सरस्वत्यै त्वेति वा”—इति ॥ । 'बृह-  
स्पतेः'—इत्यादिः पूर्वोक्त मन्वशेषः । मन्वान्ते असावित्यस्य स्थाने  
यजमानस्य नाम सम्बुद्धान्तं गृह्णीयात् ॥ १४ ॥

\* का० श्रौ० सू० १४. ५. २४ ।

† वा० स० ६. ३०. १ ।

‡ 'यन्त्रिये'—इति बहुमूल पुस्तकपाठः ।

§ वा० मं० ६. ३०. २ ।

॥ का० श्रौ० सू० १४. ५. २५ , २६ ।

आवेदनं विधत्ते— “अथाह सम्म्राडिति । अत्रापि असा-  
वित्यस्य स्थाने प्रथमान्तं यजमाननाम ग्रहीतव्यम् । एतन्ना-  
माय मभिषिक्तः सम्म्राट् महावीर्यो जात इति वदेत् । आवे-  
दनवाक्याद्वत्तेरभिप्राय माह— “निवेदित मिति । एवं नाम-  
ग्रहीत्या प्रथमं मनुष्येभ्यो ‘निवेदित मेव सन्तम्’ ‘एनम्’  
तदेतेन द्वितीयेन सम्म्राडय मसावित्यनेन ‘देवेभ्यः’ ‘निवेदयति’  
ज्ञापयति । किमिति । ‘यः’ यजमानः ‘अभ्यषिचि’ ‘अयं  
महावीर्यः’ सम्पन्न इति । वाक्यस्य पर्यवसित मर्थ माह—  
“अयं युष्माकेति । ‘अयम्’ अभिषिक्तो यजमानः युष्माकं मध्ये  
‘एकः’ ‘अभूत्’, देवत्वं प्राप्तवानित्यर्थः, हे देवाः ! तं गोपाय-  
तेति ॥ अत्र सूत्रम्— “सम्म्राडय मसावित्याह नामग्राहं  
त्रिरुच्चैः”—इति \* । तदेतत् त्रित्वं विधत्ते— “त्रिष्कृत्व इति ।  
यज्ञस्य त्रित्वत्वं सवनत्रयात्मकत्वात् ॥ १५ ॥

विधत्ते— “अथोज्जितोरिति । उज्जयलिङ्गयुक्तमन्त्रकर-  
णिका † आहुतय उज्जितयः, ता जुहुयात्, यजमानस्य तन्मन्त्रेण  
वाचनं वा कार्यमित्यर्थः ‡ । ‘बभूवुः’ हवनवाचनस्तावकार्थवाद-  
वाक्यशेषः, आन्नास्यमानः समान इत्यर्थः ॥ १६ ॥

वाचन मनुय मन्त्रान् विधत्ते— “स वाचयतीति ।  
संहितायाम् “अग्निरेकाक्षरेण”—इत्यनुवाके सप्तदश मन्त्राः  
पठिताः § ; अत्र अग्निरेकाक्षरेणेति प्रजापतिः सप्तदशाक्षरे-

\* का० श्रौ० सू० १४. ५. २७ ।

† ‘उज्जयलिङ्गयुक्ता मन्त्रकरणिका’—इति च, क ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ५. २८ ।

§ वा० सं० ६. ३१—३४ कण्ठीषु द्रष्टव्याः ।

णेत्याद्यन्तयोर्ग्रहणेन ( सप्तदश मन्त्राः \* ) सर्वेऽपि गृह्यन्त इत्य-  
भिप्रायः । तेषां सङ्ग्रहेणाय मर्थः ; — “ओ आवायेति चतु-  
रक्षर मस्तु श्रीषडिति चतुरक्षरं यजेति द्वाक्षरं ये यजामह  
इति पञ्चाक्षरं द्वाक्षरो वषट्कारः स एष सप्तदशः प्रजापतिः  
—इति †, सप्तदशाक्षराणि विद्यन्ते । तत्राग्न्यादिसप्तदशदेवाः  
एकाक्षरप्रभृत्येकैकाक्षरवृद्धियुक्तैः प्राणमनुष्यादीन् जितवन्तः ।  
तानग्न्यादिभिर्जितान् नरप्राणादीनह मिदानीम् ‘उज्जीषम्’  
उज्जीयांसम् । अग्निदेवतादिभिर्मन्त्राक्षरसङ्ख्यानुसारेण द्विपा-  
ननुष्य—त्रिलोकादर्जयो विज्ञेयः । त्रिवृत्स्तोमगताना मृचां  
नवसङ्ग्रोपेतत्वात् ‡ नवाक्षरेण तज्जयो द्रष्टव्यः । त्रयोदश-  
स्तोमादावपि तिसृणां स्तोत्रियाणा मृचा माहवृत्तिविशेषेण  
तत्सङ्ख्या द्रष्टव्या § । इम मेव तात्पर्यार्थं प्रतिपादयति—  
“तद्यदेवैताभिरिति । ‘एताभिः’ उज्जितिभिः । तेषां मन्त्राणां  
सप्तदशसङ्ख्या मनूय प्रजापत्यात्मना स्तौति—“सप्तदशेति ॥ १७ ॥

नैवारहविषः प्रधानस्विष्टकृतोर्मध्येऽनुष्ठेयं कर्मजात मुप-  
दर्श्य वोदकप्राप्तं स्विष्टकृत्यागादिक मनुसन्धत्ते— “अथा-  
हेत्यादि । “अग्नये स्विष्टकृतेऽनुब्रूहि”—‘इति’ अध्वर्युर्वदेत् ।  
‘अनुब्रूहि’ अनुवाक्यां पठेत्यर्थः । अत्र सम्बोध्यो होता ॥ ।

\* ज-पुस्तकमात्रे शेषोऽधिकः पाठः ।

† तै० सं० १. ६. ११. २ । पुरस्तादिह च १. ५. २. १६. १७ ।

‡ ता० ब्रा० ३. १. १—३ ता० ६ ऋचः मा० वे० खण्डेषु सं०

उत्त० आ० १. १. १—३ सूक्तेष्वाम्नाताः । द्रष्टव्यम् ।

§ ता० ब्रा० त्रिवृत्स्तोमविधायकवचनेभ्योऽनन्तरम् ।

॥ ‘अनुब्रूहि’ अनुवाक्यां पठेति सम्बोध्यो होता—इति ज ।

तद्यदन्तरेत्यस्याय मर्थः— नैवारहविः—स्विष्टकृद्यागाहुत्वोर्मध्ये  
क्रियमाणेन अन्नसम्भरण-वाजप्रसवीय-होमादिना यन्नरूपं प्रजा-  
पतिं जितवान् भवतीति ॥

अनुवचनानन्तरं, माश्रावणादिकं प्रकृतिवत् स्विष्टकृतः कार्यं  
मित्यनुक्रामति— “आश्राव्येति । ‘वषट्कृते’ होत्रा याज्यान्ते  
वषट्कारे प्रयुक्ते सति ‘जुहोति’ सौविष्टकृतं हविः ॥ १८ ॥

अथ स्विष्टकृदनन्तरभावीनि कर्माण्याह— “अथेडा मिति ।  
भाहेन्द्रग्रहणानन्तरं \* तदीयं पृष्ठं ‘स्तोत्रम्’ ‘उपाकरोति’  
आरम्भयेदित्यर्थः । ‘तम्’ आसन्द्या मघिष्ठित मभिषिक्तं यज-  
मानं ‘स्तोत्राय’ ‘प्रमीवति’ ज्ञापयेत्, आह्वयेदित्यर्थः । अत्र  
सूत्रम्— “अवरुह्य गच्छति स्तोत्राय प्रहितः”—इति † । ‘सः’  
सुन्वन् ‘उपावरोहति’ आसन्द्याः सकाशात् ‘सः’ एवं स्तोत्र-  
शस्त्रयोः ‘अन्ते’ समीपे स्थितो भवेत् ॥ १९ ॥

अथ केचिदुज्जितिवाचनानन्तरं माहेन्द्रग्रहणं स्तोत्रशस्त्रे  
च कृत्वा स्विष्टकृदादिकं यजमानस्य पश्चादवरोहणं मिच्छन्ति,  
तद् दूषयितुं मनुवदति— “तद्वैक इति । ‘एतत्’ माहेन्द्र-  
ग्रहणादि होमान्तं तत् कर्म कृत्वा ‘अथ’ अनन्तरम् ‘एतत्’  
उक्तं स्विष्टकृदिडोपह्वानान्तं कर्म कुर्वन्ति । अतएव सूत्रकृता  
शाखान्तरीयं पक्षं मङ्गीकृत्योक्तम्— “उज्जितिभ्यो वोत्सरो  
माहेन्द्रः”—इति ‡ ॥

तद् दूषयति— “तद् तथेति । यद्यासन्द्या मासीन एव

\* ‘माहेन्द्रग्रहणानन्तरं’—इति ज ।

† का० श्रौ० सू० १४. ५. ३० ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ५. ३१ ।

यजमाने सत्येव आत्मप्रजारूपे स्तोत्रशस्त्रे कुर्यात्, तर्हि 'यज-  
मानम्' आत्मप्रजाहीनं कुर्यात्; असान्निध्यकरणेनेत्यर्थः । 'जिह्वाः'  
कुटिलो गच्छति । 'हलति' यज्ञपथात् भ्रश्यति ॥ २० ॥

अत उक्त एव पक्षः श्रेयानिति दर्शयितुं पुनः पठति—  
“अथेडा मित्यादि । पूर्ववत् \* ॥ २१ ॥ १ [ २. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम् . )

पूर्णाहुतिं जुहोति । सर्व्वं वै पूर्णं सर्व्वं  
परिगृह्य सूया ऽहुतिं तस्यां व्वरं ददाति  
सर्व्वं वै व्वरः सर्व्वं परिगृह्य सूया ऽहुतिं स  
यदि कामयेत जुहुयादेतां यदु कामयेतापि  
नाद्रियेत † ॥ १ ॥

अथ श्रुवो भूते ‡ । अनुमत्यै हविरष्टाकपालं  
पुरोडाशं निर्व्वपति स ये जघनेन शुभ्यां पिष्य

\* इह का० श्रौ० स० १४. ५. ३२-३६ पञ्च सूत्राणि द्रष्टव्यानि ।

† 'नाद्रियेत'—इति क ।

‡ 'भूते'—इति ग, घ ।



मायाना मवशीयन्ते पिष्टानि वा तण्डुला \* वा  
 तान्स्त्रुवे सार्द्धं संवपत्यन्वाह्यपवनादुल्मुक  
 माददते तेन दक्षिणा यन्ति स यत्र स्वकृतं  
 वैरिणं ब्विन्दति श्वभ्रप्रदरं वा ॥ २ ॥

तदग्निं समाधाय जुहोति । एष ते नि-  
 र्कते भागस्तु जुषस्व स्वाहेतीयं वै निरुक्तिः  
 सा यं पाप्मना गृह्णाति तं निरुक्त्या गृह्णाति  
 तद्यदेवास्या अत्र नैर्कतं रूपं तदेवैतच्छ-  
 मयति तथो हैनं मूयमानं निरुक्तिर्न गृह्णा-  
 त्यथ यत् स्वकृते वैरिणे जुहोति श्वभ्रप्रदरे  
 वैतदु ह्यस्यै निरुक्तिर्गृहीतम् ॥ ३ ॥

अथाप्रतीक्षं पुनरायन्ति । अथानुमत्या ऽअष्टा-  
 कपालिन पुरोडाशेन प्रचरतीयं वा अनुमतिः  
 स यस्तत् कर्म शक्नोति कर्तुं यच्चिकीर्षतीयं  
 हास्यै तदनु मन्यते तदिमा मेवैतत् प्रीणात्यन-  
 यानुमत्यानुमतः मूया ऽइति † ॥ ४ ॥

अथ यदष्टाकपालो भवति । अष्टाक्षरा वै

\* 'तण्डुलानि'—इति ख ।

† 'इति'—इति क-पुस्तके , 'इति'—इति ख-पुस्तके ।

गायत्री गायत्री वा ऽइयं पृथिव्यथ यत्समानस्य  
हविष उभयत्र जुहोत्येषा ह्येवैतदुभयं तस्य  
व्वासो दक्षिणा यद्वै सुवासा अरण्यं नोदाशु-  
सते निधाय वै तद्व्वासो ऽतिमुच्यते तथो हैन  
सूयमान मासङ्गो न व्विन्दति \* ॥ ५ ॥

अथ श्वो भूते । आग्नावैष्णव मेकादश-  
कपालं पुरोडाशं निर्व्वपति तेन यथेष्टैवं यजते  
तद्यदेवादः प्रजात माग्नावैष्णवं दीक्षणीयं हवि-  
स्तदेवैतदग्निर्व्वै सर्वा देवता अग्नी हि सर्वाभ्यो  
देवताभ्यो जुह्वत्यग्निर्व्वै यज्ञस्यावरार्थो व्विष्णुः  
परार्थस्तत्सुर्वाश्चैवैतद्देवताः परिगृह्य सर्व्वं च यज्ञं  
परिगृह्य मूया ऽद्विति तस्मादाग्नावैष्णव एका-  
दशकपालः पुरोडाशो भवति तस्य हिरण्यं  
दक्षिणाग्नेयो वा ऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रतो  
हिरण्यं यो वै व्विष्णुः स यज्ञो ऽग्निरु वे  
यज्ञ एव तदु तदग्नेयं सव तस्माद्विरण्यं  
दक्षिणा † ॥ ६ ॥

अथ प्रो भूते \* । अग्नीषोमीय मेकादश-  
कपालं पुरोडाशं निर्व्वर्पति तेन यथेष्टैवं यजत  
ऽएतेन वा ऽइन्द्रो वृत्र महन्नेतेनो ऽएव व्यज-  
यत याख्येयं व्विजितिस्तां तथो ऽएवैष एतेन  
पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं हन्ति तथो ऽएव  
व्विजयते व्विजिते ऽभये ऽनाष्टे सूया इति  
तस्मादग्नीषोमीय एकादशकपालः पुरोडाशो  
भवति तृह्योत्सृष्टो गौर्दक्षिणोत्सृजं वा ऽअमं  
चन्द्रमसं घ्नन्ति पौर्णमासिनाह घ्नत्यामावाख्ये-  
नोत्सृजन्ति तस्मादुत्सृष्टो गौर्दक्षिणा † ॥ ७ ॥

अथ प्रो भूते । ऐन्द्राग्नं द्वादशकपालं  
पुरोडाशं निर्व्वर्पति तेन यथेष्टैवं यजते यत्र  
वा ऽइन्द्रो वृत्र महन्तदख्य भीतस्येन्द्रियं ‡ व्वीर्यं  
मपचक्राम स एतेन हविषेन्द्रियं व्वीर्यं पुन-  
रात्मन्नधत्त तथो ऽएवैष एतेन हविषेन्द्रियं व्वीर्यं  
मात्मन्धत्ते तेजो वा ऽअग्निरिन्द्रियं व्वीर्यं मिन्द्र  
उभे व्वीर्ये परिगृह्य सूया इति तस्मादैन्द्राग्नो

\* 'भूते'—इति ग, घ ।

† 'दक्षिणा'—इति क, ख ।

‡ 'स्तदभीतस्येन्द्रियं'—इति ख ।

द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति तस्य ऽर्धभोऽनङ्गान्  
दक्षिणा स हि व्युहेनाग्नेय आण्डाभ्या मैन्द्र-  
स्तस्माद्वर्धभोऽनङ्गान् दक्षिणा \* ॥ ८ ॥

अथाग्रयणेष्ट्या यजते । सर्वान्वा ऽएष यज्ञ-  
क्रतूनवरुन्धे सर्वा इष्टीरपि दर्विहोमान्यो राज-  
सुयेन यजते देवसृष्टो वा ऽएषिष्टिर्यदाग्रयणेष्टि-  
रनया मे ऽपीष्ट मसदनयापि सूया ऽइति तस्मा-  
दाग्रयणेष्ट्या यजत ऽओषधीर्वा ऽएष सूयमानो  
ऽभिमूयते तदोषधीरेवैतदनमीवा अकिल्बिषाः  
कुरुते ऽनमीवा अकिल्बिषा ओषधीरभि सूया  
ऽइति तस्य गौर्दक्षिणा † ॥ ९ ॥

अथ चातुर्मास्यैर्यजते । सर्वान्वा ऽएष यज्ञ-  
क्रतूनवरुन्धे सर्वा इष्टीरपि दर्विहोमान्यो राज-  
सुयेन यजते देवसृष्टो वा ऽएष यज्ञक्रतुर्यच्चातु-  
र्मास्यान्येभिर्मे ऽपीष्ट मसदेभिरपि सूया ऽइति  
तस्माच्चातुर्मास्यैर्यजते ॥ १० ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२.३.] ॥

\* 'दक्षिणा'—इति क, ख ।

† 'गौर्दक्षिणा'—इति क, ख ।

ब्राह्मणक्षत्रियोभयकर्तृकसंस्कारूपो \* वाजपेय उक्तः, अथैक-  
तरकर्तृको विकृतिभूतो राजसूयो विधास्यते । तत्र अकृत-  
वाजपेयस्य राजन्यस्यैव राजसूयेऽधिकारः, न तु तेनेष्टवतः ; राज्य-  
फलादपि साम्राज्यफलस्यातिशयितत्वेन उत्तमफलसाधनयागानन्तर-  
मवरफलहेतुक्रतुकरणस्यायुक्तत्वात् । अत एव कात्यायनः—  
“राज्ञो राजसूयांऽनिष्टिनो वाजपेयेन”—इति † ।

इष्टि-पशु-सोम-दर्विहोमैः शतप्रधानो ‡ राजसूयः । तत्र “श्वोभूते-  
ऽनुमत्यै पुरोडाश मष्टाकपालम्”—इत्यादिना विहिता इष्टयः § ,  
“अथ श्वेनीं विचित्रगर्भा मदित्या आलभत”—इत्यादिना विहिताः  
पशवः ॥ , पवित्राभिषेचनीय-दशपेय-केशवपनीय-व्युष्टि-द्विरात्र-  
क्षत्रवृत्ति-सञ्ज्ञकाः सप्त सोमयागाः, पञ्चवातीयादयो दर्वि-  
होमाः ¶ । तत्र पवित्रनामके प्रथमसोमयागे प्रकृतिसमानत्वेन  
वक्तव्याभावात् तं परित्यज्य तदवसाने कर्तव्यं पूर्णाहुति-  
प्रभृति वैशेषिक सुत्तरतन्त्र मभिधीयते \*\* ।

पूर्णाहुतेः कालं कात्यायनः सूत्रयामास— “पवित्रश्चतुर्दशः,

\* ‘०कर्तृकसंस्कारूपो वा (१)’—इति ज ।

† का० श्रौ० सू० १५. १. १. २ ।

‡ सर्वेष्वेवादर्शपुस्तकेष्वेवम्याटः, स्यात् ‘राजप्रधानो’—इति ।

§ पुरस्तादिहैव ( २. ३. २—१२१ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

॥ परस्तादिहैवाध्याये ( ५. २. ८ ) द्रष्टव्यम् ।

¶ इत उत्तरस्यां कण्ठां ( २. ४. ४ ) द्रष्टव्यम् ।

\*\* “इष्टिसोमपशवो भिन्नतन्त्राः कालमेदात्”—इति का० श्रौ०  
सू० १५. १. ३ । तत्र “आनुमत्यादय इष्टयः, पवित्रादयः सोमाः,  
मणहादयश्च पशवः”—इति कर्कः । ‘मणहा मणिला, गलस्तनयुक्तेत्यर्थः’  
—इति तै० सं० १. ८. १६. ६ = तै० ब्रा० १. ८. १ सा० भा० ।

सहस्रदक्षिणः, माघीपक्षयजनीये दीक्षा, तदन्ते पूर्णाहुति-  
गृहेष्विच्छतः”-इति \* ॥

तद् विधत्ते— “पूर्णेति । आश्वपूर्ण्या जुहा ह्यत इति  
पूर्णाहुतिः । सा अनाम्नातमन्त्रत्वात् प्राजापत्याः ; “यत् तूष्णीं  
तत् प्राजापत्यम्”-इति श्रुतेः † । तां जुहुयात् । पूर्णा-  
हुतिकरणस्य कामनाधीनत्वं विवृणोति— “सर्वं मिति । पूर्ण-  
पदेन सर्वं मुच्यते । ‘सर्वं’ जगत् ‘परिगृह्य’ स्वाधीनं कृत्वा,  
पञ्चाद्राजसूयानुष्ठानेन ‘सूये’ अभिषिक्तो भूयासम् ‘इति’ अभि-  
प्रायेण पूर्णाहुतिं कुर्यादित्यर्थः ॥

तस्या दक्षिणां विधत्ते— “तस्या मिति । ‘तस्यां’ हुताया  
मित्यर्थः । पूर्णाहुतेरितराजवद् अवश्यकर्त्तव्यत्वे प्राप्ते कामना-  
नुसारणैव करणीयत्व माह— “स यदि कामयेतेति ।  
पूर्णाहुतिकरणेच्छायां सत्यां तदनुष्ठानविपर्यये तद्विपर्यय  
इत्यर्थः ॥ १ ॥

आरम्भाणीयस्थानीयात् ‡ पवित्राख्यादग्निष्टोमादङ्गः § पर-  
स्मिन्नहनि कर्त्तव्यं विधत्ते— “अथ श्वीभूत इति । सूत्रकृता  
पवित्रादनन्तरं मुक्तम्— “श्वः प्रभृत्यन्वहं पञ्चोत्तराण्यष्टा-

\* का० औ० सू० १५. १. ४-७ ।

† ऐ० ब्रा० २. ५. ७, ३. ३. ६ आद्यन्तं द्रष्टव्यम् । श्रुत० ब्रा०  
‘अनिरुक्तं’ वा उपोषु १. ३. ५. १०; ६. २. २. २०; ‘अनिरुक्तं  
हि मनो अनिरुक्तं ह्येव यत् तूष्णीम्’ ३४. ४. ५ ।

‡ आरम्भः प्रयोजन मस्या इति विग्रहे “अनुप्रवचनादिभ्यश्चः”  
-इति (पा० ५. १. १११.) कृः । प्रायणीयाया एव नामान्तर  
मारम्भणीयेति । प्रायणीया-स्वरूपन्तु ऐ० ब्रा० १. २. १ द्रष्टव्यम् ।  
§ राजसूये प्रथमं पवित्रमञ्चः सोमयागो भवतीतीह सर्वत्र स्मर्यम् ।

कपालोऽनुमत्यै”-इति \* । यागानुष्ठानस्याधारत्वेनानुष्ठाकणात्  
अनुमतिः पृथिवी ; “इयं वा अनुमतिः”-इति ह्यान्नास्यते † ।  
तस्यै अष्टसु कपालेषु संस्कृतं पुराडाशात्मकं हविर्निर्वपेत् ॥

अत्रोत्तरतन्त्रं सूत्रे सङ्गृहीतम्—“शम्यायाः पश्चात् हविष्य  
मन्त्रं सुवे कृत्वा दक्षिणाग्न्युत्सुक मादाय दक्षिणा गत्वा स्वयं  
प्रदीर्ण इरिणे वाग्नौ जुहोत्येष ते निर्वर्त इत्यनपेक्ष मेल्यनु-  
मतस्य संवपनादि करोति वासो देयम्”-इति ‡ । तत् सर्वं  
क्रमेण विधत्ते—“स ये जघनेनेत्यादिना , “श्वोभूत आग्ना-  
वैष्णवम्”-इत्यतः प्राक्तनेन । ‘शम्यां जघनेन’ “एनपा  
द्वितीया” § । पश्चिमायां दिशि दृषद मभ्याधातु मधः-  
स्थापितायाः शम्यायाः पश्चाद् ‘ये’ तण्डुलपिष्टलेशा ‘अव-  
शीयन्ते’ रुधः पतन्ति , ‘तान्’ सुवेण सोऽध्वर्युः ‘साहै’ सह  
संवपेत् ॥

उत्सुकेन साहै दक्षिणदिग्गमनं विधत्ते—“अन्वाहारेति ।  
तस्योत्सुकस्य स्थापनाय देशविशेषं विधत्ते—“स यत्नेति ।  
‘इरिणम्’ उषरक्षेत्रम् , तच्च ‘स्वकृतं’ स्वतः सिद्धम् , न तु  
यतः कुतश्चिदानीयोषाः प्रक्षिप्ताः ; तस्मिन् ‘श्वभ्रप्रदरे’ गर्त-  
कारणे ॥ विदीर्णप्रदेशे ‘वा’ [ ॥ २ ॥ ] उत्सुकाग्नि माधाय ,  
सुवपूरितेन द्रव्येण जुहुयात् ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. १. ८, ९ ।

† अनुपद मेवात्रैव चतुर्थकण्ठां ( १२२ प्र० १३ पं० ) द्रष्टव्यम् ।  
ते ब्रा० १. ६. १. १ अपि द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. १. १०, ११, १२ ।

§ पा० सू० २. ३. ३१ ।

॥ ‘गर्तकारणे’-इति ज ।

तत्र मन्त्रं विधत्ते— “एष त इति \* । ‘निर्ऋते’ पाप-  
देवते ! ‘एषः’ तण्डुलपिष्टशेषः ‘ते’ तव ‘भागः’, ‘तं’ भागं  
‘जुषस्व’ सेवस्व । ‘स्वाहा’—शब्दो हवनलिङ्गम् ‘इति’ ।

भूमिर्द्विविधा ; शालिगोधूमादिसर्वसस्याब्द्या , तदयोग्या  
च । तत्र आद्यभूमिरूपा अनुमतिः , द्वितीयभूमिरूपा निर्ऋ-  
तिः † ; सैवानिष्टकारिणी पापदेवता ,— तथा भूमिः पापिष्ठं  
जनं पीडयितुं गृह्णाति । ‘तत्’ तथा सति ‘अस्याः’ भूमेः  
‘अत्र’ अस्मिन् राजसूयानुष्ठानदेशे ‘नैर्ऋतं रूपम्’ ; एतेन  
होमेन शमितवान् भवतीति । ‘तथो हैनम्’—इत्यादिना  
नैर्ऋतहोमस्य प्रयोजनकथनम् । “एतदु ह्यस्या इति । ‘एतत्’  
एव इरिणप्रदरात्मकं स्थानं अस्याः भूमेः सम्बन्धि ‘निर्ऋति-  
गृहीतम्’ निर्ऋत्या पापदेवतया अश्रयत्वेन स्वीकृतम् ; अतः  
तत्र नैर्ऋतहोमानुष्ठानं युक्तं मिति ॥ ३ ॥ \*

पुनरागमनं विधत्ते— “अथाप्रतीक्ष मिति । ‘अप्रतीक्ष’  
यत्र निर्ऋत्यै होमः कृतः , तं प्रदेशम् अनभीक्षमाणा एव  
पुनर्गच्छेयुः । अथानुमतस्य हविषः प्रचारं विधत्ते— “अथा-  
नुमत्या इति । “प्रचरन्तीति । आनुमतहविषः संवपनादिकं  
कुर्यादित्यर्थः । तथैवान्नात् मुदाहृतम्— “इयं वा अनुमति  
रिति ‡ । भूमिरूपा अनुमतिः ; तत्र यत् कर्म करोति ,  
यत् कर्तुं मिच्छति , तत् सर्वं भूम्यात्मिका अनुमतिर्देवता  
अनुजानाति , तथा ‘अनुमत्या’ अनुज्ञातः ‘सूये’ राजसूयाख्यं कर्म

\* वा० सं० ६. ३५. १ ।

† तै० सं० १. ८. १ = तै० ब्रा० १. ६. १ सा० भा० द्रष्टव्यम् ।

‡ पुरस्तादिहैव द्वितीयकण्ठोभाष्ये ( १२८ पृ० २ पं० ) द्रष्टव्यम् ।



करवाणि, इत्यनेनाभिप्रायेणानुमतहविर्निर्वापः । 'तत्' तेन हविषा भूमि मेव प्रीणितवान् भवति ॥ ४ ॥

हविःश्रपणसाधनकपालगता मष्टसङ्ख्यां गायत्रीद्वारा पृथिवी-योग्यत्वेन प्रशंसति—“अथ यदष्टेति \* । “अथ यत् समान-स्येति । अस्यार्थः ;— ‘समानस्य’ एक मेव हविः ‘उभयत्र’ अनुमत्यै निष्कृत्यै च ह्यते ; उभयोरपि पृथिव्यात्मकत्वादिति । तस्य दक्षिणां विधत्ते—“तस्य वास इति † । तत् प्रशंसति—“यद्वै सवासा इति । यथा लोके पुरुषो वस्त्रसहितः सन्न-रण्यगमनं चोरादिभयात् न कामयते ; तद् वस्त्रं भयरहिते स्थाने ‘निधाय’ चेद् गच्छति, तदा ‘अतिमुच्यते’ भयाद् विमुक्तो भवति ; तदद् वासोदानेन ‘सूयमानम्’ ‘एनं’ यज-मानम् ‘आसङ्कः’ भयं ‘न’ प्राप्नोति ॥ ५ ॥

तदनन्तरैदिवसेऽनुष्ठेयं कर्म विधत्ते—“अथ खोभूत इति ‡ । अग्निर्विष्णुशोभो देवता यस्य हविषः, तं निर्वपेत् । “तेन यथेष्टीति । प्रकृतीष्टिवदेष्टिः § कार्या । तेन अनुमतीष्टिवत् तन्मध्ये वैकृतं तन्त्वं किञ्चिदपि न विद्यत इति भावः । “तद् यदेवेति । ‘अदः’ अमुष्मिन् विप्रकृष्टे सोमप्रकरणे ‘प्रज्ञातं’

\* ‘अष्टाकपालोऽनुमत्यै’—इति का० श्रौ० सू० १५. १. ६ ।  
पुरोडाश इति शेषः । तै० सं० १. ८. १. १, २ ।

† का० श्रौ० सू० १५. १. १२ ।

‡ फाल्गुनशुक्लदशमी मारुत्य प्रतिदिनं मेकैकं पञ्च हवींषि भवन्ति ।  
तत्र प्रथमं दशम्या मानुमतम्, तत उत्तरं मिदं मासावैष्णवम्  
एकादश्या मिति ।

§ ‘प्रकृतीष्टिः’—इति छ, च, छ ।

‘दीक्षणीयं’ दीक्षायां निरुक्तम् ‘आग्नावैष्णवं हविः’, ‘तदेव’ इदानीं निरूप्यमाणं हविरिति तत्तादात्म्येन प्रशंसा । हविषो देवतासम्बन्धं प्रशंसति— “अग्निर्वा इति । अग्नेः सर्वदेवता-  
त्मकत्वं प्रतिपादयति— “अग्नौ हीति । अग्नौ हि सर्वा देवता  
ह्वयन्ते, अतः सर्वदेवतार्थहविर्होमाधिकरणत्वादग्निः सर्वदेवता-  
त्मकः । सः ‘अग्निः’ ‘यज्ञस्य’ ‘अवरार्द्धः’ आदौ स्थितः,  
‘विष्णुः परार्द्धः’ यज्ञस्य चरमभागेऽवस्थितः । तथाहि प्रकृति-  
भूतस्याग्निष्टोमस्य आदौ दीक्षणीयायाम् आग्नावैष्णवे हविषि  
अग्नेः प्रथमदेवतात्वेन सम्बन्धः, अवसाने चोदवसानीयेष्टिस्थाने  
विष्णुदेवताका पूर्णाहुतिर्हूयते । यदा, आज्यशस्ते प्रथमे  
“भूरग्निर्होतिः”—इति \* अग्नेः प्राथम्यम्, चरमशस्ते चाग्नि-  
मारुते ‘विष्णोर्नु कम्’—इति † अवणाद् विष्णोश्चरमत्वम् ।  
एतदेवाभिप्रेत्येतरेयकम्— “अग्निर्वै देवानां भवमो विष्णुः परम-  
स्तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः”—इति ‡ । “तत् सर्वा इत्यादि ।  
तस्मात् तस्मैव्यवर्त्तिनीः वक्ष्यमाणाः ‘सर्वाश्च’ सोमदेवता अग्नि-  
साध्यं विश्वात्मकं सर्वं यज्ञम् ‘एतेन’ आग्नावैष्णवेन हविषा  
‘परिगृह्य’ परिवेष्ट्य स्वाधीनं कृत्वा ‘सूये’ राजसूवाख्यं कर्म  
करवाणि ‘इति’ हेतोर्यस्मादेवं तस्मादित्यन्वयः ॥

दक्षिणां विधत्ते— “तस्य हिरण्य मिति § । “आग्नेयो

\* ऐ० ब्रा० २. ५. ५, २. ४. ७ खण्डौ द्रष्टव्यौ ।

† ऋ० सं० १०. १५४. १ । “वेष्णवो प्रंसति”—इति च तद्-  
विधायकं ब्राह्मणम् ३. ३. १४ । ‡ ऐ० ब्रा० १. १. १ ।

§ “हिरण्यं मामावेष्णवे”—इति का० श्रौ० सू० १५. १. १३ ।  
ते० सं० १. ८. १. ४ । ‘वामनो वही दक्षिणा’ ।

वा इति । अस्याय मर्थः ;— यज्ञोऽग्निदेवत्यः खलु , त मन्त-  
रेण यज्ञनिष्पत्तेरभावात् । ‘हिरण्यम् अग्नेः ३तः’ ; विष्णोर्यज्ञा-  
त्मकत्वं श्रुतिप्रसिद्धम् \* ; विश्वात्मकस्य यज्ञस्य चाग्निसाध्य-  
त्वात् तद्रूपत्वम् ; तस्मात् परम्परया ‘तद्’ तद् विष्णुदेवत्य  
मपि कर्म, ‘तदानेयम्’ अग्निदेवत्य मेव जातम् । तस्मादान्ता-  
वैष्णवस्य हविषः ‘आग्नेयं हिरण्यं’ दक्षिणाङ्गत्वेन भवितुं  
युक्त मिति ॥ ६ ॥

तस्मात् परेद्युरनुष्ठेयं कर्म विधत्ते— “अथ शोभूत  
इति † । ‘तेन’ आग्नीषोमीयेण हविषा यजेत । “यथेष्टीति ।  
सर्वेष्टीनां पौर्णमासेष्टिः प्रकृतिभूता ; तद्वदत्रापि तदीय मङ्ग-  
जातं कुर्यादित्यर्थः । “एतेन वा इत्यादि । ‘एतेन’ हविषा  
ह्वयं हत्वा विजितवतः ‘अस्य’ इन्द्रस्य ‘इयं’ परिदृश्यमाना  
‘या’ ‘विजितिः’ अस्ति , ‘ताम्’ ‘इन्द्रो व्यजयत’ इति  
सम्बन्धः । ‘तथा’ ‘एषः’ अपि अनुष्ठाता ‘एतेन’ हविषा  
सर्वान् शत्रून् जयति ॥

तस्य दक्षिणां विधत्ते— “उत्सृष्टो गौरिति ‡ । कियन्तं  
कालं शकटवहनादौ विनियोज्य पश्चाद् य उत्सृज्यते , स  
‘उत्सृष्टः’ । तां दक्षिणां प्रशंसति — “उत्सर्ज मिति । ‘अमुम्’  
अन्तरिक्षे दृश्यमानं ‘चन्द्रमसम्’ उत्सृज्योत्सृज्य ‘गन्ति’ । तदेव

\* अत्रैकत्रैव तृतीये काले असकृदान्तात् द्रष्टव्यम् ( ३. ५. ३. २ ;  
६ ; ५. २. १ ; १६ ) । तै० ब्रा० १. ३. ८. ५ ‘यज्ञो नै विष्णुः’ ।

† दादृश्या मिति यावत् ।

‡ “पुनरुत्सृष्टो गौरिषोमीये”—इति का० श्रौ० सू० १५. १. १४ ।  
तै० सं० १. ८. १. ५ = तै० ब्रा० १. ६. १ हिरण्यं दक्षिणा ।

विद्वषोति — “पौर्णमासेनेति । पौर्णमासी मारभ्य खलु देवाः  
‘घ्नन्ति’, प्रतिदिवस मेकैककलापचार \* एव तस्य हनन मित्यर्थः ।  
अमावास्याकाल मारभ्य ‘उत्सृजन्ति’ प्रतिदिवसं तथैकैककला-  
वृत्तेः । ‘तस्मात्’ अस्य हविषः सोमदेवतासम्बन्धादेव तादृशो  
गौर्दक्षिणात्वेन युक्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तदनन्तरदिवसकर्त्तव्य मिथ्यन्तरं विधत्ते — “अथ श्वीभूत  
इति † । पुरा वृत्रहननाद् भीत इन्द्रोऽपक्रान्तं स्वकीयम्  
‘एतेन हविषा’ ‘पुनः’ आत्मन्यधारयत् ; एवम् ‘एषः’ अपि  
अनुष्ठाता ‘एतेन’ हविषा । यदिदं तेजः, स एवाग्निः ;  
यदिदम् ‘इन्द्रियम्’ इन्द्रव्यासाधारणं सत्त्वं, स एवेन्द्रः ; धर्म-  
धर्मिणोरभेदोपचारात् तादात्म्यम् । ते ‘उभे’ तेजोबललक्षणे  
‘वीर्ये’ ‘परिगृह्य’ ‘सूर्ये’ ‘इति’ अभिप्रायेण ऐन्द्राग्नहविः  
प्रचारः कर्त्तव्यः ॥

दक्षिणां विधत्ते — “तस्य ऋषभ इति ‡ । ऐन्द्राग्नस्य  
हविषो दक्षिणात्वेन विहितस्य साण्डस्यानडुहो देवताद्वययोग्यतां  
दर्शयति — “स हि वहेनेति । वहं नाम युगवहनदेशः ,  
ककुत्प्रदेशः । तस्य दग्धप्रदेशवत् कृष्णवर्णत्वादानेयत्वम्’ आण्डा-  
भ्याम् ऐन्द्रः’ सेवनसमर्थत्वादिति § ॥ ८ ॥

तदनन्तरकर्त्तव्य मिथ्यन्तरं विधत्ते — “अथाग्रयणेष्ट्येति ।  
सा चाग्रयणेष्टिः द्वितीयकाण्डेऽभिहिता ॥, तस्या अत्र राज-

\* ‘कलापकार’—इति ज । † त्रयोदश्या मिति यावत् ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. १. १५ । चतुर्दश्या मिति यावत् ।

§ ते० सं० १. ८, १. ८ इहापि दक्षिणान्यत्वम् ।

॥ २ का० ३ प्र० ५ ब्रा० ( २ भा० २१४-२२७ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

सूयाङ्गत्वेन प्रयोगः । “सर्वान् वा इत्यादि । इष्टि-पशु-सोम-  
दर्विहीमात्मकत्वाद्वाजसूयस्य , तदनुष्ठानेन यज्ञक्रत्विष्ट्यादयः  
सर्वेऽनुष्ठिता भवन्ति । आग्रयणेष्टिरपि देवसृष्टत्वेन प्रशस्त-  
त्वादत्रावरोह्यया । अतः ‘अनया’ आग्रयणेष्ट्या ‘अपि’ ‘मे’  
मम ‘इष्टम् असत्’ यागः कृतो भवतु ; ‘अनयापि’ इष्ट्या  
‘सूयै’ अभिषिक्ता भूयासम् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण आग्रयणेष्टिः  
कार्येत्यर्थः ॥

तस्या इष्टेः प्रयोजन माह — “ओषधीर्वा इति । ‘एषः  
सूयमानः’ यजमानः ‘ओषधीः’ परिपक्वा व्रीहियवाद्याः ‘अभि’  
लक्ष्य ‘सूयते’ अभिषिच्यते । ‘तत्’ तथा सति ‘अनया’ आग्रय-  
णेष्ट्या ता एव ‘ओषधीः’ ‘अनमीवाः’ रोगरहिताः आरोग्य-  
कारिणीः , ‘अकिल्बिषा’ पापरहिताश्च ‘कुरुते’ । आग्रयणे-  
ष्टेर्नवान्नभोजनार्हत्वात् तदकरणे भोक्तृणां रोगः पापं च स्यात् ;  
इह तु तदनुष्ठाने तादृग्दोषरहिताः ओषधीरभिलक्ष्य राज-  
सूयाख्यं कर्म करवाणीति यष्टुराशयः ॥

दक्षिणां विधत्ते “तस्य गौरिति \* । ‘तस्य’ आग्रयणस्य ॥ ८ ॥

अथ चातुर्मास्यानि विधत्ते — “अथ चातुर्मास्यैरिति ।  
तेषां कालः सूत्रितः उक्तहविःपञ्चकादनन्तरम् — “चातुर्मास्य-  
प्रयोगः फाल्गुन्याम्” — इति † । “सर्वान्वा इत्यादि । सर्व-  
क्रत्विष्टिदर्विहीमावरोधरूपराजसूयमध्ये चातुर्मासाख्यो यज्ञक्रतु-

\* का० श्रौ० सू० १५. १. १६ । ‘गवा यवाग्रयणं व्रीह्याग्रयणं  
विशेष्यते, न सौम्याग्रयणम्’ — इति तत्र कर्कः ।

† ‘आग्रयणं भवति हुतादाय’ — इत्यादि ते० ब्रा० १. ६. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. १. १७ ।

रघ्वरोद्वय इत्यनेनाभिप्रायेण तदनुष्ठानम् । अन्यत् पूर्ववत्  
योज्यम् \* ॥ १० ॥ २ [ २. ३. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् . )

व्वैश्वदेवेन यजते । व्वैश्वदेवेन वै प्रजापति-  
भूमानं प्रजाः सृजते भूमानं प्रजाः सृष्ट्वा सूया  
ऽइति तयो ऽएवैष एतद्वैश्वदेवेनैव भूमानं प्रजाः  
सृजते भूमानं प्रजाः सृष्ट्वा सूया ऽइति \* ॥ १ ॥

अथ व्वरुणप्रघासैर्यजते । व्वरुणप्रघासैर्व्वै  
प्रजापतिः प्रजा व्वरुणपाशात् प्रामुञ्चत् ता अस्थान-  
मीवा अकिल्बिषाः प्रजाः प्राजायन्तानमीवा

\* अत्र प्रयुक्तञ्चातुर्मास्यशब्दो धर्मातिदेशार्थः ; नैतानि चातु-  
र्मास्यानि ; अपि त्वेते चातुर्मास्यवदनुष्ठेया राजसूययागविशेषाः ।  
अतो गित्याना मपि चातुर्मास्यानां क्रियानुष्ठिता भवन्त्येव ; नैते,  
स्ततल मचातुर्मास्यत्वादिति ।

† 'इति'—इति क, ख । "इति"—इति ग-प्रस्तके ।

अकिल्विषाः प्रजा अभि सूया ऽइति तथो एवैष  
 एतद्वरुणप्रघासैरेव प्रजा व्वरुणपाशात् प्रमुञ्चति  
 ता अस्थानमीवा अकिल्विषाः प्रजाः प्रजा-  
 यन्ते ऽनमीवा अकिल्विषाः प्रजा अभि सूया  
 ऽइति \* ॥ २ ॥

अथ साकमेधैर्यजते । साकमेधैर्वै देवा व्वत्र  
 मन्त्रं सैर्वैव व्यजयन्त येयु मेषां व्विजितिस्तां  
 तथो ऽएवैष एतैः पाप्मानं द्विषन्तं भ्रातृव्यं  
 हन्ति तथो ऽएव व्विजयते व्विजिते ऽभये ऽनाष्ट्रे  
 सूया ऽइति † ॥ ३ ॥

अथ शुनासीर्येण यजते । उभौ रुसौ परि-  
 गुह्य सूया ऽइत्यथ ‡ पञ्चवातीयं स पञ्चधा  
 हवनीयं व्युह्य सुवेणोपघातं जुहोति ॥ ४ ॥

स पूर्वार्धे जुहोति । अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः  
 पुरस्सद्गाः स्वाहेत्यथ दक्षिणार्धे जुहोति यम-  
 नेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्गाः स्वाहेत्यथ पश्चार्धे

\* 'इति'—इति क, 'इति'—इति ख, 'इति'—इति ग ।

† 'इति'—इति क-पुस्तके, 'इति'—इति ख-पुस्तके ।

‡ 'इत्यथ'—इति क, ख ।

जुहोति विश्वदेवनेचेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सुदभ्यः  
 स्वाहेत्युत्तरार्धं जुहोति मिवावृणनेचेभ्यो वा  
 मरुन्नेचेभ्यो वा देवेभ्य उत्तरासङ्गाः स्वाहेत्यथ  
 मध्ये जुहोति सोमनेचेभ्यो देवेभ्य उपरिसङ्गो  
 दुवस्वदभ्यः स्वाहेति \* ॥ ५ ॥

अथ सार्द्धं समुह्य जुहोति । ये देवा  
 अग्निनेत्राः पुरस्सुदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा यम-  
 नेत्रा दक्षिणासुदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा विश्व-  
 देवनेत्राः पश्चात्सुदस्तेभ्यः स्वाहा ये देवा मिवा-  
 वृणनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वीत्तरासुदस्तेभ्यः स्वाहा  
 ये देवाः सोमनेत्रा उपरिसङ्गो दुवस्वन्तस्तेभ्यः  
 स्वाहेति तद्यदेवं जुहोति ॥ ६ ॥

यश्च वै देवाः । साकमेधेर्व्यजयन्त येय  
 मेषां व्विजितिस्तां तृञ्चोचुरुत्पिबन्ते वा ऽइमानि  
 दिक्षु नाष्टा रुचाऽसि हन्तैभ्यो व्वच्चं प्रहरामेति  
 व्वच्चो वा ऽआज्यं त ऽएतेन व्वज्जेणाज्येन  
 दिक्षु नाष्टा रुचाऽस्यवाप्तस्ते व्यजयन्त येय

\* 'स्वाहेति'—इति क, 'स्वाहेति'—इति ख, 'स्वाहेति'—इति ग ।



मेषां व्विजितिस्तां तथोऽ एवैष एतेन व्वज्जे-  
 षाज्येन दिक्षु नाष्टा रुक्षाऽस्यवहन्ति तथो  
 ऽएव व्विजयते व्विजिते ऽभये ऽनाष्टे सूया  
 ऽइति \* ॥ ७ ॥

अथ यदेता अपराः पञ्चाहुतीर्जुहोति ।  
 क्षणवन्ति वा ऽएतदग्नेर्व्विवहन्ति यत् पञ्चधा  
 हवनीयं व्यूहन्ति तदेवास्मैतेन सुन्दधाति तस्मादेता  
 अपराः पञ्चाहुतीर्जुहोति ॥ ८ ॥

तस्य प्रष्टिवाहनो ऽश्वरथो दक्षिणा । त्रयो  
 ऽश्वा द्वौ सव्यष्टसारथी ते पञ्च प्राणा यो वै  
 प्राणः स व्यातस्तद्यदेतस्य कर्मण एषा दक्षिणा  
 तस्मात् पञ्चवातीयं नाम ॥ ९ ॥

स हैतेनापि भिषज्येत् । अयं वै प्राणो  
 योऽयं पवते यो वै प्राणः स आयुः सोऽय  
 मेक इवैव पवते सोऽयं पुरुषिऽन्तः प्रविष्टो  
 दशधा व्विहितो दश वा ऽएता आहुती-  
 र्जुहोति तदस्मिन् दश प्राणान् कृत्स्न मेव सर्वं

मायुर्द्धधाति स यदिहापि गतासुरिव भवत्या  
हैवैनेन हरति \* ॥ १० ॥

अथेन्द्रतुरीयम् । आग्नेयो ऽष्टाकपालः पुरो-  
डाशो भवति व्वारुणो यवमयश्चरु रौद्रो गावे-  
धुकश्चरुरनहुह्ये ब्वहलाया ऽऐन्द्रं दधि तेनेन्द्र-  
तुरीयेण यजत ऽइन्द्राग्नी ऽउ हैवैतत् समृदाते  
ऽउत्पिबन्ते वा ऽइमानि दिक्षु नाष्टा † रुक्षांस्सि  
हन्तैभ्यो ब्वज्रं प्रहरावेति ॥ ११ ॥

सु हाग्निरुवाच । त्रयो मम भागाः सक्वे-  
कस्तवेति तथेति तावेतेन हविषा दिक्षु नाष्टा  
रुक्षांस्त्र्यवहतां तौ व्यजयेतां येनयोरियं  
व्विजितिस्तां तथोऽएवैष एतेन हविषा दिक्षु  
नाष्टा रुक्षांस्त्र्यवहन्ति तथो ऽएव व्विजयते  
व्विजिते ऽभये नाष्टे सूया ऽइति ॥ १२ ॥

स य एष आग्नेयो ऽष्टाकपालः पुरोडाशो  
भवति ‡ । सो ऽग्नेरेको भागो ऽथ यद् व्वारुणो  
यवमयश्चरुर्भवति यो वै व्वारुणः सो ऽग्निः सो

\* 'हरति'—इति क, ख ।

† 'नाष्टा'—इति ख ।

‡ 'भवति'—इति क, ख । 'भवति'—इति ग, घ ।

ऽग्नेर्द्वितीयो भागो ऽथ यद्वैद्विदो गावेधुकुञ्जर-  
 भवति यो वै रुद्रः सोऽग्निः सो ऽग्नेस्तृतीयो  
 भागो ऽथ यद्गावेधुको भवति व्यास्तव्यो वा  
 ऽएष देवो व्यास्तव्या गवेधुकास्तस्माद् गावे-  
 धुको भवत्यथ यदनडुह्यै वहलाया ऽऐन्द्रं दधि  
 भवति स इन्द्रस्य चतुर्थो भागो यद्वै चतुर्थं  
 तत्तुरीयं तस्मादिन्द्रतुरीयं नाम तस्यैषैवानडुह्यै  
 वहला दक्षिणा सा हि वह्नेनाग्नेय्यग्निदग्ध-  
 मिव ह्यस्यै वहं भवत्यथ यत् स्त्री सती वहत्य-  
 धर्मेण तस्यै वारुणं रूपं मथ यद् गौस्तेन  
 रौद्राय यदस्मा ऽऐन्द्रं दधि तेनैन्द्रेणा हि  
 वा ऽएतत् सर्वं व्यश्नोते तस्मादेषैवानडुह्यै वहला  
 दक्षिणा \* ॥ १३ ॥

अथापामार्गहोमं जुहोति । अपामार्गैर्वै देवा  
 दिक्षु नाष्टा रक्षाः स्युः पामजत ते द्यजयन्त  
 येयु मेषां विजितिस्तां तथो ऽएवैष एतदपा-  
 मार्गैरेव दिक्षु नाष्टा रक्षाः स्युः पमष्टे तथो

ऽएव विजयते विजिते ऽभये ऽनाष्ट्रे सूया  
ऽइति ॥ १४ ॥

स पालाशे \* वा स्रुते व्येकङ्कते वा । अपा-  
मार्गतण्डुलानादत्ते ऽन्वाहार्यपचनादुल्मुक माद-  
दत्ते तेन प्राञ्चो व्योदञ्चो वा यन्ति तदग्निं  
समाधाय जुहोति ॥ १५ ॥

स उल्मुक मादत्ते । अग्ने सहस्र पृतना  
इति युधो वै पृतना युधः सहस्रेत्येवैतदा-  
हाभिमातीरपात्येति सपत्नी वा ऽअभिमातिः  
सपत्न मपजह्येत्येवैतदाह दुष्टरस्तरन्गतीरिति  
दुस्तरौ ह्येष रक्षोभिर्नाष्ट्राभिस्तरन्गतीरिति सुर्वं  
ह्येष पाप्मानं तरति तस्मादाह तरन्गतीरिति  
व्वर्चोधा यज्ञवाहसीति साधु यजमाने दधदि-  
त्येवैतदाह ॥ १६ ॥

तदग्निं समाधाय जुहोति । देवस्य त्वा  
सवितुः प्रसवे ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्या  
मुपांशोर्वीर्येण जुहोमीति यज्ञमुखं वा ऽउपां-

शुयञ्जमुखेनैवैतन्नाष्ट्रा रक्षांसि हन्ति हतं रक्षः  
स्वाहिति तन्नाष्ट्रा रक्षांसि हन्ति ॥ १७ ॥

स यदि पलाशः स्तुवो भवति । ब्रह्मा  
वै पलाशो ब्रह्माणैवैतन्नाष्ट्रा रक्षांसि हन्ति यद्यु-  
व्वैकङ्कतो व्वृजो वै व्विकङ्कतो व्वृजौवैतन्नाष्ट्रा  
रक्षांसि हन्ति रक्षसां त्वा व्वधायेति तन्नाष्ट्रा  
रक्षांसि हन्ति ॥ १८ ॥

स यदि प्राङ्ङित्वा जुहोति । प्राञ्चं  
स्तुव मस्यति यद्युदङ्ङित्वा जुहोत्युदञ्चं स्तुव  
मस्यत्युबधिष्ठा रक्ष इति तन्नाष्ट्रा रक्षांसि  
हन्ति ॥ १९ ॥

अथाप्रतीचं पुनरायन्ति । स हैतेनापि प्रति-  
सरं कुर्वीत स यस्यां ततो दिशि भवति तत्  
प्रतीत्य जुहोति प्रतीचीनफलो वा ऽन्यपामार्गः  
स यो हास्यै तन्न किञ्चित् करोति तमेव तत्  
प्रत्यग्भूर्वति तस्य नामादिशेदुबधिष्ठासु मसौ हत  
इति तन्नाष्ट्रा रक्षांसि हन्ति ॥ २० ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२.४.] ॥

एवं चातुर्मास्यानि सामान्येन विधाय वैश्वदेवाख्यं प्रथमं पर्वं विधत्ते— वैश्वदेवेनेति । वैश्वदेव मित्याग्नेयादिहवि-रष्टकरूपप्रथमपर्वणो नामधेयम् । अत्र वैश्वदेवादीनां चतुर्णां पर्वणा मपेक्षितान्यङ्गानि मासामिहोत्रन्यायेन नामातिदेशादतिदृष्टव्यानि । तदुपदेशस्तु द्वितीयकाण्डे पञ्चमेऽध्याये समा-न्नातः— “वैश्वदेवेन वै प्रजापतिरिति \* । अत्र वैश्वदेवशब्देन शाखान्तरीया प्रसिद्धिः द्योत्यते । तथाच तैत्तिरीयके— “वैश्वदेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत”—इति † । ‘भूमानं’ ( प्रजापतिः ‡ ) भूयसीः प्रजा इत्यर्थः । “तथो एवैष इति । यथा पुरा प्रजापतिः वैश्वदेवयागेन भूयसीः प्रजाः सृष्टवान् , एव मयं यजमानोऽपि तेन यागेन तथाविधाः ‘प्रजाः’ ‘सृजते’ सृजति । ताः ‘सृष्टाः’ प्रजाः अभिलक्ष्य ‘सूये’ सर्वं यज्ञं करवाणीति ॥ १ ॥

द्वितीयं पर्वं विधत्ते— “अथ वरुणेति । ‘अथ’ वैश्वदेवा-नन्तरं चतुर्षु मासेषु व्यतीतेषु ‘वरुणप्रघासैः’ यजेत । तान् वरुणपाशमोचनसाधनत्वेन प्रशंसति— “वरुणप्रघासैर्वा इति । “ता अस्येति । वरुणप्रघासयागेन पाशविमोचनस्य कृतत्वात् ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘ताः’ वैश्वदेवेन सृष्टाः ‘प्रजाः’ रोगपाप-रहिताः सत्यः पुत्रपौत्रादिरूपेण प्रजायन्ते । गत मन्यत् । दार्ष्टान्तिके योजयति— “तथो एवैष इति । “ता अस्येति । ‘अस्य’ यजमानस्येत्यर्थः ॥ २ ॥

\* २ भा० २७२ पृष्ठा द्रष्टव्या । वस्तुतोऽध्यायारम्भत एव चातु-र्मास्योपदेशारम्भः ( ५ अ० १ ब्रा० २५० पृ० ) ।

† तै० ब्रा० १. ६. २. १ ।

‡ च-वृ-पुस्तकयोरिदं मधिकम् ।

द्वतीयं पर्व विधत्ते—“अथ साकमेधैरिति । ‘अथ’ वरुण-  
प्रघासानुष्ठानानन्तरं चतुर्षु मासेषु साकमेधाख्या यागाः कार्याः ।  
तान् पापरूपशत्रुजयसाधनत्वेन सदृष्टान्तं प्रशंसति— साक-  
मेधैर्वा इति । ‘द्वत्तं’ द्वासासरम् ‘अघ्नन्’ हतवन्तः । ‘एषां’  
देवानां ‘येयं विजितिः’ इदानीं दृश्यते, ‘तां’ तैरेव साक-  
मेधैः ‘व्यजयन्त’ प्राप्नुवन् । “तथो एवेत्यादि, सिद्धम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थे पर्व विधत्ते—“अथ शुनासीरीयेणेति \* । शुनो  
वायुः, सीर आदित्यः, तद्देवत्वं हविः शुनासीरीयम् ; तद्यो-  
गात् चतुर्थे पर्व शुनुसीरीयमित्युच्यते † । “उभौ रसाविति ।  
शुनासीरयो रसरूपत्वं हि द्वितीये काण्डे स्पष्टं सुक्तम्—  
“अथ यस्माच्छुनासीर्येण यजेत या वै देवानां औरासीत्  
साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां तच्छुन मय यः संवत्सरस्य  
प्रजितस्य रस आसीत् तत् सीर्यं सा या चैव देवानां  
औरासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां य उ च संवत्सरस्य  
प्रजितस्य रस आसीत् त मेतदुभयं परिगृह्यात्मन् कुरुते”—  
इति ‡ । शुनासीरीयप्रयोगकालः सूत्रितः— “पवित्रदीक्षा-  
स्थाने शुनासीरीयम्”—इति § । पवित्राख्यस्य सोमयागस्य संव-  
त्सरे यस्यां तिथौ दीक्षा कृता, तस्यां फाल्गुनशुक्लप्रतिपदि  
चतुर्थे पर्व कार्यम् । अर्थात् पवित्रशुनासीर्ययोर्मध्ये वैश्वदेवा-  
दीनि त्रीणि पर्वाणि क्रमेण चतुर्षु मासेषु कार्याणीत्युक्तं भवति ॥

\* ‘शुनासीर्येण’—इति मूलपाठः ।

† का० औ० छ० १५. १. १८ । ते० सं० १. ८. ७ द्रष्टव्यम् ।

‡ २. ६. ३. ४ ( २भा० ४०४८० १०पं० ) द्रष्टव्यम् ।

§ का० औ० छ० १५. १. १६ ।

पञ्चवातीयहोमं \* विधत्ते— “अथ पञ्चेति † । ‘पञ्च-  
वातीयम्’ इति कर्मनामधेयम् । ‘आहवनीयम्’ अग्निं ‘पञ्चधा’  
‘व्युह्य’ प्रतिदिशं मध्ये च पृथक् कृत्वेत्यर्थः । आज्यस्थास्थाः  
‘स्रुवेण’ ‘उपघातम्’ उपहत्योपहत्य गृहीत्वा ‘जुहोति’ ॥ ४ ॥

तत्र पूर्वादिक्रमेण पञ्चस्वग्निषु समन्त्रकं हवनं विधत्ते—  
“स पूर्वाह्ण इत्यादिना । पूर्वाह्णे भवः ‘पूर्वाह्णः’ अग्निः ।  
‘अग्निनेत्रेभ्य इत्यादि ‡ । अग्निः ‘नेत्रं’ नयनस्येष्टप्राप्तेः साधनं  
येषां तेभ्यः । ‘पुरस्तद्भ्यः’ पूर्वस्यां दिशि सीदन्तीति तथोक्ताः ,  
तेभ्यः ‘देवेभ्यः’ ‘स्नाहा’ सुहुत मस्तु । एव मुत्तरत्वापि योज्यम् ।  
‘दुवस्नाहाः’ दुव इत्यन्ननाम § ; हविलक्षणाद्युक्तेभ्यः ॥ ५ ॥

इत्थं पञ्चभिर्मन्त्रैः कृतेष्वग्निषु हुत्वा पुनस्तानग्नीनेकीकृत्य  
तैरेव मन्त्रैर्हवनं विधत्ते— “अथ सार्द्धं मिति ॥ पञ्चाप्य-  
ग्नीन् ‘सार्द्धं’ ‘समुह्य’ समस्य जुहुयात् । तानेव मन्त्रान् ¶ पुनः  
पठति— “ये देवा इति \*\* । अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ६ ॥

पञ्चवातीयहोमस्य द्रव्यं विधातु माह— “यच्च वै देवा

\* तै० सं० १. द. ७. ‘पञ्चेभ्योमन्त्राः’ ।

† का० श्रौ० सू० १५. १. २० ।

‡ वा० सं० ६. ३५, २—६ ।

§ ‘दुवस्’ परिचरणे परितापे च’ कण्डादिः । ‘दुवस्यति’—इति  
परिचरणकर्मसु पठितम् ( निघ० ३. ५. ५. ) । ‘दुवस्यति, दुवस्यती  
राधोक्तिकर्मा’—इति च निरु० १०. २. ७ ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. १. २१ ।

¶ तेषां मेव मन्त्राणां पुरस्तात् ‘ये देवाः’—इति प्रहृदय सुपा-  
दायेत्येव विशेषः । संहितायां तु पृथगेवाच्चाताः ।

\*\* वा० सं० ६. ३६. १—५ ।



इति । “तद्वोचुरिति । ‘तत्’ तत्र विजितप्रदेशे देवाः ‘ऊचुः’  
उक्तवन्तः । किम् ? इति । ‘इमानि’ ‘नाष्टा’ नाशकारीणि  
‘रक्षांसि’ ‘दिष्टु’ ‘उत्पिबन्ते’ उत्कटं पिबन्ति , प्राणिनो  
भक्षयन्ति । ‘हन्त’ इति हर्षे । ‘एभ्यः’ रक्षोभ्यः ‘वज्रं प्रहराम’  
‘इति’ विचार्य , आज्यरूपेण वज्रेण तान् राक्षसान् एव अघ्नन् ।  
अयूयते हि आज्यस्य वज्रत्वम् । “घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा”—  
इति \* । “तथो एवैष इत्यादिना इदानीं मनुष्यातुरपि तथा-  
विधफलप्राप्तिदर्शनम् ॥ ७ ॥

अग्नीनां समासेन कृतं माहुतिपञ्चकं प्रशंसति— “अथ  
यदेता इति । पूर्वं माहवनीयस्य पञ्चधा व्यूहनेन तं मग्निं  
‘क्षण्वन्ति’ हिंसन्ति । “क्षणु, हिंसायाम्”—इति धातुः † ।  
तथा तस्य ‘अग्नेः’ अवयवान् ‘विघ्नहन्ति’ विस्फेपयन्ति । “वृह  
उद्यमने”—इति धातुः ‡ । तं मनेन पुनः समस्य पञ्चाहुति-  
करणेन संहितवान् भवतीति ॥ ८ ॥

तस्य होमस्य त्रियुक्तं मश्वरथं दक्षिणात्वेन विधत्ते— “तस्य  
प्रष्टिवाहन इति § । “सव्य इति । रथस्य सव्यभागे तिष्ठन्नेकः ,  
सारथिश्चैक इति द्वौ ; अश्वगतां त्रित्वसङ्ख्यां सारथिगतां द्वित्व-  
सङ्ख्याञ्च मिलित्वा पञ्चप्राणात्मना प्रशंसति— ‘ते पञ्चेति ।  
प्राणवातयोरेकत्वात् पञ्चवातीयहोमस्य सङ्ख्याद्वारा प्राणात्मकश्च  
रथो दक्षिणात्वेन युज्यते । ‘तस्मात्’ कर्मणोऽपि पञ्च वाताः  
प्राणा अस्मिन् सन्तीति ‘पञ्चवातीयं नाम’ सम्पन्नम् ॥ ९ ॥

\* ते० सं० ६. २. २. ७ द्रष्टव्यम् ।

† रुधा० प० ३ धा० ।

‡ तु० प० ५६ धा० ।

§ का० श्रौ० सू० १५. १. २२ ।

आरोग्यकामस्थापीमं होमं विधत्ते — “स ह्येतेनापीति ।  
 ‘एतेन’ होमेन ‘भिषज्येत्’ चिकित्सेत् । “भिषज् चिकित्सायाम्”  
 -इति घातुः \* । अत एव सूत्रितम् — “व्याधितस्याग्रेष्व  
 मिति † । प्राणस्यायुष्टं शरीरधारकत्वात् । ‘सः’ प्राणरूपेण  
 ‘एकः’ अपि पुरुषशरीरेऽनुप्रविष्टः सन् वृत्तिभेदात् दशसु चक्षुः-  
 श्रोत्रादिद्वारेषु सञ्चरन् ‘दशधा विहितः’ भवति । अत उक्त-  
 दशाहुतिकरणान् ‘दश प्राणान्’ व्याधिते ‘पुरुषे’ ‘कृत्स्नं’ सम्पूर्णं  
 ‘सर्वं मायुः’ वि-‘दधाति’ । ‘यः’ तु ‘गतासुः इव भवति’ तम्  
 ‘अपि’ अनेन होमेन ‘आहरति एव’ पुनर्जीवयत्येवेत्यर्थः ॥ १० ॥

यागान्तरं विधत्ते — “अथेन्द्रेति । ‘अथ’ पञ्चवातीयहोमा-  
 नन्तरम्, इन्द्रसुरीयश्चतुर्थहविर्देवता यस्मिन् कर्मणि, तत्  
 ‘इन्द्रतुरीयं’ कर्म वक्ष्यत इत्यर्थः ‡ । तस्य हविश्चतुष्टयं  
 विधत्ते — “आग्नेय इत्यादि § । ‘गवीधुकाः’ आरण्य-  
 गोधूमाः ॥ । ‘वहलायै’ वहं नाम ककुत्प्रदेशः, तद्वत्यै ‘अन-  
 दुष्ट्यै’ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी, तस्याः । ‘दधि’ ‘ऐन्द्रम्’ इन्द्रदेवत्वं  
 कुर्यात् । अथ विधत्ते — “तेनेन्द्रतुरीयेणेति ।

यागस्येन्द्रतुरीयत्वं माध्यायिकया दर्शयति — “इन्द्राग्नी  
 उ ह्यैतदिति । ‘समूदाते’ संवादं कृतवन्तौ ॥ ११ ॥

\* कण्डा० प० २३ घा० ।

† का० श्रौ० सू० १५. १. २३ । ‘राजसूयाद् बहिः’-इति कर्कः ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. १. २४ । एतच्च काण्वानां श्वोभूते  
 पठ्यते । ते० सं १. द. ७ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. १. २५ ।

॥ ‘गवेधुका महतां जलजानां लणानां श्वेतानि फलानि’-इति देव० ।

“स हानिरित्यादिना, अग्नेस्त्रयो भागाः, इन्द्रस्य तुरीय एको भाग इति यागस्यार्थात् इन्द्रतुरीय मिति नाम निरुक्तम् । सष्ट मन्वत् ॥ १२ ॥

अग्नेर्भागवत् क्रमेण प्रतिपादयति—“स य आग्नेय इति \* । “यो वै वरुण इत्यादि । वरुणो रुद्रश्चोभावप्यग्निरेव । तथाच तैत्तिरीयके— “ते देवा अग्निं महवन्निति प्रस्तुत्य “स तेषा-  
म्भानं व्यकुरुताग्निं तृतीयं रुद्रं तृतीयं वरुणं तृतीयम्”—  
इति † । “वास्तव्य इति । रुद्रः खलु वास्तुभवः । ग्रामाद्  
वाह्यो यज्ञभूमिस्मशानादिर्वासुः । ‘गवीधुकाः ‡’ अपि ‘वास्तु-  
भवाः’ । अतो गावीधुकहविषो § रुद्रदेवत्वत्वं युक्त मिति ।  
“अथ यदनडुह्या इत्यादि । उक्तार्थम् ॥

तस्य दक्षिणां विधत्ते— “तस्मादेषैवेति ॥ । दक्षिणारूपाया  
अनडुह्या अग्निवरुणरुद्रेन्द्रदेवताना मौचित्यं दर्शयति— “सा  
हि वह्नेनेति । युगवहनप्रदेशे कृष्णवर्णत्वात् अग्नेः सम्बन्धिनी ।  
स्त्रीत्वे सत्यपि, ‘अधर्मेण’ स्त्रिया अयोग्येनानोवहनेन वारुणी ;  
वरुणो हि स्वपाशैः सर्वान् बध्नाति । गवां रुद्रदेवत्वत्वाद्  
‘तेन रौद्री’ । एतदीयस्य दध्न ऐन्द्रत्वात् ‘तेन’ ‘ऐन्द्री’ इन्द्रदेव-

\* “आग्नेयः, वारुणो यवमयश्चरुः, रौद्रश्च गावेधुकः, वह्निनी-  
दध्यैन्द्रम्”—इति का० श्रौ० सू० १५. १. २५, २६, २८, २९ ।

† ते० ब्रा० १. ७. १ । इत उत्तरं तत्र त्वेव मान्नातम्—“सोऽब्रवीत्,  
क इदं तुरीय मिति । अहं मितोन्द्रोऽब्रवीत् । ०—० । स इन्द्रस्तुरीय  
मभवत् । यद्विन्द्रस्तुरीय मभवत्, तद्विन्द्रतुरीयस्येन्द्रतुरीयत्वम्”— इति ।

‡ ‘गवेधुकाः’—इति मूलपाठः ।

§ ‘गवीधुकहविषः’—इति ज ।

॥ ‘तस्यैषैवेति’—इति मूलपाठः ।

ताका # । एतादृशी 'अनडुही' एतस्वेन्द्रतुरीयकर्मणो दक्षिणा-  
त्वेन संयुज्यत इत्यर्थः † ॥ १३ ॥

विधत्ते— “अथापामार्गेति ‡ । तं रात्रौ विजितिसाधन-  
त्वेन प्रशंसति— “अपामार्गेवै देवा इति । ‘अपामृजत’ अप-  
मार्जनं कृतवन्तः । “अपमृष्ट इति । इदानीं मय्यपमार्जनं  
करोति § ॥ १४ ॥

तस्यानुष्ठानं सविशेष माह— “स पालाशे वेति । पलाश-  
वैकङ्कतयोरन्यतरनिर्मिते ‘सुवे’ अपामार्गतण्डुलानाधाय अन्वा-  
हार्यपचनान्नेरुत्तमुकञ्चादाय प्राङ्मुखा उदङ्मुखा वा ‘यन्ति’ ।  
तत्रान्निं प्रतिष्ठाप्य होमः कर्त्तव्यः ॥ ॥ १५ ॥

उत्तमुकादानं मनूय मन्त्रं विधत्ते— “स उत्तमुक  
मिति ¶ । हे ‘अने !’ ‘पृतनाः’ सङ्ग्रामान् ‘सहस्र’, ‘अभि-  
मातीः’ अभिमन्यमानान् सपत्नान् ‘अपास्य’ अपक्षिप । “असु  
चेपणे” \*\* । एव मनिष्टनिवृत्तिं मुक्तेष्टप्राप्तिं प्रार्थयते— ‘दुष्टः’

\* “वह्निनीदध्येन्द्रम्”—इति का० श्रौ० सू० १५. १. २६ । ‘वह्निन्या  
गोर्दधि वह्निनीदधि । अनोवहतीति वह्निनी गौः’—इति चात्र कर्कः ।

† का० श्रौ० सू० १५. १. ३० । ‘वह्निनी धेनुर्दक्षिणा’—इति तै०  
सं० १. ८. ७. १ । “यद् वह्निनी, तेनाग्नेयी ; यद् गौः, तेन रौद्री ;  
यद्गनुस्तेनैन्द्री ; यत् स्त्री सती दान्ता, तेन वारुणी समृद्धेः”—इति  
च तत्र तै० ब्रा० १. ७. १ ।

‡ तै० सं० १. ८. ७=तै० ब्रा० १. ७. १ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. २. १ । ‘इन्द्रतुरीयाच्च शोभूति काष्ठाणां  
पठाते’—इति तत्र कर्कः ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. २. २ ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. २. ५ ।

\*\* दि० प० ८ धा० ।

अन्यैस्तरुतु मशक्यः स्वयम् 'अरातीः' शत्रून् 'तरन्', 'यज्ञ-  
वाहसि' यजमाने 'वर्चः' अन्नं 'धाः' धारयसि ॥

मन्त्रं प्रतिपाद मनूय व्याचष्टे—“अग्ने सहस्वेति ॥  
वर्चःपदस्य श्रेयःपरत्व माह—“साधु यजमान इति । 'दधत्'  
धारयन्नित्यर्थः ॥ १६ ॥

हवन मनूय मन्त्रं विधत्ते—“तदग्नि मिति † । 'देवस्य  
वेति ‡, व्याख्यातम् । “उपांशोरिति । 'उपांशुः' नाम  
'यज्ञमुखं' प्रथमो अहः, तस्य 'वीर्येण' 'जुहोमि' । तेन  
हवनेन 'रक्षः' हतं निहतं नष्टं भवतु । 'स्वाहा' इदं  
हविः सुहुत मस्तु इति ॥ १७ ॥

पालाशवैकङ्कतयोरेकतरस्य हवनोपयुक्तस्य सुवस्य क्षेपणं  
सार्धंवादं विधत्ते—“स यदि पालाश इति § । क्षेपणमन्त्रं  
पठति—“रक्षसा मिति ॥ । हे सुव ! 'रक्षसां वधाय' 'त्वा'  
त्वाम्, अस्यामीति शेषः ॥ १८ ॥

“स यदीति । 'यदि' अध्वर्युः 'प्राङ्' प्राङ्मुखः पूर्वस्यां  
दिशि गत्वा जुहुयात्, तर्हि 'सुवं' 'प्राञ्चं' प्राग्दिक्सम्बद्धम्  
'अस्यति' क्षिपति । उदङ्ङित्यादावप्येवं योज्यम् । हवनप्रदेशात्  
तन्निर्वर्त्तनं विधित्पुरादौ तन्मन्त्रं ¶ पठित्वा व्याचष्टे—“अवधि-

\* वा० सं० ६. ३७. १ ।

† का० श्रौ० सू० १५. २. ६ ।

‡ वा० सं० ६. ३८. १ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. २. ७ ।

॥ वा० सं० ६. ३८. १ ।

¶ वा० सं० ६. ३८. २ ।

शेति । एतेनापामार्गहोमेन 'रक्षः' 'अवधिष' वयं हत-  
वन्तः । भूते लुङ् ॥ १८ ॥

एतन्मन्त्रकरणकं पुनरागमनं विधत्ते— “अथाप्रतीक्ष  
मिति \* । ‘अथ’ ‘अप्रतीक्ष’ तं प्रदेशं प्रतिनिवृत्त्य, अनवेक्ष्ये-  
त्यर्थः । अभिवर्द्धमानस्यापि स्तोपद्रवपरिहारार्थं होमं विधत्ते—  
“स हैतेनापीति । ‘एतेन’ अपामार्गहोमेन ‘अपि’, न केवलं  
पञ्चवातीयहोमेन, एतेनापि ‘प्रतिसरं’ स्वरक्षा मभिचार्यमाणः  
कुर्यात् † । हवने कश्चिद् विशेषं विधत्ते— “स यस्या मिति ।  
अभिचारको यस्यां ‘दिशि’ भवेत्, तां दिशं ‘प्रतीत्य’ गत्वा  
जुहुयात् । “प्रतीचीनफल इति । अपामार्गमञ्जर्यो ‡ यतः  
प्रतीचीनफलाः §, स्वात्मानं प्रतिगतैरवाङ्मुखैः फलैर्युक्ताः ॥ ;  
अतोऽभिचारकः ‘अस्मै’ यजमानाय ‘किञ्चित्’ पीडादिकं  
कुर्यात् । ‘त मेव’ एतेनापामार्गहोमेन प्रतिमुखं ‘धूर्वति’  
हिनस्ति, तत्कृतोऽभिचारः त मेव प्रतिनिवृत्त्य हिनस्तीत्यर्थः ।  
निवर्त्तनमन्त्रेण शत्रुनामादेशनं विधत्ते— “तस्य नामेति ¶ ।  
“अवधिषामु मिति । ‘अमुम्’-‘असौ’-इति पदयोः स्थाने अभि-  
चारकनामधेयं द्वितीयान्तत्वेन प्रथमान्तत्वेन चादिशेदित्यर्थः ॥

अथ सूत्रम्— “देवस्य त्वेति जुहोति, रक्षसां त्वेति  
सुव मस्यति, तां दिशं यस्यां जुहोत्यवधिष रक्ष इत्यायन्त्य-

\* का० श्रौ० सू० १५. २. ८ ।

† का० श्रौ० सू० १५. २. ९ ।

‡ नास्त्येतत् पदं ज-पुस्तके ।

§ ‘प्रतीचीनफलः’—इति ज ।

॥ ‘फलैर्युक्तः’—इति ज ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. २. १० ।

नपेक्ष मभिवर्चमाणोऽपि तां दिशं गत्वाभिवर्ततो नामादि-  
शेत्”—इति \* ॥ २० ॥ ३ [ २. ४. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थे ब्राह्मणम् ॥

( अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् . )

आग्नावैष्णव मेकादशकपालं पुरोडाशं निर्व-  
पति । ऐन्द्रावैष्णवं चरुं व्वैष्णवं त्रिकपालं  
वा पुरोडाशं चरुं वा तेन त्रिषंयुक्तेन यजते  
पुरुषानेतद्देवा उपायंस्तथो ऽएवैष ऽएतत् पुरुषा-  
निवोपैति ॥ १ ॥

स यदाग्नावैष्णवः † । एकादशकपालः पुरो-  
डाशो भवत्यग्निर्वै दाता व्वैष्णवाः पुरुषास्तदस्मा  
ऽअग्निर्दाता पुरुषान् ददाति ॥ २ ॥

अथ यदैन्द्रावैष्णवः । चरुर्भवतीन्द्रो वै

\* 'होमसुवप्रासनागमनेषु'—इति तच्छेषः । का० श्रौ० सू० १५. २. ६-१० ।

† 'वः'—इति ख, 'व'—इति ग, घ ।

यजमानो व्वैष्णवाः पुरुषास्तदस्मा ऽअग्निर्दाता  
पुरुषान् ददाति तैरेवैतत्सुम्पृशते तानात्मन्  
कुरुते \* ॥ ३ ॥

अथ यद्वैष्णवः † । त्रिकपालो वा पुरोडाशो  
भुवति चरुर्वा यानेवास्मा ‡ ऽअग्निर्दाता पुरुषान्  
ददाति तेष्वेवैतदन्ततः प्रतितिष्ठति यद्वै पुरुषवान्  
कर्म चिकीर्षति शक्नोति वै तत् कर्तुं तत्  
पुरुषानेवैतदुपैति पुरुषवान्सूया ऽइति तस्य  
व्वामनो गौर्दक्षिणा स हि व्वैष्णवो यद्वा-  
मनः § ॥ ४ ॥

अथापरेण त्रिषंयुक्तेन यजते । सु आग्ना-  
पौष्ण मेकादशकपालं पुरोडाशं निर्व्वपत्येन्द्रापौष्णं  
चरुं पौष्णं चरुं तेन त्रिषंयुक्तेन यजते पशु-  
नेव तुद्देवा उपायंस्तथो ऽएवैष एतत् पशु-  
नेवोपैति ॥ ॥ ५ ॥

\* 'कुरुते'—इति क, ख ।

† '०वः'—इति झ, घ ।

‡ 'स यानेवास्मा'—इति क, ख ।

§ '०नः'—इति ग, घ ।

॥ '०पैति'—इति ख ।



स यदाग्नापौष्णाः \* । एकादशकपालः पुरो-  
 ङाशो भवत्यग्निर्वै दाता पौष्णाः पशवस्तदस्मा  
 ऽअग्निरेव दाता पशून् ददाति † ॥ ६ ॥

अथ यदैन्द्रापौष्णाः । चरुर्भवतीन्द्रो वै यज-  
 मानः पौष्णाः पशवः स यानेवास्मा ऽअग्नि-  
 दाता पशून् ददाति तैरेवैतत्सुम्पृशते ताना-  
 त्मन् कुरुते ‡ ॥ ७ ॥

अथ यत् पौष्णाः । चरुर्भवति यानेवास्मा  
 ऽअग्निर्दाता पशून् ददाति तेष्वेवैतदन्तः प्रति-  
 तिष्ठति यैः पशुमान् कर्म चिकीर्षति शक्नोति  
 वै तत् कर्तुं तत् पशूनेवैतदुपैति पशुमाक्सूया  
 ऽइति तस्य श्यामो गौर्दक्षिणा स हि पौष्णा  
 यच्छ्यामो दे वै श्यामस्य रूपे शुक्लं चैव लोम  
 कृष्णं च इन्द्रं वै मिथुनं प्रजननं प्रजननं वै  
 पूषा पशवो हि पूषा पशवो हि प्रजननं  
 मिथुनं मेवैतत् प्रजननं क्रियते तच्छ्याच्छ्यामो  
 गौर्दक्षिणा ॥ ८ ॥

\* '०ष्णाः'—इति ग, घ ।

† 'ददाति'—इति क, घ ।

‡ 'कुरुते'—इति क, ख ।

अथापरेण त्रिषंयुक्तेन यजते \* । सो ऽग्नी-  
षोमीयं मेकादशकपालं पुरोडाशं निर्व्वपत्यैन्द्रा-  
सौम्यं चरुं सौम्यं चरुं तेन त्रिषंयुक्तेन यजते  
व्वर्चं एव तुहेवा उपायंस्तथो ऽएवैष एतद्वर्चं  
एवोपैति ॥ ९ ॥

स यदग्नीषोमीयः । एकादशकपालः पुरो-  
डाशो भवत्यग्निर्व्वं दाता व्वर्चः सोमस्तदस्मा  
ऽअग्निरेव दाता व्वर्चं ददाति † ॥ १० ॥

अथ यदैन्द्रासौम्यः । चरुर्भवतीन्द्रो वै  
यजमानो व्वर्चः सोमः स यदेवास्मा ऽअग्नि-  
र्दाता व्वर्चं ददाति तेनैवैतत्सुम्पृशते तदा-  
त्मानं कुरुते ‡ ॥ ११ ॥

अथ यत् सौम्यः । चरुर्भवति यदेवास्मा  
ऽअग्निर्दाता व्वर्चं ददाति तस्मिन्नेवैतदन्ततः  
प्रतितिष्ठति यदै व्वर्चस्त्री कर्म चिकीर्षति शक्नो-  
ति वै तत् कर्तुं तद्वर्चं एवैतदुपैति व्वर्चस्त्री  
सूया ऽइति नो ह्यवर्चसो व्याप्या चनार्थो-

\* 'यजते'—इति ग, घ ।

† 'ददाति'—इति क ।

‡ 'कुरुते'—इति क, ख ।

ऽस्ति तस्य बभ्रुर्गोर्दक्षिणा स हि सौम्यो  
यद्वभ्रुः \* ॥ १२ ॥

अथ श्वो भूते । व्वैश्वानरं द्वादशकपालं  
पुरोडाशं निर्व्वपति व्वारुणं यवमयं चरुं  
ताभ्या मनूचीनाहं व्वेष्टिभ्यां यजते समानुवर्हिभ्यां  
वा ॥ १३ ॥

स यद्वैश्वानरो भवति । संवत्सरो वै व्वैश्वान-  
नरः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिरेव तद् भूमानं  
प्रजाः ससृजे भूमानं प्रजाः सृष्ट्वा सूया ऽद्विति  
तथो ऽप्येष एतद् भूमानं प्रजाः सृजते भूमानं  
प्रजाः सृष्ट्वा सूया ऽद्विति † ॥ १४ ॥

अथ यद् द्वादशकपालो भवति । द्वादश वै  
मासाः संवत्सरस्य संवत्सरो व्वैश्वानरस्तस्माद्  
द्वादशकपालो भवति ‡ ॥ १५ ॥

अथ युद्धारुणो यवमयश्चरुर्भवति । तत्सर्व्वं श्वा  
देवैतद् वरुणपाशात् सर्व्वस्माद् व्वरुण्यात् प्रजाः  
प्रमुञ्चति ता अस्थानमीवा अकिल्बिषाः प्रजाः

\* 'यद्वभ्रुः'—इति ग ।

† 'द्विति'—इति क ।

‡ 'भवति'—इति क ।

प्रजायन्ते ऽनसौवा अकिल्बिषाः प्रजा अभि स्यूा  
ऽइति ॥ १६ ॥

ऋषभो वैश्वानरस्य दक्षिणा । संवत्सरो  
वै वैश्वानरः संवत्सरः प्रजापतिर्ऋषभो वै  
पशूनां प्रजापतिस्तुष्ठादृषभो वैश्वानरस्य दक्षिणा  
ऋषां वासो वारुणस्य तद्वि वारुणं यत्  
ऋषां यदि ऋषां न विन्देदपि यदेव किञ्च  
वासः स्याद् ग्रन्थिभिर्हि वासो वारुणं वारुण्यो  
हि ग्रन्थिः ॥ १७ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [२.५.] ॥

अथ त्रिषंयुक्तेष्टित्वं विधित्सुः प्रथमं त्रिषंयुक्तं मनुक्रा-  
मति— “आग्नावैष्णव मिति । तद् विधत्ते— “तेन त्रिषं-  
युक्तेनेति \* । त्रिभिर्हविर्भिः संयुक्तं [ कर्म त्रिषंयुक्तम् ],  
तेन यजेत । पुरुषप्राप्तिहेतुता माह— “पुरुषान्वैतदिति ।  
यतो देवा एतेन त्रिषंयुक्तेन सहायभूतान् कर्मकरान् पुरुषान्  
प्राप्तवन्तः, तथा यजमानोऽपि तथाविधान् पुरुषान् अनेन  
यागेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १ ॥

त्रीणि हवींषि विभज्य स्तीति— “स यदाग्नावैष्णव इति ।  
‘वैष्णवाः पुरुषा इति । विष्णोरवतारस्तीकारेण मनुष्यसम्ब-

न्यात् मनुष्याः सर्वे 'वैष्णवाः' विष्णुधिष्ठिता इत्यर्थः । 'तत्' तथा सति 'अस्मै' यजमानाय आग्नावैष्णवयागेन 'दाता अग्निः' विष्णुात्मकान् 'पुरुषान्' ददातीत्यर्थः ॥ २ ॥

प्रहोजन माह— “अथ यदेन्द्रावैष्णव इति \* ॥ ३ ॥

“अथ यद् वैष्णव इति । “तेष्वेवैतदन्त इति । ‘अन्ततः’ अवसाने केवलवैष्णवयागेन ‘तेषु’ अग्निदत्तेषु स्वसम्बद्धेषु विष्णुात्मकेष्वेव पुरुषेषु प्रतिष्ठितो भवति । अथ पुरुषप्राप्तेः फल माह— “यद्वै पुरुषवानिति । यतः पुरुषसहायवानेव ‘कर्म’ कर्तुं मिच्छति, ‘शक्नोति’ च ; अतः ‘तत्’ तेन प्रथमेन त्रिषंयुक्तेन ‘पुरुषानेव’ प्राप्नोति । तस्य दक्षिणां विधाय स्तौति— “तस्य वामन इति । ‘वामनः’ ऋसाङ्गः । यतो वामनो विष्णुसम्बन्धी, अतो वैष्णवयागे दक्षिणात्वेन भवितुं युज्यत इत्यर्थः † ॥ ४ ॥

द्वितीयं त्रिहविष्कं विधत्ते— “अथापरेणेति । अस्य त्रिषंयुक्तस्य पशुप्राप्तिहेतुता माह— “पशूनेवेति । पूर्ववद् योज्यम् । अत्र विष्णुस्थाने पूर्वैव विशेषः ॥ ५ ॥

“स यदाग्नापौष्ण इति । ‘पौष्णाः’ पशव इति । पूषा हि पशूना मुत्पादकः, अतस्ते पौष्णाः । श्रूयते हि—“पूषा पशूनां प्रजनयितेति ‡ ॥ ६ ॥

“अथ यत् पौष्ण इति । “अथैतस्य दक्षिणां विधत्ते—

\* तै० सं० १. ८. ८; तै० ब्रा० १. ७. २ ।

† “आग्नावैष्णव ऐन्द्रावैष्णवो वैष्णवो वामनो दक्षिणा”—इति का० श्रौ० सू० १५. २. १२ ।

‡ तै० ब्रा० १. ७. २. १ दृश्यम् ।

“तस्य श्याम इति । श्यामो गौरिति \* ‘यत्’, स हि ‘पौष्णः’  
 पूषदेवतात्मकः । तदेवोपपादयति— “हे वा इति । श्याम-  
 वर्णस्य शक्तकृणात्मकद्विरूपयोगात् । द्वित्वसङ्ग्राहारा पूर्णरूपता  
 माह— “द्वन्द्वं वा इति । लोके हि स्त्रीपुरुषात्मकं ‘द्वन्द्वं’  
 ‘मिथुनं’ परस्परं संसृष्टं तत् ‘प्रजननं’ प्रजोत्पत्तिकारणम् ;  
 पूष्णोऽपि तदेव स्वरूप मिति तत्सृष्टाः पशवोऽपि पूषैव ।  
 यतः पूषात्मकाः ‘पशवः’, तेऽपि ‘प्रजननं’ प्रजोत्पत्तिनिमि-  
 त्तम् ; अतः शक्तकृणात्मकस्य श्यामस्य गोर्दानेन पशूत्पत्ति-  
 निमित्तं मिथुनमेव सम्पादितं भवतीत्यर्थः ; अतः पशु-  
 फलके यागे दक्षिणात्वेन युज्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

तृतीयं त्रिषंयुक्तं विधत्ते— “अथापरेणेति । तस्य वर्चस्साध-  
 नता माह— “वर्च एवैतदिति । ‘वर्चः’ ब्राह्मं तेजः । अत्र  
 विष्णुस्थाने सोमो विशेषः ॥ ९ ॥

“स यदाग्नीषोमीय इति । ‘वर्चः’ सोम इति । सोमस्य  
 यागद्वारा ब्रह्मवर्चसनिमित्तत्वात् तादात्म्यव्यपदेशः । अन्यत्  
 पूर्ववद् योज्यम् ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥

“अथ यत् सौम्य इति । “नो ह्यवर्चस इति । ‘अव-  
 र्चसः’ अतेजस्कस्य यद्यपि ‘व्याप्तिः’ सर्वपदार्थव्यापनशक्तिरस्ति,  
 ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थः, तथापि तथा ‘व्याप्त्या’ अपि ‘न’ खलु

\* “अलिङ्गयद्गणे गौः सर्वत्र”— इति का० श्रौ० सू० १५. २. १३ ।  
 ‘यत्र जातिरूपं लिङ्गं न गृह्यते तत्र सर्वत्र गोजातिर्ज्ञेया’— इति  
 चात्र कर्काचार्यः ।

† “आमापौष्णः ऐन्द्रापौष्णः पौष्णः श्यामो दक्षिणा”— इति  
 का० श्रौ० सू० १५. २. १४ ।

‘अर्थः’ प्रयोजनं विद्यते इति । तस्य दक्षिणां विधत्ते—  
 “वस्त्रुर्गौरिति \* । ‘स हि सोम्यः’ इति ‘वस्त्रुः’ भवत्येव ;  
 “एतद्वै सोमस्य रूपम्”—इति श्रवणात् † ॥ १२ ॥

अथानन्तरदिवसकर्तव्यं द्विहविष्कं यागं विधत्ते— “अथ  
 श्वोभूत इति । “अनूचीनाह मिति । अनूचीने पूर्वापरीभूते  
 अहनी ‘अनूचीनाहम्’, क्रियाविशिषण मेतत् । वैश्वानरेष्ट्या  
 पूर्वस्मिन् दिने यजेत, वारुण्या अपरस्मिन् दिने । एवं भिन्न-  
 तन्त्रेणैतो यागी कार्यौ । एकस्मिन्नेवाहनि वा समानतन्त्राभ्यां  
 यष्टव्य मित्याह— “समानवर्हिभ्यां मिति । वर्हिरुपलक्षितं  
 कृत्स्नं तन्त्रं समानं साधारणं ययोः ते समानवर्हिषी ॥ अत्र  
 सूत्रम्— “श्वो वैश्वानरो द्वादशकपालो वारुण्यैकतन्त्रे, श्वो  
 वैकः”—इति ‡ ॥ १३ ॥

प्रथमस्य हविषो वैश्वानरदेवताकत्वं प्रशंसति— “स यद्  
 वैश्वानर इति । अग्नेः संवत्सरात्मकत्वं मुख्याग्नेः संवत्सरा-  
 दिति षष्ठे काण्डे समाम्नास्यते § । भूमानं प्रजा इति ।  
 भूयसी प्रजा इत्यर्थः ॥ १४ ॥

कपालसङ्ख्यां प्रशंसति— “अथ यद् द्वादशकपाल इति ।  
 वैश्वानराग्नेः संवत्सरात्मकत्वात् तस्य मासद्वादशकरूपत्वात् तदी-  
 यस्य हविषः कपालेषु द्वादशसङ्ख्या युज्यत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

\* “आयाषोमीय रेन्द्रासोम्यः सौम्यो दभूर्दक्षिणा”— इति का०  
 औ० सू० १५. २. १५ । तै० सं० १. ८. ८; तै० ब्रा० १. ७. २ ।

† तै० सं० २. १. ३. १० । ‘सम्बुद्धौ’—इति तच्छेषः ।

‡ का० औ० सू० १५. २. १८, १९ । तत्रैको वारुणः ।

§ ‘संवत्सरोऽग्निः’—इत्यादिकं इका० ३ प्र० इवा० १२ क० द्रष्टव्यम् ।

द्वितीयं हविः प्रशंसति— “अथ यद् वारुण इति ।  
“तत्सर्वस्मादिति । ‘तत्’ तत्र ‘एतत्’ एतेन वारुणयागीन सर्वस्मा-  
देव ‘वरुणपाशात्’, तथा ‘वरुणयात्’ वरुणपाशकृतात् सर्वस्माद्  
दुःखात् ‘प्रजाः’ ‘प्रमुञ्चति’ ॥ १६ ॥

अनयोर्हविषोः क्रमेण दक्षिणा मभिधाय प्रशंसति—  
“ऋषभ इति । “ऋषभो वै पशूना मिति । यतो वैश्व-  
नरः परम्परया ‘प्रजापतिः’, ऋषभोऽपि पशूनां पतित्वात्  
प्रजापतिः ; अतो वैश्वानरदेवताकयागस्य दक्षिणात्वेन युज्यत  
इत्यर्थः । “तद्धि वारुण मिति । रात्राभिमानिदेवता वरुणः,  
रात्रिश्च कृष्णवर्णा , अतो लोकेऽपि यत् कृष्णं तद् वारुण  
मित्याह । कृष्णवस्त्रालाभे वर्णान्तरयुतं ‘वासः’ देय मित्यु-  
क्तम् \* । तस्योपाध्यन्तरेण वरुणसम्बन्धित्वं सुपपादयति—  
“यन्विभिर्हीति । यन्विर्नाम पाशः , पाशो हि वरुणस्येति  
तद्योग्यत्वम् । अयं दक्षिणाभेद इच्छोर्मिन्नतन्त्रत्वे वेदितव्यः ।  
समानतन्त्रत्वे हि एकेनैव द्रव्येण परिक्रिता ऋत्विजः कृत्स्नं  
प्रयोगजातं कुर्वन्तीतीतरवैयर्थ्यम् । तदुक्तं कर्कोपाध्यायेन—  
“तन्त्रभेदे चेत्तद् भवति ; ऐकतन्त्रे तु चोदकपरिप्रासोऽन्वा-  
हार्यः”—इति ७ ॥ १७ ॥ ४ [ २. ५. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे द्वितीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

\* “ऋषभः पूर्वस्य दक्षिणा , कृष्णं वास उत्तरस्य , अभावे-  
प्लक्षाम्”—इति का० श्रौ० सू० १६. २. २० ।

† १५. २. २० सूत्रवृत्तिरियम् ।



वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापुरुषौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् \* पञ्चसीरीं†-स्त्रिंशत्तलताधेनुसौवर्णभूमिः ।  
रत्नोन्नां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः ‡ सिङ्गणार्यौ § ,  
व्यश्याणीद्विष्वक्क्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं षट्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजम्ना तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो ॥ राजतं राजपूज्यः ।  
षाल्योत्थं प्राज्यजम्ना ¶ लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाब्धौ रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पातसास्त्रिङ्गणार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे द्वितीयाध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

\* 'पञ्चाब्धीन्'—इति ठ (१) ।

† 'सप्तसीरीं'—इति ठ ।

‡ 'सायणः' स्यात् ?

§ स्यात् 'सिङ्गणार्यौ' ?

॥ 'मजडं'—इति ठ ।

¶ 'प्राज्यवुद्धिर्'—इति ठ ।

(१) ठ-इति प्रथमकाण्डीयसम्पादकोक्तां विवृतं द्रष्टव्यम् ।

( अथ तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् . )

अरुण्योरग्नीं समारोह्य । सेनान्यो गृहान्  
परेत्याग्नये ऽनीकवते ऽष्टाकपालं पुरोडाशं निर्व्व-  
पत्यग्निर्व्वं देवताना मनीकः सेनाया वै सेनानी-  
रनीकं तस्मादग्नये ऽनीकवत ऽएतद्वा ऽअथैकः  
रत्नं यत् सेनानीस्तस्मा ऽएवैतेन सूयते तः स्व मन-  
पक्रमिणं कुरुते तस्य हिरण्यं दक्षिणाग्नेयो वा  
ऽएष यज्ञो भवत्यग्ने रतो हिरण्यं तस्माद्द्विरण्यं  
दक्षिणा \* ॥ १ ॥

अथ श्वो भूते । पुरोहितस्य गृहान् परेत्य  
बार्हस्पत्यं चरुं निर्व्वपति बृहस्पतिर्व्वं देवानां  
पुरोहित एष वा ऽएतस्य पुरोहितो भवति तस्माद्बार्ह-  
स्पत्यो भवत्येतद्वा ऽअथैकः रत्नं यत् पुरोहित-  
स्तस्मा ऽएवैतेन सूयते तः स्व मनपक्रमिणं कुरुते  
तस्य शितिपृष्ठो गौर्दक्षिणैषा वा ऽऊर्ध्वा बृह-  
स्पतेर्दिकृतदेषु उपरिष्ठादर्यम्णः पुन्यास्तस्माच्छिति-  
पृष्ठो बार्हस्पत्यस्य दक्षिणा † ॥ २ ॥

अथ श्रुवो भूते । सूयमानस्य गृह एन्द्र  
मेकादशकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति चत्रं वा  
ऽइन्द्रः चत्रं सूयमानस्तस्मादैन्द्रो भवति तस्य  
ऽर्षभो दक्षिणा स ह्यैन्द्रो यदृषभः \* ॥ ३ ॥

अथ श्रुवो भूते † । महिष्यै गृहान् परेत्य  
आदित्यं चक्रं निर्व्वपतीयं वै पृथिव्यदितिः सेयं  
देवानां पुत्रेष्वा वा ऽएतस्य पुत्री भवति तस्मा-  
दादित्यो भवत्येतद्वा ऽअस्यैकं रत्नं यन्महिषी  
तस्या ऽएवैतेन सूयते तां स्वा मनपक्रमिणीं  
कुरुते तस्यै धेनुर्दक्षिणा धेनुरिव वा ऽइयं मनु-  
ष्येभ्यः सुर्व्वान् कामान् दुहे माता धेनुर्मातेव वा  
ऽइयं मनुष्यान् विभर्ति तस्माद्धेनुर्दक्षिणा ‡ ॥ ४ ॥

अथ श्रुवो भूते । सूतस्य गृहान् परेत्य  
व्वारुणं यवमयं चक्रं निर्व्वपति सवो वै सूतः  
सवो वै देवानां व्वारुणस्तस्माद्वारुणो भवत्येतद्वा  
ऽअस्यैकं रत्नं यत् सूतस्तस्मा ऽएवैतेन सूयते

\* 'यदृषभः'—इति ग । 'यदृषभः'—इति घ ।

† 'भूते'—इति ख । 'भूते'—इति ग ।

‡ 'दक्षिणा'—इति क, ख ।

तः स्व मनपक्रमिणं कुरुते तस्याश्वो दक्षिणा स  
हि व्वारुणो यदश्वः \* ॥ ५ ॥

अथ श्वो भूते । ग्रामण्यो गृहान् परित्य  
मारुतः सप्तकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति व्विशो  
वै मरुतो व्वैश्यो वै ग्रामणीस्तस्मान् मारुतो  
भवत्येतद्वा ऽअस्यैकः रत्नं यद् ग्रामणीस्तस्मा  
ऽएवैतेन सूयते तः स्व मनपक्रमिणं कुरुते तस्य  
पृषन् गौर्दक्षिणा भूमा वा ऽएतद्रूपाणां यत्  
पृषतो गोर्द्विशो वै मरुतो भूमी वै व्विट् तस्मात्  
पृषन् गौर्दक्षिणा † ॥ ६ ॥

अथ श्वो भूते । क्षत्तुर्गृहान् परित्य सावित्रं  
द्वादशकपालं व्व्याष्टाकपालं वा पुरोडाशं निर्व्व-  
पति सविता वै देवानां प्रसविता प्रसविता वै  
क्षत्ता तस्मात् सावित्रो भवत्येतद्वा ऽअस्यैकः  
रत्नं यत् क्षत्ता तस्मा ऽएवैतेन सूयते तः स्व मन-  
पक्रमिणं कुरुते तस्य श्वेतो ऽनङ्गान् दक्षिणैष  
वै सविता य एष तपत्येति वा ऽएष एत्यनङ्गान्

\* 'यदश्वः'—इति क, 'यदश्वः'—इति ग, 'यदश्वः'—इति घ ।

† 'दक्षिणा'—इति क, ख ।

युक्तस्तद्यच्छ्रेतो भवति श्रेते इव ह्येष उद्या-  
श्चास्तं च यन् भवति तस्माच्छ्रेतो ऽनङ्गान्  
दक्षिणा \* ॥ ७ ॥

अथ श्वो भूते । सङ्गृहीतुर्गृहान् परेत्याश्विनं  
द्विकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति सयोनी वा ऽश्व-  
श्विनौ सयोनी सव्यष्टसारथी समान् हि गृथ-  
मधितिष्ठतस्तस्मादाश्विनो भवत्येतद्वा ऽश्वस्यैकं  
रत्नं यत् सङ्गृहीता तस्मा ऽएवैतेन सूयते तं  
स्व मनपक्रमिणं कुरुते तस्य यमौ गावौ दक्षिणा  
तौ हि सयोनी यद्यमौ यदि यमौ न विन्देदु-  
प्यनूचीनगर्भाविव गावौ दक्षिणा स्यातां ता  
ऽउ ह्यपि समानयोनी ॥ ८ ॥

अथ श्वो भूते । भागदुघस्य गृहान् परेत्य  
पौष्णां चरुं निर्व्वपति पूषा वै देवानां भाग-  
दुघ एष वा ऽएतस्य भागदुघो भवति तस्मात्  
पौष्णो भवत्येतद्वा ऽश्वस्यैकं रत्नं यद्भागदुघस्तस्मा  
ऽएवैतेन सूयते तं स्व मनपक्रमिणं कुरुते तस्य

श्यामो गौर्दक्षिणा तस्यासावेव बभूवुर्गो ऽसौ त्रिषं-  
युक्तेषु \* ॥ ९ ॥

अथ श्वो भूते † । अक्षावापस्य च गृहेभ्यो  
गोविकर्त्तस्य च गवेधुकाः सम्भृत्य सूर्यमानस्य गृहे  
रौद्रं गावेधुकं चरुं निर्व्वपति ते वा ऽएते हे  
सती ॥ ते ऽएकं करोति सम्पदः कामाय तद्यु-  
देतेन यजते यां वा ऽइमां सभायां घ्नन्ति  
रुद्रो हैता मभिमन्यते ऽग्निर्व्वै रुद्रो ऽधिदेवनं  
वा ऽअग्निस्तुष्येते ऽअङ्गारा यदक्षास्तु मेवैतेन  
प्रीणाति तस्य ह वा ऽएषानुमता गृहेषु हन्यते  
यो वा राजसूयेन यजते यो वैतदेवं वेदैतद्वा-  
ऽअखैकं ॥ रत्नं यदक्षावापस्य गोविकर्त्तस्य ताभ्या  
मेवैतेन सूर्यते तौ स्वावुनपक्रमिणौ कुरुते तस्य  
द्विरूपो गौर्दक्षिणा शितिबाहुर्वा शितिवालो  
वासिर्नखरो व्यालदाम्नाक्षावपनं प्रबद्ध मेतदु हि  
तयोर्भवति ‡ ॥ १० ॥

\* 'त्रिषंयुक्तेषु'—इति क, 'त्रिषंयुक्तेषु'—इति ग, 'त्रिषंयुक्तेषु'—इति घ ।

† 'भूते'—इति क, ख । 'भूते'—इति ग ।

‡ 'भवन्ति'—इति क ।

अथ श्रुो भूते । पालागलस्य गृहान् परेत्य  
 चतुर्गृहीत माज्यं गृहीत्वाध्वन आज्यं जुहोति  
 जुषाणो ऽध्वाज्यस्य व्येतु स्वाहेति प्रहेयो वै  
 पालागलो ऽध्वानं वै प्रहित एति तस्मादध्वन  
 आज्यं जुहोत्येतदा ऽअथैकं रत्नं यत् पाला-  
 गलस्तस्मादएवैतेन सूयते तं स्व मनपक्रमिणं  
 कुरुते तस्य दक्षिणा प्यक्षावेष्टितं धनुश्चर्म-  
 मया वाणवन्तो लोहित उष्णीष एतद् हि  
 तस्य भवति ॥ ११ ॥

तानि वा ऽएतानि \* । एकादश रत्नानि सम्पा-  
 दयत्येकादशाक्षरा वै त्रिष्टुब् वीर्यं त्रिष्टुब् वीर्यं मेवैत-  
 द्रत्नान्यभिसम्पादयति तद्यद्रत्निनां हविर्भिर्यु-  
 जत ऽएतेषां वै राजा भवति तेभ्य एवैतेन सूयते  
 तान्स्वाननपक्रमिणः कुरुते † ॥ १२ ॥

अथ श्रुो भूते । परिहृत्यै गृहान् परेत्य  
 नैर्ऋतं चरुं निर्व्वपति या वा अपुत्रा पत्नी

\* 'एतानि'—इति ग, 'एतानि'—इति घ ।

† 'कुरुते'—इति ग, घ ।

सा परिवृत्ती सु कृष्णानां व्रीहीणां नखैर्निर्मिद्य  
 तण्डुलान्नैर्ऋतं चक्षुः श्रपयति सु जुहोत्येष ते  
 निऋते भागन्तं जुषस्य स्वाहेति या वा ऽस्यपुत्रा  
 पुत्री सा निऋतिगृहीता तद्यदेवास्या ऽस्यत्र  
 नैऋतं रूपं तदेवैतच्छ्रमयति तथो हैनं सूय-  
 मानं निऋतिर्न गृह्णाति तस्य दक्षिणा कृष्णा  
 गौः परिमूर्णी पर्यारिणी सा ह्यपि निऋति-  
 गृहीता ता माह मा मे ऽद्येशायां व्यात्सीदिति  
 तत् पाप्मानं मणदत्ते ॥ १३ ॥ ५ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [३.१.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे , त मंहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

तृतीयाध्याये \* प्रथमब्राह्मणे द्वादश रत्नहवींष्यनुदिनं क्रमेण  
 कर्त्तव्यान्मुख्ये । अत्र कात्यायनो नैऋतहविषा द्वादश  
 हवींषीति सूत्रितवान्— “द्वादशोत्तराणि रत्नहवींषि, प्रतिगृह

\* इतत् पदे नास्ति अ-पुस्तके ।

† “रत्निनामैतानि हवींषि भवन्ति , एते वै राष्ट्रस्य प्रदा-  
 तारः”—इत्यादि तै० ब्रा० १. ७. ३ द्रष्टव्यम् ।



मेकैकं श्वः श्वः, समारुडेऽग्नी निर्मथिते ऽग्नये ऽनीकवते”-  
इत्यादि \* । तत्र प्रथमं हविर्विधत्ते— “अरण्योरग्नी इति ।  
‘अग्नी’ गार्हपत्याहवनीयौ ‘अरण्योः’ पृथक् पृथक् ‘समारोप्य’ †  
प्रतिदिवसं तत्तद्गृहं गत्वा तत्र तत्र निर्मथ्य यष्टव्य मिति  
सर्वेष्टिसाधारण मिदम् ‡ ।

‘सेनान्यः’ सेनापतेः ‘गृहान्’ ‘परित्य’ प्रथमं गत्वा ‘अनीक-  
वते’ अनीकवद्गुणकाय ‘अग्नये’ अष्टाकपालेन पुरोडाशेन  
प्रचरेत् । सेनानीगृहे अनीकवद्गुणकाग्निदेवत्यहविरगुष्ठाने  
कारण माह— “अग्निर्वा इति । देवानाम् ‘अनीकं’ मुखम्  
‘अग्निः’, ‘सेनायाः’ ‘अनीकं’ मुखं ‘सेनानीः’ । अस्य रत्न-  
हविश्च सुपपादयितु माह— “एतदा इति । “सेनानीरिति ।  
‘एतत्’ खलु ‘अस्य’ राज्ञो यजमानस्य ‘एकं’ ‘रत्नं’ रत्नवत्  
प्रशस्तं गवेषणीयं वस्तु, ‘एतेन’ तस्य गृहेऽनुष्ठितेनाग्नेय-  
यागेन ‘तस्मै’ सेनान्ये ‘सूयते’, तेनानुज्ञायत इत्यर्थः । तद्-  
गृहगमनेन ‘तं’ सेनान्यं ‘स्वम्’ आत्मीयम् ‘अनपक्रमिणम्’  
अनतिलङ्घिनं कृतवान् भवतीति । एव मुत्तरत्वापि व्याख्येयम् § ।

दक्षिणां विधत्ते— “तस्य हिरण्य मिति ॥ । ‘तस्य’  
अग्निदेवताकस्य यागस्य अग्निरेतोरूपं ‘हिरण्यं’ दक्षिणात्वेन  
युक्त मित्यर्थः । हिरण्यस्याग्निरेतस्त्व मान्नायते— “आपो वरु-

\* का० श्रौ० सू० १५. ३. १, २, ३ ।

† ‘संरोप्य’-इति ज । ‘समारोप्य’-इति मूलपाठः ।

‡ इहैवानुपदवक्ष्यमाणानां सर्वत्रैवैवं बोध्य मिति भावः ।

§ ते० खं० १. ८. ६. ४ विशेषत आन्नातम् ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. ३, १७ ।

तस्य पत्न्य आसन्, ता अग्निरभ्यध्यायत्, ताः समभवत्,  
तस्य रेतः परापतत्, तद्विरण्य मभवत्”—इति \* ॥ १ ॥

द्वितीयदिवसेऽनुष्ठेयं रत्नहविः विधत्ते— “अथ श्वोभूत  
इति । पुरोहितस्य गृहे बार्हस्पत्यचरुप्रचारे † उपपत्ति माह—  
“बृहस्पतिर्वै देवाना मिति । बृहस्पतेर्देवपुरोहितत्वात् तद्दे-  
वत्यो यागः पुरोहितगृहे कर्तुं सुचित इत्यर्थः । “एतद्वा  
इत्यादि, गतम् ॥

दक्षिणां विधत्ते— “तस्य श्रितिपृष्ठ इति । श्वेतपृष्ठः ।  
तत् प्रशंसति—“जङ्घेति । ‘उङ्घा दिक्’ बृहस्पतिदेवताका,  
तस्या उपरिभागे ‘अर्यङ्गः’ सूर्यस्य ‘एषः’ परिदृश्यमानः  
‘पन्थाः’ मार्गः । स च किरणसम्बन्धात् श्वेतः । अतो बृह-  
स्पतियागदक्षिणाभूतस्य गोः श्वेतपृष्ठत्वं युक्तम् ‡ ॥ २ ॥

तृतीयदिवसे कर्त्तव्यं यागं विधत्ते— “अथ श्वोभूते इति ।  
“सूयमानस्येति । सुन्वतो यजमानस्यैव ‘गृहे’ । अत एवा-  
स्मिन् पर्याये एतद्वा अस्यैकं रत्नम्”—इत्यादिवाक्यानुपन्यासः § ।  
सूयमानपदं यजमानवाचकमित्यभिप्रेत्य सूत्रकृता यजमानपद  
मेवोक्तम्—“ऐन्द्रो यजमानस्य”—इति ॥ । “क्षत्रं वा इत्यादि ।

\* तै० ब्रा० १. १. ३. ८ । ‘आपो ०—० परापतत्, तदिय मभ-  
वत्”—इति तु तै० सं० ५. ५. ४. १ ।

† “बार्हस्पत्यचरुः पुरोहितस्य”—इति का० श्रौ० सू० १५. ३. ४ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ३. १८ । तै० सं० १. ८. ६. १ ।

§ अस्मिन्नेव ब्राह्मणे पुरस्ताद् (१६३८० प्रपं०) द्रष्टव्यम् ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. ३. ५ । ‘ऐन्द्र एकादशकपालः’—इत्यादि  
ककः । तै० सं० १. ८. ६. २ ।

इन्द्रयजमानयोरेकजात्यभिसम्बन्धात् यजमानस्य गृहे ऐन्द्रस्य हविषी निर्वापो युक्तः ॥

दक्षिणां विधत्ते — “तस्य ऋषभ इति \* । “स ह्यैन्द्र इति । “आण्डाभ्या मैन्द्रः”—इति † प्रागान्नातत्वात् तद्वत् ऋषभस्यैन्द्रत्वं प्रसिद्धं मिति ‘हि’-शब्दस्यार्थः ॥ ३ ॥

चतुर्थदिवसकत्तव्या मिष्टिं विधत्ते — “अथ श्वोभूत इति । “महिषा इति ‡ । कृताभिषेकस्य राज्ञो मुख्या स्त्री महिषी ; तस्या गृहे । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । “इयं वै पृथिवीति । देवानां हविस्सम्पादनद्वारा भोग्यत्वात् पृथिव्यात्मिकाया अदितेर्देवपत्नीत्वम् । “तस्मादिति । यस्माददितेर्देवपत्नीत्वम्, ‘तस्मात्’ तदेवत्यहविषः पत्नीगृहे निर्वापो युक्त इत्यर्थः ॥

दक्षिणं विधत्ते — “तस्यै धेनुरिति § । ‘तस्यै’ अदित्यै, तदेवत्यस्य यागस्येत्यर्थः । “धेनुरिव वा इति । यथा ‘धेनुः’ क्षीरादिरूपान् सर्वान् कामान् दोग्धि, एवम् ‘इयं’ पृथिव्यात्मिका अदितिः ‘मनुष्येभ्यः’ सर्वान् ‘कामान्’ ‘दुहे’ दुग्धे । दुहेः “लोपस्त आत्मनेपदेषु”—इति ॥ त-लोपः । ‘धेनुः’ हि ‘माता’ प्रत्यग्रप्रसूतत्वात्, तथा ‘इयं’ भूमिरपि ‘मातेव’ ‘मनुष्यान्’ ‘विभर्त्ति’ पोषयति । ‘तस्मात्’ उदीरितरीत्या अदितेर्ह्येनोः, तत्सम्बन्धात् आदित्यचरोः धेनुर्दक्षिणात्वेन युज्यते ¶ ॥ ४ ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ३. १६ ।

† पुरस्तात् (१२५८० २५०) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ३. ६ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ३. २० । ॥ पा० सू० ६. १. ४१ ।

¶ ते सं० १. ८. ६. ३ व्यप्येव मेव ।

पञ्चमदिवसे कर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते — × × × ॥ ५ \* ॥

[ षष्ठदिवसे कर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते † — ] “अथ श्वोभूत इति । ‘ग्रामण्यः’ ग्रामं नयतीति ग्रामणीः, वैश्यानां महत्तरः तस्य ‘गृहान्’ । मरुतां सप्तगणात्मकत्वात् तद्देवत्वहविषः सप्तसु कपालेषु अपणं युक्तं मित्याह — “सप्तकपाल मिति । ग्रामणी-गृहे मारुतकरणं सुभयोर्वैश्यत्वनिबन्धनकृतं मित्याह — “विशो वा इति । ‘विशः’ प्रजाः देवानां मिति शेषः ॥

मारुतस्य दक्षिणां विधत्ते — “तस्य पृषन्निति ‡ । ‘पृषन्’ विन्दुमान्, श्वेतरक्तकृष्णविन्दुयुत इत्यर्थः । पृषत्त्वं प्रशंसति — “भूमा वा इति । ‘पृषतः’ — इति षष्ठान्तं गोविशेषणम् । पृषतो गौर्यदस्ति एतद् रूपाणां भूमा इति पदयोजना । तादृशे गवि नानाविधवर्णानां सङ्गावात् रूपबाहुल्यं मित्यर्थः । ७ भूमान् मेवावलम्ब्य विचित्रवर्णस्य गोर्मारुतहविर्योग्यता माह — “विशो वा इति । “भूमो वा इति । भूमा उ इति । भूमरूपैव खलु वैश्यजातिः ॥ ६ ॥

सप्तमदिवसकर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते — “अथ श्वोभूत इति § ।

\* मत्स्यपुराणानां चतुर्थी भाष्यपुस्तकानां मेकतमेऽपि इत उत्तरत्र पाठाः पञ्चमकाण्डोऽप्यन्यो नावलोक्यते; लिपिकरप्रमाद एवात्र हेतुः स्यात् ।

† का० श्रौ० सू० १५. १. ८ सूत्रे षष्ठदिवसे ग्रामण्यो विहित इतीहेषावतराणिका पूर्वपूर्ववत्प्रत्यया सम्भाव्यते; आदर्शेषु तु नास्ति ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ३. २२ । ‘पृषन् = विचित्रो गौः षष्ठे’ — इति च तत्र कर्कः । ते० सं० १. ८. ६. ७ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ३. ६ ।

“क्षत्तुर्गृहानिति । क्षत्ता नाम यष्टिहस्तोऽन्तःपुराध्वजः , सर्वेषां नियन्ता , प्रतिहारापरपर्यायः \* । ‘सावितं’ सवित्-देवत्वम् । क्षत्तुः सवितुश्च प्रसवितृत्वं साधारणो धर्म इत्याह—  
“सविता वै देवाना मिति ॥

दक्षिणां विधत्ते— “तस्य श्वेत इति । ‘श्वेतः’ † शुक्ल-वर्णः ‘अनङ्गान्’ ‡ । श्वेतस्यानङ्गः सवित्सम्बन्ध माह—  
“एष वा इति । ‘यः’ ‘एषः’ सूर्यः ‘तपति’, ‘एषः’ ‘वे’ खलु ‘सविता’, स च सूर्यः , ‘एति’ प्रकर्षप्रकाशादिना जगन्निर्वाहं कुर्वन् सर्वदा सञ्चरति ; ‘अनङ्गान्’ अपि शकट-रथवहनादौ ‘युक्तः’ सन् सर्वत्र गच्छति , अतो गन्तृत्व सुभयोः सम्बन्धहेतुः साधारणो धर्मः । श्वेतत्व मनूय स्तीति— यच्छेत इति । ‘एषः’ सूर्यात्मकः सविता ‘उद्यन्’ उदयन् ‘अस्तं यन् च’ उदयास्तकालेषु ‘श्येतः’ शुक्लो वर्णः ‘इव हि भवति’ ॥ ७ ॥

अष्टमदिवसकर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते— “अथ श्लोभूत इति । “सङ्गृहीतुर्गृहानिति § । सङ्गृहीता नाम रथयोजयिता । ‘आश्विनम्’ अश्विदेवत्वम् । सङ्गृहीतृगृहे आश्विनहविषो निर्वापे कारण माह— “सयोनी इति । ‘हि’ यस्मात् ‘सव्यष्टु-सारथी’ सव्यष्टुपदेन सङ्गृहीतोच्यते , स च सारथिश्च ‘सयोनी’ समान-स्थानी , एवम् ‘अश्विनी’ अपि ‘सयोनी’ सहोत्पन्नौ । ती

\* ‘मन्त्रीत्येके । मन्त्री दूतो वा । क्षत्रियायां शूद्राज्यातः क्षत्ता’—इत्यादिः कातीयट्टतिग्रन्थः ।

† अत्र सर्वत्रैव श्येतेति मूलपाठः श्रुतिति भाष्यस्येति ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ३. २३ । ते० सं० १. ८. ६. ८ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ३. १० । ते० सं० १. ८. ६. ६ ।

द्विविधौ 'समानम्' एकं 'रथम्' 'अधितिष्ठतः' ; "युवं कवी षः पर्यश्विना रथम्"—इति श्रवणात् \* ॥

आश्विनस्य हविषो योग्यदक्षिणां विधत्ते— "तस्य यमाविति । यमौ सहैवैकस्या मातुर्गर्भादुत्पन्नौ † । यमयोरश्विनामाय माह— "तौ हि सयोनी इति । यमयोरलाभे पञ्चान्तर माह— "यदि यमाविति । 'अनूचीनगर्भौ' अनुक्रमेण पीर्वापर्येण जातगर्भौ । तयोरपि समानयोनित्वं दर्शयति— "ता उ ह्रीति । यौ क्रमेणोत्पन्नौ 'तौ उ अपि हि' 'समानयोनी' मध्ये गर्भान्तरेणाव्यवहितत्वात् ‡ ॥ ८ ॥

नवमदिवसकर्त्तव्या मिष्टिं विधत्ते— "अथ श्वोभूत इति । "भागदुघस्य गृह्णानिति § । यो राज्ञः प्राप्य ॥ षष्ठं भागं प्रजाभ्यो गृहीत्वा राज्ञे दोग्धिं प्रयच्छति , स भागदुघः ¶ । "पूषा वा इति । 'पूषा' नाम मार्गसंरक्षको देवः , 'देवानां' 'भागदुघः' भागं दोग्धिः ; स हि यजमानदत्तानि हवींषि मार्गे रक्षोभ्यः संरक्ष्य तान् \*\* देवान् गमयतीत्यर्थः †† ॥

पौष्णः षरुयागे श्यामवर्णं गां दक्षिणां विधत्ते— "तस्य

\* ऋ० सं० १०. ४०. ६ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ३. २४ । 'यमलजौ द्वौ गावौ'—इति कर्कः ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ३. २५ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ३. ११ ।

॥ 'प्राप्तं'—इति च , ज ।

¶ 'भागदुघो भोजयिता । परिवेष्टा , भागं मंशं दोग्धीति'—इति च का० दृ० ।

\*\* 'तांस्तान्'—इति ज ।

†† इहैव पुरस्तात् २. ५. ८ (१५४८० ८पं) द्रष्टव्यम् ।

श्याम इति \* । श्यामत्वस्तावक मतिदिशति— “तस्यासा-  
विति । ‘बन्धुः’ वाक्यशेषः । कः पुनरसाविति त माह—  
“यो ऽसौ त्रिषंयुक्तेष्विति । त्रिषंयुक्तानि उक्तानि तत्र  
द्वितीये, पौष्णचरोर्दक्षिणात्वेन विहितस्य गोः श्यामत्वस्तावकः ;  
“स हि पौष्णो यच्छ्यामो हे वै श्यामस्य रूपे इत्यादिः †  
यो वाक्यशेषः, सोऽत्रापि समान इत्यर्थः ॥ ८ ॥

यजमानगृहे कर्त्तव्यं दशमं रत्नहविर्विधर्त्त — “अथ श्रो-  
भूत इति ‡ । ‘अन्नावापः नाम अन्नाणां जेता, अन्नगोप्ता  
वा द्यूतकारः ; ‘गोविकर्त्तः’ सृगयासहायभूतो गो-हिंसको  
व्याधः ; तयोरुभयोर्गृहेभ्यो ‘गवीधुकाः’ § आरण्यगोधूमान्  
‘सम्भृत्य’ तैः रुद्रदेवत्वं चरुं ‘सूयमानस्य’ यजमानस्य ‘गृहे’  
निर्वपेत् ॥ । उभयोर्गृहेभ्यो गवीधुकानां युगपत् सम्भरणं  
प्रशंसति— “ते वा इति । अन्नावाप-गोविकर्त्त रूपयोर्द्वयो  
सतोरनयोरैकत्रकरणं सम्पदेतुरित्यर्थः । ‘सम्पदः कामाय  
समृद्ध्याभिलाषसिद्ध्यर्थं मिति । अन्नावाप-गोविकर्त्तसम्भृतेरेवा  
रण्यगोधूमैः रौद्रस्वरः कर्त्तव्य इत्यत्रोपपत्ति माह— “यां व

\* का० श्रौ० सू० १५. ३. ११ । तै० सं० १. ८. ६. १० ।

† इहैव पुरस्तात् २. ५. ८ ( ए० १५४ १२पं० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ तै० सं० १. ८. ६. ११ ।

§ ‘गवेधुकाः’—इति मूलपाठः ।

॥ ‘द्यूतजारकः’—इति, ‘द्यूताध्यक्षः’—इति च, एवं ‘गोविकर्त्त  
कर्धुकः अथवा गोहिंसको व्याधः’—इति च, तथा ‘गवेधुकाव्रीहि  
मध्ये लणविशेषे शृङ्गाकाराणि गोधूमप्रायाणि फलानि कसेया-लोक  
प्रमिद्वानि’—इति चेतत् सर्वं का० श्रौ० १५. ३. १२ सूत्रवृत्त्यादिषु

इमा मिति । ‘सभायां’ सभास्थले द्यूतस्थाने ‘याम् इमाम्’  
पणत्वेन कृतां गां ‘घ्नन्ति’ कितवाः \* । अत एव चतुर्थाध्याये  
आन्नास्यते — “एतेष्वन्नेष्वहं गां दीव्यध्वं मिति”—इति † ।  
तत्र सूत्रम्— “गां मस्यानीयं घ्नन्ति”—इति ‡ । तत्र ताम्  
‘एतां’ रुद्रः अभिमन्यते ; क्लूरकर्मत्वात् । स तस्य रुद्रः  
परम्परया § अधिदेवनात्मकः ॥ इत्याह— “अग्निर्वा इति ।  
अग्निरेव खलु रोदनाद्गुह्यनामा सम्पन्नः । अतएव तैत्तिरीयके  
अग्निं प्रस्तुत्यान्नातम्— “सोऽरोदीदु यदरोदीत् तद्गुह्यस्य रुद्र-  
त्वम्”—इति ¶ । स च ‘अग्निः’ ‘अधिदेवनं’ द्यूताधिकरणं  
स्थानम्, अधिदेवनात्मकस्थानेः अन्नावापाङ्गाराः ‘त मेव’  
अधिदेवनात्मकं रुद्रम् ‘एतेन’ अन्नावापगृहसम्भृतगवीधुक-  
निध्वद्गविषा ‘प्रीणाति’ तर्पयति । “तस्य ह वेत्यादि० । ‘यो  
राजसूयेन यजते’, ‘यो वा’ ‘एतत्’ एतं राजसूयप्रयोगं ‘वेद’,  
‘तस्य गृहेषु’ ‘अनुमता’ अर्ध्वर्युप्रभृतिभिरनुज्ञाता सती ‘गौः  
हन्यते’ गोविकर्त्तृत्वेन हिंस्यते, अतो गोविकर्त्तृगृहादानीतगवी-  
धुका हननाभिमानिनो रुद्रस्य हविष्टे योग्या इत्यर्थः ॥

तस्य रौद्रहविषो दक्षिणां विधत्ते— “तस्य हिरूप इति \*\* ।  
‘श्रितिबाहुः’ श्वेतबाहुः ‘वा’ भवेत्, श्वेतवालो ‘वा’ ; बाह्वौ

\* ४. ५. २३ द्रष्टव्यम् ।

† उपरिष्ठात् ४. ४. २३ द्रष्टव्यम् “गां दीव्यध्वं मित्याह”—इति च  
का० श्रौ० सू० १५. ७. १७ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ७. २० ।

§ ‘परम्परा’—इति च, ज । ॥ ‘अधिदेवतात्मक’—इति च ।

¶ ते० सं० १. ५. १. २ । \*\* ते० सं० १. ८. ६. ११ ।



वाले वा श्वेतत्वम्, सर्वाङ्गे क्षणवर्ण इति द्विरूपत्वम् । दक्षिणा-  
न्तरं विधत्ते— “असिरिति । ‘नखरो’ निःकोषः ‘असिः’  
क्षपाणः । ‘वालदान्ना रोमस्त्रजा ‘प्रबद्धम्’ ‘अक्षावपनं’ पात्रम् ;  
अक्षा उष्यन्ते अस्त्रिन्निति ‘अक्षावपनम्’ अक्षस्थानावपनं पात्रम् ।  
एवं ग्रीः, असिः, अक्षावपन मिति त्रीण्यपि समुच्चित्य  
दक्षिणेत्यर्थः । तथैव कात्यायनः— “त्रिदक्षिणो रौद्रः, शिति-  
बाहुशितिवालयो रन्ध्रतरः, असिर्नखरो, वालदामबद्ध मक्षा-  
वपनम्”—इति \* । किमर्थं नखरोमाक्षपात्रद्वयं दक्षिणात्वेनो-  
च्यते ? इति । तत्राह— “एतदु हीति । ‘तयोः’ अक्षावाप-  
गोविकर्त्तृयोः तद् द्वयं स्वं ‘भवति’ एकैकस्यैकैक मस्ति ;  
अतोऽत्र तदुभयसम्बन्धात् तद् द्वयं दक्षिणात्वेन प्रयुज्यत  
इत्यर्थः” ॥ १० ॥

दूतगृहे कर्त्तव्य माज्यहोमरूप मेकादशं रत्नहविर्विधत्ते—  
“अथेति । पालागलो नाम दूतः । तथैव कात्यायनः पाला-  
गलस्थाने दूतशब्दं प्रयुक्तवान्— “चतुर्गृहीतं जुषाणो ऽध्वान्यस्र  
वेत्त्विति दूतस्य”—इति † । आपस्तम्बेन तु यूपविशेषपरत्वेन  
व्याख्यातः— “अध्वने स्वाहेति पालागलस्य गृहे जुहोत्यनृत-  
दूतं ब्रुवते”—इति ‡ । ‘पालागलम् अनृतवादिनं दूत मिति  
ब्रुवते आचार्या इत्यर्थः । अध्वदेवत्यश्चतुर्गृहीताज्यहोम एवैका-  
दशं हविरित्यर्थः ॥

मन्त्रस्यार्थः ;— ‘आज्यं जुषाणः’ आज्यभागं सेवमानः

\* का० श्रौ० सू० १५. ३. २७-३० ।

† का० श्रौ० सू० १५. ३. १३ ।

‡ आप० श्रौ० सू० १८. १०. २५ । तत्र ‘पालागलस्य’—इति च पाठः ।

‘अध्वा’ देवता ‘आज्यस्य वेतु’ आज्यं पिबतु । ‘स्वाहा’ सुहुत  
मस्तु ‘इति’ । दूतगृहेऽध्वदेवत्यहोमस्य उपपत्ति माह— “प्रहेय  
इति । ‘पालागलः’ दूतः ‘प्रहेयः’ राज्ञा प्रेष्यः, प्रस्थाप-  
नीयः । प्रेष्यत्व मेवाह— “अध्वान मिति । प्रहितः प्रेषितः  
प्रस्थापितः सन् अध्वानं गच्छति, अतोऽध्वसम्बन्धात् तद्गृहे  
होमः कार्य इत्यर्थः ॥

तस्य होमस्य दक्षिणां विधत्ते— “तस्य दक्षिणेति । ‘उष्ण-  
वेष्टितम्’ ‘उष्ण’-शब्देन \* स्नाय्वभिधीयते, उच्चविकारैः स्नायुभिः  
‘वेष्टितं’ सूतं ‘धनुः’, ‘चर्ममयाः वाणवन्तः’ इषुधयः, ‘लोहितः’  
लोहितवर्णः ‘उष्णीषः’ शिरोवेष्टनम् । एतत् सर्वं दक्षिणे-  
त्याह— “एतद् हीति । एतावदेव हि ‘तस्य’ दूतस्य स्वं  
‘भवति’ † ॥ ११ ॥

एतेषां रत्नहविषाम् एकादश सङ्ख्यां प्रशंसति— “तानि वा  
एतानीति । सङ्ख्यासाम्यात् त्रिष्टुप्त्वम् । त्रिष्टुभो वीर्यत्व  
मिन्द्रेण सहोत्पत्तेरित्यवगन्तव्यम् । ‘एतत्’ एतेन रत्नहविरनुष्ठा-  
नेन यजमाने वीर्यं मेव सम्पादितवान् भवति । प्रकारान्त-  
रेण तदेव प्रशंसति— “तद्यदिति । यथोक्तसेनानीपुरोहित-  
महिष्यादयो रत्निनः; तदभिमानिदेवतानां प्रियायै तानि  
हवींषि; अतस्तद्गृहेष्वेव कर्त्ता गत्वा निर्वपेत् । एतैः

\* ‘उष्णशब्देन’—इति ज । ‘पुच्छं वेष्टितम्’—इति का० औ० छ० १५.  
३. ३१ । ‘पुच्छशब्देन स्नाय्वभिधीयते, अजगरचर्मैत्यपरे’—इति ककैः ।  
‘पुच्छवेष्टितं कोशकारवेष्टितम् ( कोशकारः = धनुषः कोठीरचयिता ) ;  
मश्रुपुच्छमिति मिति केचित्—इति का० औ० छ० वृत्तान्तरम् ।

† का० औ० छ० १५. ३. ३१, ३२, ३३ ।

‘रत्निनां’ हविर्मिर्यागेन सेनानी प्रभृतीनां रत्नानां स्वयं ‘राजा’ भवेत् । ‘तभ्यः’ तत्सङ्गार्थम् ‘पतेन’ रत्नहविरनुष्ठानेन ‘सूयते’ प्रेर्यते ॥ १२ ॥

परिवृत्तिगृहे कर्त्तव्यं नैऋतहविर्विधत्ते— “अथ श्वो भूत इति \* । ‘परिवृत्ति’-शब्दस्यार्थं माह— “या वा इति । ‘अपुत्रा’ राजपत्नी केवलं भोगार्था परिवृत्तिः † । हविषो द्रव्यं विदधच्चोदकप्राप्तं भवघातं निषेधति— “स कृष्णानां मिति । नखैर्निभिन्नानां कृष्णव्रीहीणां तण्डुलैः नैऋतं चरुं निर्वपेत् । हवनं समन्त्रकं विधत्ते— “स जुहोतीति । जुहोतिचोदितत्वात् स्वाहाकारप्रदानत्वाच्चायं होमो दर्विहोमः । कात्यायनेन तु पक्षान्तरं सूत्रितम्— “दर्विहोम एष ते निऋत इति ‡ जुहोति, वषट्कृते वा”—इति § । परिवृत्तिगृहे नैऋत-चर्वनुष्ठानस्योपपत्तिं माह— “या वा इति । अपुत्रा स्त्री न होमेन शमितवान् भवति ॥

तस्य दक्षिणां विधत्ते— “तस्य दक्षिणा कृष्णा गौरिति । ‘परिभूर्णी’ । “सुच्छा मोहसमुच्छाययोः” ॥ । अस्मात् क्तिनि ‘राक्षोपः’-इति ¶ कृष्य लोपे, निष्ठा-नत्वे च कृते रूपम् । परिभूटा ( अक्षमा \*\* ) । ‘पर्यारिणी’ परित आर्त्तिमती,

\* ते० सं० १. द. ६. ३ ।

† ‘परिवृत्ता परिगता निऋत्या ईकारश्चान्दसः, पुत्रादिभिः परिवृत्ता’-इति का० श्रौ० १५. ३. १४ सू० टी० देव० ।

‡ वा० सं० ६. ३५. १ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ३. १४. १५ । ॥ भा० प० ३० धा० ।

¶ पा० सू० ६. ४. २१ । \*\* इदं अधिकं पदं ज-पुस्तके ।

व्याधिगृहीता केन चिदङ्गेन अपहता वा 'कृष्णा गौः , दक्षिणा' ।  
अत्र सूत्रम्— “कृष्णापरिमूर्ख्यपहतोत्तमस्य”—इति \* ॥

तेत्तिरीयके तु परिहृत्तिगृहकत्तव्यनैर्ऋतचरोः कृष्णा भग्न-  
शृङ्गा गौर्दक्षिणात्वेन श्रुता— “नैऋतं चरुं परिहृत्यै गृहे  
कृष्णानां व्रीहीणां नखनिर्भिन्नां कृष्णा कूटा दक्षिणा”—  
इति † । ‘कूटा’ भग्नशृङ्गा इति हि व्याख्यातम् । दक्षिणा-  
भूताया गौर्नैऋतचरुयोग्यता माह— “सा ह्यपीति । जीर्णा  
निहृतप्रस्रवा गौः निऋतिगृहीता भवति ॥

इष्ट्यन्ते किञ्चित् कर्त्तव्यं विधत्ते— “ता माहेति । ‘तां’  
परिहृतिम् ‘आह’ वदेत् । वाक्यस्याय मर्थः— ‘अथ’ इदा-  
नीम् इतः परं ‘मे’ मम ‘ईशायां’ स्वाम्ये ‘मा वात्सीः’  
मङ्गोऽस्या मा भूरित्यर्थः ‡ । वचनं स्तौति—“तदिति । निऋति-  
गृहीतां परिहृतिं प्रति एतेन वचनेन ‘पाप्मानम् एव’ अपा-  
दते’ अपसारितवान् भवतीति ॥ १३ ॥ ५ [ ३. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ३. ३४ ।

† ते० सं० १. ८. ६. ३ ।

‡ “परिहृत्तिश्चाह मा मेऽद्विशायां वात्सीरिति”—इति का० श्रौ०  
सू० १५. ३. ३५ । ‘तत्तत्सासौ ब्राह्मणग्रहं प्रविशति तत्र राक्षो न  
स्वाम्य मिति’—इति तत्र कर्त्तः ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

उपरिष्ठाद्रुत्तानां सौमारौद्रेण यजते । स  
श्वेतायै श्वेतवत्सायै पयसि शृतो भवति तद्य-  
दुपरिष्ठाद्रुत्तानां सौमारौद्रेण यजते \* ॥ १ ॥

स्वर्भानुर्ह वा ऽआसुरः † । मूर्धं तमसा ब्विव्याध  
स तमसा ब्विद्धो न व्यरोचत तस्य सोमारुद्रा-  
वैवैतत्तमो ऽपहतां स एषो ऽपहतपाप्मा तपति  
तथो ऽएवैष एतत्तमः प्रविशत्येतं वा तमः  
प्रविशति यदयन्नियान् यज्ञेन प्रसजत्ययन्नियान्वा  
ऽएतद्यज्ञेन प्रसजति शूद्रांस्त्वयांस्त्वत् तस्य सोमा-  
रुद्रावैवैतत्तमो ऽपहतः सो ऽपहतपाप्मैव दीक्षते  
तद्यक्वेतायै श्वेतवत्सायै पयसि शृतो भवति  
कृष्णं वै तमस्तत्तमो ऽपहन्ति तस्यैषैव श्वेता  
श्वेतवत्सा दक्षिणा ॥ २ ॥

स हैतेनापि यजेत । यो ऽलं युशसे सन्न  
युशो भवति यो वा ऽअनूचानः सो ऽलं युशसे  
सन्न युशो भवति यो न युशो भवति स

\* 'यजते'—इति ग । 'यजते'—इति घ ।

† 'आसुरः'—इति ग ।

तुमसा वै स तत् प्रावृतो भवति तुल्य सोमा-  
रुद्राविवैततमो ऽपहतः सो ऽपहतपाप्मा ज्योतिरेव  
श्रिया यथसा भवति \* ॥ ३ ॥

अथ मैत्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्व्वपति । हलति  
वा ऽएष यो यज्ञपथादेत्येति वा ऽएष यज्ञ-  
पथाद्यदयज्ञियान्यज्ञेन प्रसजत्ययज्ञियान्वा ऽएतद्य-  
ज्ञेन प्रसजति शूद्रांस्त्वद्यांस्त्वन्मित्रावृहस्पती वै  
यज्ञपथो ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्म हि यज्ञो ब्रह्म  
हि वृहस्पतिर्ब्रह्म हि यज्ञस्तत् पुनर्यज्ञपथं मपि-  
पद्यते सो ऽपि पद्यैव यज्ञपथं दीक्षते तस्मान्  
मैत्राबार्हस्पत्यं चरुं निर्व्वपति ॥ ४ ॥

तुल्यावृत् † । या स्वयम्प्रशीर्णाश्वत्थी शाखा  
प्राची वोदीची वा भवति तुल्यै मैत्रं पात्रं  
करोति व्वरुण्या वा ऽएषा या परशुवृक्षणाथैषा  
मैत्री या स्वयम्प्रशीर्णा तस्मात् स्वयम्प्रशीर्णायै  
शाखायै मैत्रं पात्रं करोति ‡ ॥ ५ ॥

अथातुच्य दधि । व्विनाट ऽआसिच्य रुथं

\* 'भवति'—इति क ।

† 'वृत्'—इति ग । 'वृत्'—इति घ । ‡ 'करोति'—इति क ।

युक्त्वाबुध्य देदीयित वा ऽआह तदात् स्वय मुदितं  
नवनीतं तदाज्यं भवति व्वरुण्यं वा ऽएतद्यन्  
मथित मयैतन् मैत्रं यत् स्वय मुदितं तस्मात् स्वय  
मुदित माज्यं भवति ॥ ६ ॥

द्वेधा तण्डुलान् कुर्वन्ति । स ये ऽणीयाः-  
सः परिभिन्नास्ते बार्हस्पत्या अथ ये स्थवीयाः  
सो ऽपरिभिन्नास्ते मैत्रा न वै मित्रः कं च न  
हिनस्ति न मित्रं कश्चन हिनस्ति नैनं कुशो  
न कण्टको विभिन्नन्ति नास्य व्रणश्चनास्ति सर्वस्य  
ह्येव मित्रो मित्रम् \* ॥ ७ ॥

अथ बार्हस्पत्यं चरु मधिश्रयति । तं मैत्रेण  
पात्रेणापिदधाति तदाज्य मानयति तत्तण्डुलाना-  
वपति स एष ऊष्माणैव श्रप्यते व्वरुण्यो वा  
ऽएष यो ऽग्निना शृतो ऽथैष मैत्रो य ऊष्मणा  
शृतस्तस्मादूष्मणा शृतो भवति तयोरुभयोरवदुन्नाह  
मित्रावृहस्पतिभ्या मनुब्रूहीत्याश्राव्याह मित्रावृह-  
स्पती यजेति व्वषट्कते जुहोति ॥ ८ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणम् [३.२.] ॥

\* 'मित्रम्'—इति ग । 'मित्रम्'—इति घ ।

अथ सौमारौद्रयागं विधत्ते — ‘उपरिष्ठाद्रुद्राना मिति \* ।  
रत्नहविषा सुपरि स्वष्ट्यै सौमारौद्रयागः कर्त्तव्यः । स च कः ?  
‘स्वेतवक्त्रायै प्रवेतायै’ । उभयत्र षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । शुक्लवक्त्रायाः  
शुक्लाया गोः ‘पयसि’ ‘शृतः’ पक्वो ‘भवति’ ॥ १ ॥

रत्नहविर्भ्यो ऽनन्तरं विहितं सौमारौद्रयाग मनुष्याख्यायि-  
कया प्रशंसति— “स्वर्भानुर्हेति । ‘आसुरः’ असुरपुत्रः ‘स्वर्भानुः’  
‘सूर्य’ ‘तमसा’ ‘विव्याध’ आच्छादितवान् । ‘सः’ सूर्यः ‘तमसा’  
‘विद्धः’ आच्छादितः ‘न व्यरोचत’ नातिप्रकाशवान् जातः ।  
‘तस्य’ ‘तत् तमः’ ‘सोमारुद्रौ एव’ ‘अपाहताम्’ अपहत-  
वन्तौ । तत आरभ्य सूर्यो निवृत्ततमस्कः सन् ‘तपति’ नभसि  
दीप्यते । इदानीं तदनुष्ठातुरपि तमसाच्छादन माह— “तथो  
एवैष इति । ‘अयज्ञियान्’ अयज्ञार्हान् सेनान्यादीन् ‘यज्ञेन’  
‘प्रसजति’ प्रसक्तान् तत्तद्यागानुष्ठानेन सम्बद्धान् करोतीति  
‘यत्’ ‘एतत्’ एतेन ‘एषः’ अनुष्ठाता राजन्यः ‘तथा उ’ तथैव  
सूर्यवदेव ‘तमः प्रविशति’ । ‘तमः वा’ कर्त्तृ ‘एतं’ † सुन्वन्तं  
‘प्रविशति’ । सेनान्यादीना मयज्ञीयत्वं प्रसिद्धं मित्वाह— “अय-  
ज्ञियान् वा इति । ता मेव प्रसिद्धिं दर्शयति— “शूद्रानिति ।  
‘त्वत्’—इति एकपर्यायः । एकदा ‘शूद्रान्’ सेनान्यादीन् ,  
‘त्वत्’ एकदा ‘यान्’ कांस्येन गोविकर्त्तादीन् हीनजातीनपि  
‘यज्ञे’ ‘प्रसजति’ । तेन अयज्ञियसम्बन्धेन तमः प्रविशतीति  
अतः ‘तस्य’ यष्टुः तथाविधं तमः ‘सोमारुद्रौ एव’ ‘एतत्’  
एतेन चरुणा प्रीणीतो ‘अपहतः’ विनाशयतः । ततः पाप-

\* का० औ० सू० १५. ३. ३६ । ते० सं० १. ८. ६. १४ ।

† ‘एनं’—इति च, ज ।



लेशासंस्पृष्टः सन् 'दीक्षते' दीक्षाहीनो भवतीत्यर्थः । श्वेतापयसि  
अपयसं प्रशंसति—“तद्यदिति । ‘तद्’ ‘यत्’ यदि, ‘तमो नाम  
क्षणं’, श्वेतापयसायाः श्वेतायाः शुक्लवर्णे ‘पयसि’ अपयसेन  
क्षणरूपं तमः अपसारितवान् भवतीत्यर्थः ॥

यस्याः पयसि चरुः पक्कः, ता मेव दक्षिणात्वेन विधत्ते  
—“तस्यैषैवेति \* ॥ २ ॥

( प्रसङ्गात् † ) फलान्तरायास्य होमस्य बाह्यप्रयोगं दर्श-  
यति—“स हैतेनापीति । ‘अपिः’ भिन्नक्रमः । ‘सोऽपि’  
‘एतेन’ सोमारीद्रेण चरुणा ‘यजेत’ । स इत्युक्तं क इत्याह ‡  
—‘यः’ यज्ञियः पुरुषः ‘यशसे’ यशसां प्राप्तये ‘अलं सन्’  
समर्थो योग्यो भवन्नपि ‘अयशः’ कीर्त्तिरहितः ‘भवति’ । यच्छ-  
ब्दार्थं विशिनष्टि—“यो वा अनुचान इति । साङ्गवेदाध्यायी  
‘अनुचानः’, ‘सः’ ‘यशसे’ ‘अलं’ योग्यो भवन्नपि ‘अयशः’  
यशोरहितो ‘भवति’ । ‘यः’ तु यशोरहितः, ‘सः’ ‘तमसा’  
‘प्रावृत्तः’, ‘तस्य’ ‘एतत्’ एतेन हविषा ‘सोमारुद्रौ एव’ कीर्त्त्य-  
भावरूपं ‘तमः’ ‘अपहतः’ § तं कीर्त्तिमन्तं कुरुत इत्यर्थः ;  
‘सः’ यजमानः अयशोरूपतमसा वियुक्तः सन्, ज्योतिरात्मको  
भूत्वा ‘श्रिया’ सम्पदा ‘यशसा’ चोपलक्षितो भवति ॥ ३ ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ३. ३७ ।

† नास्त्येतत् पदं ज-पुस्तकादन्यत्र ।

‡ ‘सः कः?’—इत्येव ज ।

§ ‘अपहृत्य’—इति ज ।

॥ ‘अनुचानोऽप्ययशो यजेत’—इति का० श्रौ० सू० १५. ३. ३८ ।

इत उत्तरन्विततत्र ३६ सूत्रम्—‘किलासा बाधन्तु’—इति । ‘किलास-  
शब्देन बाधविशेष उच्यते, तद्बाध मिच्छंश्च यजते । तु-शब्द-  
सार्थ’—इति तदुक्तिः ।

विधत्ते—“अथ मैत्रेति । ‘मैत्रावार्हस्यत्वं’ मित्रावृहस्पतिदेवत्वं ‘वरु’ निर्वपेत् \* । देवतासम्बन्धं प्रशंसति— “हलति वा इति । अयश्चियानां सेनान्यादीनां यज्ञे प्रसन्नान मेव यज्ञपथादपगमन मित्यर्थः । मित्रावृहस्पत्योर्यज्ञपथात्मकत्वं निर्वक्ति— “ब्रह्म हि मित्र इति । ‘ब्रह्म’ वेदः, तदेव हि ‘यज्ञः’ ; तस्माध्यत्वात् यज्ञ एव पत्न्याः । “यज्ञपथ मिति । समासं विवक्षित्वा, तयोः परम्परया यज्ञरूपत्वोक्तिः । “तत् पुनर्यज्ञेति । ‘तत्’ तस्मात् यज्ञात्मकमित्रावृहस्पतिदेवत्वयागानुष्ठानात् पुनर्यज्ञपथं प्राप्य ‘दीक्षते’ दीक्षां कर्तुं महतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

तस्य चरोरनुष्ठानप्रकारं वक्तुं प्रतिजानीते— “तस्यावृदिति । ‘तस्य’ मैत्रावार्हस्यत्ययागस्य ‘आवृत्’ क्रिया, अनुष्ठानप्रकारो वक्ष्यत इति शेषः । ‘स्वयम्भगीर्णा’ स्वय मेव भग्ना, ‘प्राची’ प्रागायता, ‘उदीची’ उदगायता ‘वा’ या ‘आश्वत्थी’ अश्वत्थस्य ‘शाखा’ भवति, तस्याः शाखातः ‘मैत्रं’ मित्रसम्बन्धिचरुपाकारं ‘पात्रं’ कुर्यात् † । स्वयम्भगाया मैत्रत्वं व्यतिरेकपूर्वं सुपपादयति— “वरुणा वा एषेति । ‘या’ शाखा ‘परशुवृक्षा’ क्षिन्ना द्रव्येन, सा हिंसितत्वाद् ‘वरुणा’ वरुणदेवत्या ; स्वयम्भगपत्वा तु मित्रार्हा, हिंसाविरहात् ; सर्वसृष्टत्वाभित्तदेवस्य परशुच्छिन्नशाखानिर्मितं पात्र मयोग्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

मैत्रचर्वर्थं मान्यकरणं विधत्ते— “अथातचेति । पयो-विशेषस्तैत्तिरीयके श्रुतः— “श्वेतायै श्वेतवत्सायै दुग्धे स्वयं

\* का० श्रौ० सू० १५. ३. ४० । तै० सं० १. ८. ६. १३ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ३. ४१ क ।

मूर्त्तं”—इति \* । तादृशं पयः ‘आतच्य’ आतञ्जनद्रव्येण ‘दधि’ कृत्वा ‘विनाटे’ चर्ममये पात्रे दृती ‘आसिच्य’, ‘रथं’ ‘युक्ता’ अश्वैः संयोज्य, ‘आबध्य’ दधिपूर्णं विनाटं रथे सम्बध्य, ‘देदीयितवै’ रथधावनाय ‘आह’ नियुञ्जीत । दीतिर्वा गतिकर्मणो यङ्लुगन्तात् कृत्यार्थे तवैप्रत्ययः । तत्र रथधावनेन दध्नी यत् स्वयं मुदितम् मथन मन्तरेण निष्पन्नं, नवनीतं, तदेव स्वयं मेव विलीनं सत् आज्यं भवति † । आज्य-करणप्रकारस्त्वापस्तम्बेन विशद उक्तः— “श्वेतां श्वेतवत्सा मामस्त्ये दृती दुहन्ति, तत् स्वयं मूर्त्तं संयोगेन परिवहन्ति, तत् स्वयं मथितं मातपे विषजन्ति, तत् स्वयं विलीनं माज्यं भवति”—इति ‡ । स्वयमुदिताज्यस्य मितयोग्यत्वं व्यतिरेक-मुखेन दूषयति— “वरुण मिति । यन्मन्यननिष्पन्नं माज्यं तद् ‘वरुणम्’ उपद्रवकारिणी वरुणस्य योग्यम्, न तु सर्व-सुहृदो मितस्य । यत्तु उदीरितरूपं स्वयमुदितं तन्मन्यनरूपस्य हिंसनस्य विरहात् मैत्रम् ॥ ६ ॥

देवताद्वयस्य पृथक् चरोः” अपणं विधितुः तण्डुलानां द्वेधाकरणं विधत्ते— “द्वेधेति । ‘ये’ ‘अणीयांसः’ अणुतराः ‘परिभिन्नाः’ छिन्नायास्तण्डुलाः, ‘ते’ ब्रह्मस्यतिदेवत्याः कर्त्तव्याः । ‘ये’ ‘स्थवीयांसः’ स्थूलतराः ‘अपरिभिन्नाः’ अच्छिन्नायाः

\* तै० सं० १. ८. ६. १३ ।

† ‘विनाटो इतिर्मशक इति प्रसिद्धः । विनाटे दध्मासेकः सुख-बन्धनम् रथे स्थापनम् रथधावनम् आन्दोलायमानेन नवनीतं जायते, तदाज्यं चरुपाकार्यं ग्राह्यम्”—इति टीप्पनी ।

‡ आप० श्रौ० सू० १८. ११. ३—६ ।

अचूर्णीकृताः, 'ते' मित्रदेवत्याः कर्त्तव्याः \* । मैत्राणा मभि-  
 क्षत्वं प्रशंसति—“न वै मित्र इति । 'मित्रो' देवः 'कश्चन'  
 प्राणिनं 'न हिनस्ति' ; 'मित्रम्' अपि 'न कश्चन हिनस्ति' ।  
 'एनं' मित्रं 'कुशः' दर्भो वा 'कण्टकः' वा 'न भिनत्ति'  
 न विध्यति ; अत एव तस्य 'व्रणः' अपि 'नास्ति' । सर्वस्य  
 मित्रत्वादिति हेतु माह—“सर्वस्य ह्येवेति । पुंलिङ्गो मित्र-  
 शब्दो देवतावाची, नपुंसकलिङ्गस्तु सुहृदचनः ॥ ७ ॥

अपणप्रकारं विधत्ते—“अथ बार्हस्पत्य मिति । 'बार्ह-  
 स्पत्यं चरुम्' अधिश्रित्य, अग्निमध्ये स्थाप्या मधिश्रितायां  
 हृदस्पत्यर्यास्तण्डुलानोप्य, 'तं' चरुम् अश्वत्यशाखानिर्मितेन  
 'मैत्रेण पात्रेण' 'अपि'-दध्यात् † । 'तत्' तस्मिन् पात्रे  
 स्वयं सुत्पन्नम् 'आज्यम्' 'आनयति' आसिञ्चेत् । 'तत्' तत्र  
 स्थविष्ठान् अपरिभिन्नात् मैत्रान् 'तण्डुलान्' 'आ'-वपेत् । 'स  
 एषः' ‡ मैत्रचरुः “ऊष्णैव' 'अप्यते' पच्यते § । 'अग्निना'  
 'शृतः' पक्वो 'वरुणः', दाहप्रयुक्तहिंसासम्बन्धात् 'वरुणः'  
 वरुणाह्नी न मित्रार्हः । 'ऊष्मणा शृतः' तु 'मैत्रः' मित्र-  
 देवत्यो युक्तः, दोषविरहात् ।

एवं पृथक्-अपण मभिधाय देवता-प्रदाने साहित्यं विधत्ते  
 —“तयोरुभयोरिति । 'तयोरुभयोः' चर्वोर्दधिपयसोर्दाग्निकयो-  
 रिव एकैकस्माद् द्विर्द्विरवद्यन् जुह्वां सहावदानं कुर्वन् “मित्रा-

\* का० श्रौ० सू० १५. ३. ४२, ४४ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ३. ४१ ख ।

‡ 'रु एव'-इति ज ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ३. ४३ ।

बृहस्पतिभ्या मनुब्रूहि”-‘इति’ एवं संयुज्य \* अनुवाक्याप्रैषं  
ब्रूयात् ; एवं ‘यजति’ याज्याप्रैषेऽपि ‘वषट्कृते’ सहैव  
प्रक्षेपः † ॥ ८ ॥ ६ [ ३. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम् . )

स वै दीक्षते । स उपवसुथे ऽग्नीषोमीयं  
पशु मालभते तस्य व्यपया प्रचुर्याग्नीषोमीय मेका-  
दशकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति तदनु देवस्वा-  
हवींषि निरुप्यन्ते ॥ १ ॥

सवित्रे सत्यप्रसवाय । द्वादशकपालं वाष्टा-  
कपालं वा पुरोडाशं निर्व्वपति श्वाशुकानां  
ब्रीहिणां सविता वै देवानां प्रसविता सवितृ-

\* ‘संस्तुत्य’-इति ज ।

† “एकं दानम्, गौर्दक्षिणा”-इति का० श्रौ० सू० १५. ३. ४५ ।

‘स चाय मेक एव यागः मैत्राबार्हस्पत्य इति समुदायात् तद्धितोत्पत्तेः ;  
अतश्च एकं प्रदानम्, अर्द्धार्द्धिकया चावदानग्रहणम्’-इति तत्र  
कर्कोपाध्यायः ।

प्रसूतः स्त्रिया ऽइत्यथ यत् प्लाशुकानां व्रीहीणां  
क्षिप्रे मा प्रसुवानिति \* ॥ २ ॥

अथाग्नये गृहपतये । अष्टाकपालं पुरोडाशं  
निर्व्वपत्याशूनां श्रीर्व्वं गार्हपतं यावतो यावत्  
दृष्टे तदेन मग्निरेव गृहपतिर्गार्हपत् मभि परिणय-  
त्यथ यदाशूनां क्षिप्रे मा परिणयानिति † ॥ ३ ॥

अथ सोमाय व्वनस्पतये । श्यामाकं चरुं  
निर्व्वपति तदेन॑ सोम एव व्वनस्पतिरोष-  
धिभ्यः सुवत्यथ युक्क्यामाको भवत्येते वै सोम-  
स्त्रौषधीनां प्रत्यक्षतमां युक्क्यामाकास्तस्माक्क्यामाको  
भवति ‡ ॥ ४ ॥

अथ बृहस्पतये व्वाचे । नैवारं चरुं निर्व्व-  
पति तदेनं बृहस्पतिरेव व्वाचे सुवत्यथ युन्नैवारो  
भवति ब्रह्म वै बृहस्पतिरते वै ब्रह्मणा पच्यन्ते  
युन्नैवारास्तस्मान्नैवारो भवति ॥ ५ ॥

अथेन्द्राय ज्येष्ठाय । हायनानां चरुं निर्व्व-

\* 'प्रसुवानिति'—इति क । 'प्रसुवानिति'—इति ग ।

† 'परिणयानिति'—इति क । 'परिणयानिति'—इति ग ।

‡ 'भवति'—इति क । एव मिहोत्तरत्रापि ।

पति तदेन मिन्द्र एव ज्येष्ठो ज्यैष्ठा मभि परि-  
णयत्यथ युद्धायनानां भवत्यतिष्ठा वा ऽएता  
ओषधयो युद्धायना अतिष्ठो वा ऽइन्द्रस्तस्माद्वाय-  
नानां भवति ॥ ६ ॥

अथ रुद्राय पशुपतये । रौद्रं गावेधुकं  
चक्रं निर्व्वपति तदेनं रुद्र एव पशुपतिः  
पशुभ्यः सुवत्यथ युद्धावेधुको भवति व्यास्तव्यो  
वा ऽएष देवो व्यास्तव्या गवेधुकास्तस्माद्गावेधुको  
भवति ॥ ७ ॥

अथ मित्राय सत्याय । नाम्बानां चक्रं  
निर्व्वपति तदेनं मित्र एव सत्यो ब्रह्मणे सुव-  
त्यथ युन्नाम्बानां भवति व्वरुण्या वा ऽएता  
ओषधयो याः कृष्टे जायन्ते ऽयैते मैत्रा युन्नाम्बा-  
स्तस्मान्नाम्बानां भवति ॥ ८ ॥

अथ व्वरुणाय धर्मपतये । व्वरुणं यवमयं  
चक्रं निर्व्वपति तदेनं व्वरुण एव धर्मपतिर्धर्मस्य  
पतिं करोति परमता वै सा यो धर्मस्य पति-  
रसद्यो हि परमतां गच्छति त् हि धर्मं ऽउप-  
यन्ति तस्माद्वरुणाय धर्मपतये ॥ ९ ॥

अथाग्नीषोमीयेन पुरोडाशेन प्रचरति । तस्या-  
निष्ट एव खिष्टकृद् भवत्यथैतैर्हविर्भिः प्रचरति  
बुदैतैर्हविर्भिः प्रचरति \* ॥ १० ॥

अथैनं दक्षिणे बाहवभिपद्य जपति । सविता  
त्वा सवानां सुवता मग्निर्गृहपतीनां सोमो  
व्वनस्पतीनाम् । बृहस्पतिर्व्वाव ऽइन्द्रो ज्यैष्ठ्याय  
रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो व्वरुणो धर्मपती-  
नाम् ॥ ११ ॥

इमं देवाः । असपत्नं सुवध्व मित्तीमं देवा  
अभातव्यं सुवध्व मित्येवैतदाह महते चत्राय  
महते ज्यैष्ठ्यायेति नात्र तिरोहित मिवास्ति  
महते जानराज्यायेति महते जनानां † राज्याये-  
त्येवैतदाहेन्द्रस्येन्द्रियायेति व्वीर्यायेत्येवैतदाह यदा-  
हेन्द्रस्येन्द्रियायेतीम ममुष्यै ‡ पुत्र ममुष्यै पुत्र मिति  
तद्यदेवास्त्य जन्म तत एवैतदाहास्यै व्विश ऽइति  
यस्यै व्विशो राजा भवत्येष वोऽमी राजा

\* 'प्रचरति'—इति क ।

† 'जानानां'—इति ख ।

‡ 'ममुष्यै'—इति क, ख ।



सोमो ऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति तदस्मा  
 ऽद्भुदं सर्वं माद्यं करोति ब्राह्मणं मेवापोद्धरति  
 तस्माद् ब्राह्मणो ऽनाद्यः सोम राजा हि  
 भवति ॥ १२ ॥

एता ह वै देवाः \* सवृक्षेशते । तस्माद् देवस्थो  
 नाम तदेन मेता एव देवताः सुवते ताभिः सूतः  
 श्रवः सूयते ॥ १३ ॥

ता वै दिनामन्यो भवन्ति । इन्द्रं वै व्यीर्यं  
 व्यीर्यवत्यः सुवान्ता ऽद्विति तस्माद् दिनामन्यो  
 भवन्ति † ॥ १४ ॥

अथाहानये स्विष्टकृते ऽनुब्रूहीति । तद्यद्-  
 न्तरेणाहुती ऽएतत् कर्म क्रियत ऽएष वै प्रजा-  
 पतिर्य एष यज्ञस्तायते यस्मादिमाः प्रजाः प्रजाता  
 एतस्मैवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तदेनं मध्यत एवै-  
 तस्य प्रजापतेर्हृधाति मध्यतः सुवति तस्मादन्त-

\* 'देवताः'—इति क, ख ।

† 'भवन्ति'—इति क ।

रेणाहुती ऽएतत् कर्म क्रियत \* ऽआश्राव्याहान्तये  
स्विष्टकृते प्रेष्येति व्यष्टकृते जुहोति ॥ १५ ॥ ७ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके सप्तमं ब्राह्मणम् [३. ३.] ॥

एवं पवित्राख्यात् प्रथमसोमयागादनन्तरभावीनि आनुमता-  
दीनि इष्टिदर्विहोमात्मकानि संवत्सरपर्यन्त मनुष्ठेयानि कर्मा-  
ण्यनुक्रान्तानि †, अथ द्वितीयस्याभिषेचनीयाख्यस्य सोमयामस्य  
प्रयोगोऽभिधास्यते; तत्राभिषेचनीयस्य चोदकप्राप्तां दीक्षा माह—  
“स वै दीक्षत इति । तत्कालः सूत्रे दर्शितः— “फाल्गुनीपक्ष-  
यज्ञनीयेऽभिषेचनीयाय दीक्षते”—इति ‡ ।

देवसुवां हवींषि विधित्सुस्तेषा मग्नीषोमीयपशुपुरोडांशानन्तर-  
भावित्वं वक्तु माह— “स उपवसथ इति । ‘उपवसथः’ सुत्या-  
दिवसात् पूर्वं महः । अग्नीषोमीयं पशुपुरोडाशं निरूप्य, तदनु  
देवसुवां हवींषि निर्वपेत् § । सुवन्यनुजानन्तीति सुवः, देवाश्च  
ते सुवश्चेति देवसुवः, तेषां ‘देवस्वाम्’; “ओः सुपि”—इति ॥

\* ‘क्रियत’—इति क, ख ।

† पुरस्तात् २प्र० २ब्रा० २कण्ठीतः (१२१ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ३. ४६ । ‘फाल्गुन्याः पक्षेऽतीते यद् वज-  
नीयम्, तत्र दीक्षा ; शुक्लप्रतिपदीत्यर्थः’—इति तद्वृत्तिः ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ४. १—३ । “देवसुवा मेतामि हवींषि  
भवन्ति”—इत्यादि तै० ब्रा० १. ७. ४ द्रष्टव्यम् ।

॥ पा० सू० १. ४. ८३ ।

यणादेशः । प्रसवितृत्वं चैषा मान्नायते— “देवसुवा मेतान्नि हवींषि भवन्ति, एतावन्तो वै देवानां सवाः, त एवासौ सवान् प्रयच्छन्ति, त एनं सुवन्ते”—इति \* ॥ १ ॥

तत्र प्रथमं सावित्रं हविर्विधत्ते — “सवित्रे सत्यप्रसवायेति † । ‘सत्यप्रसवाय’ अमोघाभ्यनुज्ञाय ‘सवित्रे’ ‘प्राशुकानाम्’ प्रकर्षेण आशु शीघ्रं पच्यमानानां पुनःप्ररूढानां व्रीहीणाम् ‡ । रेफस्य क्कान्दसो लत्वनिर्देशः । सवितृदेवतासम्बन्धं प्रशंसति — “सवितेति । ‘सृये’ सत्वं करवाणि । प्राशुकव्रीहिसाध्यत्वं प्रशंसति— “अथ यदिति । ‘क्षिप्रे’ क्षिप्रकाले ‘मा’ मां ‘प्रसवान्’ । सवितृदेवत्याः प्राशुका व्रीहयः ; प्रसुवन्तु प्रेरयन्त्विति प्राशुकत्वम् । प्रसुवानिति, प्रपूर्वात् सुवर्तल्लेख्यङागमे सेरिकारलोपे कृते रूपम् ॥ २ ॥

द्वितीयं हविर्विधत्ते — “अथान्य इति । ‘गृहपतये’ गृहपतित्वगुणकाय ‘अग्नये’ ‘आशूनां व्रीहीणां ‘पुरोडाशं’ निर्वपेत् । “आशूना मिति § । प्राशुकाः पुनःप्ररूढा व्रीहय इत्युक्तम्, ततोऽप्यधिककाले पक्ष्मत्रये पच्यमानाः षष्टिका व्रीहय आशवः । तेषा माशुत्वं च त्रिचतुरमासनियतपरिपाकव्रीह्यपेक्षम् । गृहपतिपदं प्रशंसति — “अग्नीर्वा इति । ‘अग्नीः’ खलु ‘गार्हपतं’ गृहपतित्व मेव ; तस्माद् यजमानो ‘यावतः’ धनस्य ‘इष्टे’ ईश्वरो भवति । ‘तद्’ ‘गार्हपतं’ गृहपतिसम्बन्धि

\* ते० ब्रा० १. ७. ४ । ‘देवसुवाम्’—‘देवसुवाम्’—इति शुक्लकण्ठयोर्भेदः

† का० औ० सू० १५. ४. ५ । ते० सं० १. ८. १०. ३ ।

‡ पूर्वं क्षिप्ताः सन्तः पुनराशु प्ररोहन्तीति पुनराशुका इत्यर्थे प्राशुकाः क्कान्दम्—इति का०-टोप्यनी ।

§ का० औ० सू० १५. ४. ६ । ते० सं० १. ८. १०. १ ।

सर्वे वस्तुजातम् 'अभि' 'एनं' यजमानं गृहपतिगुणकोऽग्निः  
'परिणयान्' परिणयति प्रापयति । व्रीहीणा माशुत्वं प्रशंसति—  
“अथ यदिति । 'क्षिप्रे' क्षिप्रं 'मा' मां परिणयेयुः 'इति' अतो  
हेतोराशुभिरेव हविः कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

तृतीयं हविर्विधत्ते— “अथ सोमायेति \* । 'वनस्पतये'  
वनाना मोषधीनां पतिः वनस्पतिः । पारस्करादित्वात् सुट् ।  
तस्मै 'सोमाय' श्यामाकप्रकृतिकं 'चरु' निर्वपेत् । देवता-  
सम्बन्धं प्रशंसति— “तटेन मिति । श्यामाकानां सोमार्हत्वं  
मुपपादयति— “अथ यच्छ्यामाका इति । 'श्यामाका इति यत्',  
'एते' खलु 'मोषधीनां' मध्ये 'सोमस्य' 'प्रत्यक्षतमां' अतिशयेन  
प्रत्यक्षं रूपमित्यर्थः ॥ ४ ॥

चतुर्थं हविर्विधत्ते— “अथ बृहस्पतये इति † । 'वाचे'  
वायूपायतत्वेन नैवारचरुणा प्रीतो 'बृहस्पतिरेव' 'एनं' यजमानं  
'वाचे' 'सुवति' अनुजानाति । “अथ यन्नैवारो भवति”—इत्या-  
दिकं वाजपये व्याख्यातम् ‡ ॥ ५ ॥

पञ्चमं हविर्विधत्ते— “अथेन्द्रायेति § । ज्येष्ठत्वगुणकाये-  
न्द्राय 'हायनानां' संवत्सरपक्वानां रक्तशालीनां 'चरु' निर्वपेत् ।  
संवत्सरपक्वानां ज्येष्ठगुणकेन्द्रयोग्यत्वं मुपपादयति— “अथ यद्वाय-  
नाना मिति । 'हायनाः' संवत्सरपक्वा व्रीहय इति ॥ 'यत्'

\* का० श्रौ० सू० १५. ४. ८ । ते० सं० १. ८. १०. २ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ४. ९ । ते० सं० १. ८. १०. ४ ।

‡ पुरस्तात् ५१ ए० १५ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ४. १० । ते० सं० १. ८. १०. ५ ।

॥ पा० सू० ३. १. १४८ द्रष्टव्यम् ।

‘एताः’ ‘अतिष्ठाः’ अतीत्य तिष्ठन्त्यः ‘ओषधयः’ चिरकालेन  
पाकात् ‘इन्द्रः’ अपि ‘अतिष्ठः’ \* सर्वानतिक्रम्य स्थितः † ॥ ६ ॥

षष्ठं हविर्विधत्ते— “अथ रुद्रायेति ‡ । ‘पशुपतये’ पशु-  
पतिगुणकाय ‘रुद्राय’ । रौद्र मिति तद्धितेन विहित एष  
रुद्रसम्बन्धः, पुनः ‘पशुपतये’-इति विशेषसम्बन्धाय ‘रुद्राय’-  
इति चतुर्थी उक्ता । पशुपतिपदं प्रशंसति— “तदेन मिति ।  
‘तत्’ तेन हविषा एनं सुन्वन्तं ‘पशुपतिः रुद्र एव’ ‘पशुभ्यः’  
तदर्थं ‘सुवति’ प्रेरयति, पशुमन्तं करोतीत्यर्थः । ‘वास्तव्यः’-  
इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ७ ॥

सप्तमं हविर्विधत्ते— “अथ मित्रायेति § । ‘सत्याय’ सत्य-  
गुणकाय ‘मित्राय’ ‘नाम्बानां’ नाम्बा नाम अकृष्टपद्याः स्वय-  
ज्ज्ञाता व्रीहयः । नाम्बानां मित्रयोग्यत्वं सुपपादयति— “अथ  
यन्नाम्बानां’ मिति । कृष्टलोत्पन्नाः ‘ओषधयः’ ‘वरुणाः’  
कर्षणादिलक्षणहिंसासम्बन्धात् वरुणाह्वाः, अकृष्टपद्यास्तु तद्विर-  
हात् ‘मैत्राः’ ॥ ८ ॥

अष्टमं हविर्विधत्ते— “अथ वरुणायेति || । ‘धर्मपतये’  
धर्मपतिगुणकाय ‘वरुणाय’ ‘यवमयं चरु’ निर्वपेत् । रौद्र

\* ‘अतिष्ठाः’-इति च, ज ।

† ‘तिष्ठति’-इति ज ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ४. ११ । ‘गावेधुकश्चरुर्भवति’-इति  
१. २८ द्रष्टव्यम् । ते० सं० १. ८. १०. ६ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ४. १२ । ‘अकृष्टपद्याः’-इति । ते०  
सं० १. ८. १०. ७ ।

|| का० श्रौ० सू० १५. ४. १३ । ‘यवमयश्चरुर्भवतीति शेषः’  
-इति १. २७ द्रष्टव्यम् । ते० सं० १. ८. १०. ८ ।

मितिवद् वारुण मिति व्याख्येयम् । 'तत्' तेन 'एनं' यजमानं तादृशो 'वरुणः' 'धर्मस्य पति' कुर्यात् । 'धर्मपतित्वं प्रशंसति— "परमतेति । 'यः' पुमान् 'धर्मस्य पतिः' 'असद्' भवेत्, 'सा वै' 'परमता' परमत्वम् । तदेव विवृणोति— "यो ह्येति । 'तं' परमं 'धर्मं' 'उपयन्ति' प्राप्नुवन्ति ॥ ८ ॥

एतेषां निरुमानां हविषां प्रचरणकालं विधत्ते— "अथाग्नीषोमीयेणेति । चोदकप्राप्तेन अग्नीषोमीयपशुपुरोडाशेन प्रचर्य तदीयस्विष्टकृतः प्राक् एतैर्हविर्भिर्यजेतेत्यर्थः ॥ १० ॥

विधत्ते— "अथैन मिति । 'अथ' देवसुवां हविर्यागानन्तरं स्विष्टकृतः पूर्वम् 'एनं' यजमानं 'दक्षिणे बाहौ' 'अभिपद्य' गृहीत्वा 'जपति', अध्वर्युरिति शेषः । सूत्रम्— "उक्तमेन चरित्वा सविता त्वेत्याह यजमान बाहुं दक्षिणं गृहीत्वा"—इति\* ।

मन्त्रस्यार्थः †;— हे यजमान ! 'त्वा' त्वां 'सविता' 'सवानां' प्रसवानां स्वामित्वेन 'सुवताम्' अनुजानातु । तथा 'अग्निः' अन्येषां 'गृहपतीनाम्' ईश्वरम् अनुजानातु । 'त्वाम्'—इत्यनुषङ्गः । एव सुत्तरत्वापि त्वां सुवता मिति योज्यम् । 'वाचे', 'ज्यैष्ठ्याय' इत्यादौ तादर्थ्ये चतुर्थी । 'मित्रः सत्यः'—इत्यत्र सत्यशब्दात् चतुर्थ्यर्थे सुः, सत्यायेत्यर्थः ‡ ॥ ११ ॥

परोक्षवदुक्ता, अथ प्रत्यक्षवदाह— "इमं देवा इति § । हे 'देवाः !' सवितादयः 'इमं' यजमानम् 'असपत्नं' शत्रुरहितं

\* का० श्रौ० सू० १५. ४. १४ ।

† तत्पाठस्तु वा० सं० ६. ३६. १ ।

‡ पा० सू० ७. १. ३६ द्रष्टव्यम् ।

§ वा० सं० ६. ४०. १ ।

‘सुवध्वम्’ अनुजानीत । तथा ‘महते क्षत्राय’ अतिप्रभूताय क्षत्रियकुलाय, ‘महते ज्यैष्ठ्याय’ अप्रतिहतनियमसामर्थ्यायैत्यर्थः । ‘महते जानराज्याय’ जनसम्बन्धि यद्राज्यं तत्र सागरपर्यन्तभूमि-विषयत्वात्, महत्सर्वभूमित्वाय । ‘इन्द्रस्य’ सम्बन्धिने ‘इन्द्रियाय’ वीर्याय ‘इमम्’ एतन्नामानं यजमानम्, ‘अमुष्य’ पितुः ‘पुत्रम्’, ‘अमुष्यै’ अमुष्या मातुः पुत्रम्, सुवध्व मित्यनुषङ्गः । ‘अस्यै’ अस्याः ‘विशः’ प्रजायाः ‘राजा’, एष यजमान इत्यर्थः । प्रजा अपि सम्बोध्याः— “एष इति । ‘अमी’-इति सम्बोधन-प्रथमाबहुवचनान्तम् । अदःशब्दस्थाने जनपदनाम सम्बोधन-प्रथमाबहुवचनान्तं गृह्णीयादित्यर्थः । तत एवामी इत्यस्य स्थाने भरतपदं प्रक्षिप्य पठितं बोधायनेन— “अथैनं रत्निभ्य आवेदयति, एष वो भरतां राजा”—इति । आपस्तम्बेन तु राज-विशेषेण जनपदनामग्रहणं सुक्तम्— “अथैनं रत्निभ्य आवेदयति, एष वो भरतां राजित्येष वः कुरवो राजिति कौरव्य मेष वः पञ्चाला राजिति पाञ्चाल मेष वः कुरुपाञ्चाला राजिति वा कुरुपञ्चाल मेष वो जनता राजित्यन्यान् राज्ञः”—इति \* । कात्यायनेन त्विदं सर्वं सङ्गृह्योक्तम्— “यस्याश्च जाते राजा भवति देशस्यानवस्थितत्वात्”—इति † । हे प्रजाः ! ‘वः’ युष्माकम् एष राजा, एनं स्वामिनं यथेरितं सेवध्व मित्यर्थः । ‘ब्राह्मणानां मन्त्राकं’ ‘सोमः’ एव ‘राजा’, न तु क्षत्रिय इत्यर्थः ॥

\* आप० श्रौ० सू० १८. १२. ७ । ‘सोमो मन्त्राकं ब्राह्मणानां राजेति त्रिंश जगति’-इति च तत्र तदुत्तरमूत्रम् ( ८ ) ।

† का० श्रौ० सू० १५. ४. १७ । “ये देवा देवसुवः स्यः”—इत्यादि तै० सं० १. ८. १० द्रष्टव्यम् ।

मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याचष्टे — “इमं देवा इति \* । भ्रातृव्यः शत्रुः । “व्यन् सप्तत्रे”-इति † व्यन् प्रत्ययः । शेषं सुगमम् । यजमानस्य मातापित्रोश्च नामग्रहणस्थानं दर्शयति — “इम मसु-  
येति । इम मित्यस्यानन्तरं यजमानस्य नाम ; ‘अमुष्य’-  
‘अमुष्याः’-इत्येतयोः स्थाने तस्य मातापित्रोर्नामित्यर्थः । अत एव सूत्रम् — “नामास्य गृह्णाति मन्त्रे यथास्थानं , मातापित्रोश्च”-  
इति ‡ । मन्त्रभागस्य तात्पर्यं माह — “तदस्मा इति । ‘तत्’  
तेन, एष वो राजिति स्वामित्वप्रतिपादनेन ‘अस्मै’ राज्ञे ‘इदं’  
दृश्यमानं ‘सर्व’ जगत् ब्राह्मणव्यतिरिक्तम् ‘आद्यं’ भोग्यं करोति ।  
सोमोऽस्माक मिति मन्त्रभागस्य तात्पर्यं माह — “ब्राह्मण मेवेति ।  
यतः सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजिति ब्राह्मणजातिः सोम-  
स्वामित्वेन पृथक् कृता , तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियेषु नाद्यः ।  
‘हि’ यस्माद् ‘ब्राह्मणः’ ‘सोमराजा’ सोमो राजा यस्येति बहु-  
व्रीहिः , अतएव “राजाहस्सखिभ्यः”-इति § टच्-समासान्तो  
न कृतः । यस्मान्मन्त्रेणाध्वर्युः स्वकीयं राजानं विभज्य निर्दिष्ट-  
वान् , तस्मात्लोकोऽपि ब्राह्मणा अग्निष्टोमादियागेषु सोम मेव  
राजशब्दोदितं “सोम राजन्नेह्यवरोह मा भेः”-इत्यादिभिर्मन्त्रै-  
रुपचरन्ति ॥ ॥ १२ ॥

\* वा० सं० १०. १८. १ ।

† पा० सू० ४. १. १४५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ४. १५. १६ ।

§ पा० सू० ५. ४. ६१ ।

॥ तै० सं० १. ३. १३. २ । तत्रोपावरोहमन्त्रयोर्द्वितीय एषः ।  
ताविमौ विहितौ बोधायनेन यथा — “अथैतच्चर्मफलकयोः प्राचीनग्रीव



उक्तहविरष्टकस्य देवतानां सम्भूय नाम निर्वृत्ति—“एता  
ह वा इति । “तदेन मिति । यस्माद् ‘एताः’ देवताः ‘सर्वस्य’  
ईशयित्वाः, ‘तत्’ तस्मात् ‘एताः देवताः’ देवसूनामिकं  
सवितृप्रसूतम्, ‘एनं’ सुन्वन्तं हविः ‘सुवते’ अनुजानन्ति ; ‘ताभिः’  
देवताभिः ‘सूतः’ अनुज्ञातः सन् ‘सः’ सुत्यादिवसे ‘सूयते’ अनु-  
ज्ञायते ; देवमूहविःप्रचारस्य अग्नीषोमीयदिवसकर्त्तव्यत्वात् स  
इत्यनेन सुत्यादिनं विवक्ष्यत इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

उक्तानां देवतानां मेकैकस्य ‘सवित्रे सत्यप्रसवाय’—इत्यादि-  
विशेषणविशेष्यात्मकं नामद्वयं तद् इन्द्रात्मना प्रशंसति—“ता वै  
हिनाम्य इति । ‘सुवान्ते’—इति पञ्चमलकारान्तं पदम् । “लेटो-  
ऽडाटी”—इत्यडागमः \*, “एत ऐ”—इत्येकारादेशश्च † ॥ १४ ॥

अग्नीषोमीयपशुपुरीडाशप्रधानाहुतेरनन्तरं कर्त्तव्यं विधाय  
प्रकृतं स्विष्टकुटुम्बयागं मनुष्यदति—“अथाग्नय इति ‡ । प्रधान-

सुत्तरलोमोपसृणाति, यश्चप्रतिष्ठेति वा तूर्णं वा तस्मिन् सम्भू-  
त्वा ग्राव्यः कृत्वा इक्षिणस्य हविर्द्वात्रिंशन्त्यन्तरेषे सोमः राजान  
सुपावहरति ‘हृदै त्वा मनसे त्वेति दाभ्याम्’—इति [ आप० औ० सू०  
१२. ३. १३. ] । समास्त्रातौ चेमौ मन्त्रौ ते० १. ३. १३. १, २ ।  
परं मेनयोरेक एव व्याख्यातस्तत्रोत्तरच (६. ४. ३.) “ब्रह्मवादिनो  
वदन्ति”—इत्यादिना । उक्तश्चैतद्वाख्याने सायणाचार्येण—“सोम राज-  
मिति मन्त्र उपेक्षितः”—इति । तदिदं सर्वं विशेषतो विवेच्यम् ।

\* पा० सू० ३. ४. ६४ ।

† पा० सू० ३. ४. ६३ ।

‡ ‘अथाहति’—इति च ।

खिष्टकदाहृत्योर्मध्ये देवसूहविःप्रचारेण यज्ञरूपप्रजापतिमध्ये एव  
यजमानं निहितवान् भवतीत्यर्थः \* ॥ १५ ॥ ७ [ ३. ३. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे तृतीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति पञ्चमकाण्डे द्वितीयः प्रपाठकः † ॥

\* “पशुपुरोडाशतन्त्रं प्राधान्यात्, इतरेषां वा भूयस्वात्, खिष्ट-  
कृत्तुतेच्च”—इति का० श्रौ० सूत्रे (१५. ४. १८, १९) इह पर्या-  
लोच्ये । ‘उभयरूपा हि खिष्टकृत्तुतिः,—काण्डानां यजतिप्रैष्यः खिष्ट-  
कृत्तु, माध्यन्दिनानां प्रैष्यप्रैष्य इति’—इति चात्र कर्कः ।

† इत उत्तर मिह, ‘कण्डिकाः १०४’—इति क, ‘कण्डिकासङ्ख्या  
११४’—इति ख, ‘कण्डिकासङ्ख्या १०४’—इति ग, घ । तत्र १ब्रा० २१ क०,  
२ब्रा० १० क०, ३ब्रा० २० क०, ४ब्रा० १७ क०, ५ब्रा० १३ क०,  
६ब्रा० ८ क०, ७ब्रा० १५ क० । एतासां सङ्कलनयास्मिन् प्रपाठके  
सप्तसु ब्राह्मणेषु १०४ कण्डिकाः सम्पन्ना इति शिवम् ॥

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

तृतीयेऽध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

स वा अपः सुम्भरति । तद्यदपः सुम्भ-  
रति त्वीर्यं वा ऽआपो त्वीर्यं मेवेतद्रुस मपां  
सुम्भरति \* ॥ १ ॥

औदुम्बरे पात्रे † । अन्नं वा ऽजुर्गुदुम्बर जुर्जो  
ऽन्नाद्यस्यावरुध्यै तस्मादौदुम्बरे पात्रे ॥ २ ॥

स सारस्वतीरेव प्रथमा गृह्णाति । अपो  
देवा मधुमतीरगृह्णन्नित्यपो देवा रुसवतीरगृह्ण-  
न्नित्येवैतदाहोर्जस्वती राजस्वश्चिनाना इति रुस-  
वतीरित्येवैतदाह यदाहोर्जस्वतीरिति राजस्वश्चि-

\* 'सुम्भरति'—इति क ।

† 'पात्रे'—इति ख । 'पात्रे'—इति ग, घ ।

ताना इति याः प्रज्ञाता राजस्व इत्येवैतदाह  
 याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्नित्येताभिर्हि मित्रा-  
 वरुणावभ्यषिञ्चन्त्याभिरिन्द्र मनयन्नत्यरातीरित्येता-  
 भिर्हीन्द्रं नाष्टा रुचांस्त्यनयंस्तुभिरभिषिञ्चति  
 व्याग्वै सुरस्वती व्याचैवैन मेतदभिषिञ्चत्येता वा  
 ऽएका आपस्ता एवैतत् सुम्भरति \* ॥ ३ ॥

अथाध्वर्युः । चतुर्गृहीत माज्यं गृहीत्वापो  
 ऽभ्यवैति तद्या ऽजर्मी व्यर्द्धतः पशौ वा पुरुषे वा-  
 भ्यवैते तौ गृह्णाति ॥ ४ ॥

त यः प्राङ्मुदहति । तं गृह्णाति वृषा जर्मि-  
 रसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृषा जर्मि-  
 रसि राष्ट्रदा राष्ट्रं ममुष्मै देहीति † ॥ ५ ॥

अथ यः प्रत्यङ्मुदहति । तं गृह्णाति ‡ वृष-  
 सेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृषसेनो  
 ऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं ममुष्मै देहीति ताभिरभि-  
 षिञ्चति व्योथं वा ऽएतदपा मुदहति पशौ वा

\* 'सुम्भरति'—इति क ।

† 'देहीति'—इति क । 'देहीति'—इति ख , ग घ , ।

‡ 'गृह्णाति'—इति ख ।

पुरुषे वाभ्यवेते व्यीर्येणैवैन मेतदभिषिञ्चत्येता वा  
ऽएका आपस्ता एवैतत् सम्भरति \* ॥ ६ ॥

अथ स्रन्दमाना गृह्णाति । अर्थे तस्य राष्ट्रदा  
राष्ट्रं मे दत्त स्वाहार्थे तस्य राष्ट्रदा राष्ट्रं ममुष्मै  
दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति व्यीर्येण वा ऽएताः  
स्रन्दन्ते तस्मादेनाः स्रन्दमाना न किञ्चन प्रति-  
धारयते व्यीर्येणैवैन मेतदभिषिञ्चत्येता वा ऽएका  
आपस्ता एवैतत् सम्भरति † ॥ ७ ॥

अथ याः स्रन्दमानानां प्रतीपः स्रन्दन्ते ।  
ता गृह्णात्योजस्वती स्य राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त  
स्वाहौजस्वती स्य राष्ट्रदा राष्ट्रं ममुष्मै दत्तेति  
ताभिरभिषिञ्चति व्यीर्येण वा ऽएताः स्रन्दमा-  
नानां प्रतीपः स्रन्दन्ते व्यीर्येणैवैन मेतदभि-  
षिञ्चत्येता वा ऽएका आपस्ता एवैतत् सम्भ-  
रति ‡ ॥ ८ ॥

अथापयतीर्यह्णाति । आपः परिव्राहिणी स्य  
राष्ट्रदा [ राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिव्राहिणी स्य

\*, †, ‡ 'सम्भरति'—इति क ।

राष्ट्रदा \*] राष्ट्र ममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चत्ये-  
 तस्यै वा ऽएषापच्छिद्यैषैव पुनर्भवत्यपि ह वा  
 ऽअद्यान्यराष्ट्रीयो राष्ट्रे भवत्यप्यन्यराष्ट्रीय मवहरत  
 तयाम्मिन् भूमानं दधाति भूम्नैवैन मेतदभि-  
 षिञ्चत्येता वा ऽएका आपस्ता एवैतत् सम्भ-  
 रति † ॥ ६ ॥

अथ नदीपतिं गृह्णाति । अपां पतिरसि  
 राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां पतिरसि  
 राष्ट्रदा राष्ट्र ममुष्मै देहीति ताभिरभिषिञ्च-  
 त्यपां वा ऽएष पतिर्यन्नदीपतिं विंश मेवैन मेतत्  
 पतिं करोत्येता वा ऽएका आपस्ता एवैतत्  
 सम्भरति ‡ ॥ १० ॥

अथ निवेष्ट्यं गृह्णाति । अपां गर्भो ऽसि  
 राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहापां गर्भो ऽसि  
 राष्ट्रदा राष्ट्र ममुष्मै देहीति ताभिरभिषिञ्चति  
 गर्भं वा ऽएतदाप उपनिवेष्टन्ते विंश मेवैन

\* बन्धनीचिह्नान्तर्गतपाठो ग-पुस्तके नास्ति ।

† , ‡ 'सम्भरति'—इति क ।

मेतद् गुभं करोत्येता वा ऽएका आपस्ता एवै-  
तत् सुम्भरति \* ॥ ११ ॥

अथ यः खन्दमानानां स्थावरो ऋदो भव-  
ति । प्रत्यातापे ता गृह्णाति सूर्यत्वचस स्थ  
राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्र-  
दा राष्ट्रं समुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति  
व्वर्चसैवैन मेतदभिषिञ्चति सूर्यत्वचस मेवैन मेतत्  
करोति व्वरुण्या वा ऽएता आपो भवन्ति याः  
खन्दमानानां न खन्दन्ते व्वरुणसवो वा ऽएष  
यद्वाजसूयं तस्मादेताभिरभिषिञ्चत्येता वा ऽएका  
आपस्ता एवैतत् सुम्भरति † ॥ १२ ॥

अथ या आतपति व्वर्षन्ति । ता गृह्णाति  
सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा  
सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं समुष्मै दत्तेति  
ताभिरभिषिञ्चति व्वर्चसैवैन मेतदभिषिञ्चति  
सूर्यवर्चस मेवैन मेतत् करोति मेधा वा ऽएता  
आपो भवन्ति या आतपति व्वर्षन्त्यप्राप्ता

हीमां \* भुवन्त्युयैना गृह्णाति मेध्य मेवैन  
मेतत् करोत्येता वा ऽएका आपस्ता एवैतत्  
सुम्भरति † ॥ १३ ॥

अथ वैशन्तीर्गृह्णाति । मान्दा स्व राष्ट्रदा  
राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्व राष्ट्रदा राष्ट्र  
ममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति विश्व मेवास्मा  
ऽएतत् स्वावरा मुनपक्रमिणीं करोत्येता वा ऽएका  
आपस्ता एवैतत् सुम्भरति ‡ ॥ १४ ॥

अथ कूप्या गृह्णाति । व्रजक्षित स्व राष्ट्रदा  
राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्व राष्ट्रदा  
राष्ट्र ममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति तद्या  
इमां परेणापस्ता एवैतत् सुम्भरत्यपामु चैव  
सर्वत्वाय तस्मादंताभिरभिषिञ्चत्येता वा ऽएका  
आपस्ता एवैतत् सुम्भरति § ॥ १५ ॥

अथ प्रुष्वा गृह्णाति । व्याशा स्व राष्ट्रदा  
राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्याशा स्व राष्ट्रदा राष्ट्र

\* 'हीमा'—इति च डा०-वेवरेण दृष्टः ।

†, ‡, § 'सुम्भरति'—इति क ।



ममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चत्यन्नाद्येनैवैन मेत-  
 दभिषिञ्चत्यन्नाद्य मेवास्मिन्नेतद्दधातीदं वा ऽअसा-  
 वादित्य उद्यन्नेव यथाय मग्निर्निर्द्दहेदेव मोष-  
 धीरन्नाद्यं निर्द्दहति तदेता आपो ऽभ्यवयत्यः शम-  
 यन्ति न ह वा ऽद्रुहान्नाद्यं परिशिष्यते यदेता  
 आपो नाभ्यवेयुरन्नाद्येनैवैन मेतदभिषिञ्चत्येता वा  
 ऽएका आपस्ता एवैतत् सम्भरति \* ॥ १६ ॥

अथ मधु गृह्णाति । शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा  
 राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र  
 ममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चत्यपां चैवैन मेत-  
 दोषधीनां च रुसेनाभिषिञ्चत्येता वा एका आपस्ता  
 एवैतत् सम्भरति † ॥ १७ ॥

अथ गोर्व्विजायमानाया उल्ब्या गृह्णाति ।  
 शुक्लरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शुक्लरी  
 स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र ममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषि-  
 ञ्चति पशुभिरैवैन मेतदभिषिञ्चत्येता वा ऽएका  
 आपस्ता एवैतत् सम्भरति ‡ ॥ १८ ॥

\*, † 'सम्भरति'—इति क ।

‡ 'सम्भरति'—इति च डा०-वेबर-डट्टः पाठः ।

अथ पुरो गृह्णाति । जनभृत स्य राष्ट्रदा  
 राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्य राष्ट्रदा राष्ट्र  
 ममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति पशुभिरिवैन  
 मेतदभिषिञ्चत्येता वा ऽएका आपस्ता एवैतत्  
 सम्भरति \* ॥ १९ ॥

अथ घृतं गृह्णाति । विश्वभृत स्य राष्ट्रदा  
 राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्य राष्ट्रदा राष्ट्र  
 ममुष्मै दत्तेति ताभिरभिषिञ्चति पशूनामेवैन  
 मेतद्रसेनाभिषिञ्चत्येता वा ऽएका आपस्ता एवै-  
 तत् सम्भरति † ॥ २० ॥

अथ मरीचीः । अञ्जलिना सङ्गृह्यापि सृज-  
 त्यापः स्वराज स्य राष्ट्रदा राष्ट्र ममुष्मै दत्ते-  
 त्येता वा ऽआपः स्वराजो यन्मरीचयस्ता यत्  
 खन्दन्त ऽङ्गवान्यो ऽन्यथा एवैतच्छ्रिया ऽअतिष्ठ-  
 माना उत्तराधरा इव भवन्त्यो यन्ति स्वाराज्य  
 मेवास्मिन्नैतद्वधात्येता वा ऽएका आपस्ता एवै-  
 तत् सम्भरति ॥ २१ ॥

ता वा ऽएताः । सप्तदशापः सम्भरति सप्त-  
दशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तस्मात् सप्त-  
दशापः सम्भरति ॥ २२ ॥

षोडश ता आपो या अभिजुहोति । षोडशा-  
हुतीर्जुहोति ता द्वात्रिंशद्वयीषु न जुहोति  
सारस्वतीषु च मरीचिषु च ताश्चतुस्त्रिंशत्-  
यस्त्रिंशदै देवाः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशस्तदेनं प्रजा-  
पतिं करोति \* ॥ २३ ॥

अथ यदुत्वा हुत्वा गृह्णाति । वृजो वा  
ऽआज्यं वृज्जेणैवैतदाज्येन स्पृत्वा स्पृत्वा स्वीकृत्य  
गृह्णाति † ॥ २४ ॥

अथ यत् सारस्वतीषु न जुहोति । व्याग्वै  
सारस्वती वृज्ज आज्यं नेद्वज्जेणाज्येन व्याच ॥ हिन-  
सानीति तस्मात् सारस्वतीषु न जुहोति ‡ ॥ २५ ॥

अथ यन्मरीचिषु न जुहोति । नेदनद्वे-

\* करोति—इति क ।

† 'गृह्णाति'—इति क ।

‡ 'जुहोति'—इति क ।

वैता माहुतिं जुह्वानीति तस्मान् मुरीचिषु न  
जुहोति ॥ २६ ॥

ताः सार्द्धं मौदुम्बरे पात्रे समवनयति । मधु-  
मतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्ता मिति रुसवती रुस-  
वतीभिः पृच्यन्ता मित्येवैतदाह महि क्षत्रं क्षत्रि-  
याय व्वन्वाना इति तत्परोऽक्षं क्षत्रं यजमा-  
नायाशिष माशास्ते यदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय  
व्वन्वाना इति ॥ २७ ॥

ता अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्णां साद-  
यति । अनाधृष्टाः सीदत सहैजस इत्यनाधृष्टाः  
सीदत रक्षोभिरित्येवैतदाह सहैजस इति सु-  
व्वीर्या इत्येवैतदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधती-  
रिति तत्पत्यक्षं क्षत्रं यजमानायाशिष माशास्ते  
यदाह महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीरिति ॥ २८ ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [३. ४.] ॥

चतुर्थब्राह्मणे यजमानाभिषेकार्थं सप्तदशसङ्ख्याकानां मपां  
सम्भरणं मुच्यते । कात्यायनः कश्चिद् विशेषं सूत्रयामास—  
“इडान्तेऽपो गृह्णाति, यूपं मुस्तरेण नैमित्तिकीरसम्भवाद्,

गत्वेतराः, पृथक् पात्रेष्वौदुम्बरेषु—इति \* । आतपवर्थाद्या-  
न्युदकानि यूपस्योत्तरप्रदेशे निधाय गृह्णीयात् । इतराः  
सम्भविनोरपस्तु तत्र तत्र गत्वा गृह्णीयात् । तदिदं मसम्भरणं  
विधत्ते— “स वा अप इति । उदकसम्भरणं वीर्यात्मना  
प्रशंसति— “तद्यदिति । अपां वीर्यरूपं रस मेव सम्भृतवान्  
भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

सम्भरणस्य पात्रविशेषं विधत्ते— “औदुम्बर इति † ।  
‘पात्रे’—इति जात्येकवचनम् । सर्वाणि सप्तदश पात्राणि औदु-  
म्बराणि भवेयुः । तथा च सूत्रं मुदाहृतम् ‡ । औदुम्बरत्वं  
मन्त्रावरोधकत्वेन प्रशंसति— “अन्नं वा इति ॥ २ ॥

जलसम्भरणे क्रमं विधत्ते— “स सारस्वतीरेवेति । सर-  
स्वत्यां नद्यां भवाः अपः प्रथमं गृह्णीयात् § । ‘एव’—शब्दोऽन्ययोग-  
व्यवच्छेदार्थः । तत्र मन्त्रं विधत्ते— “अपो देवा इति ॥ ।  
‘मधुमतीः’ मधुररसवतीः, ‘जर्जस्वतीः’ विशिष्टान्नरसवतीः ।  
‘राजस्वः’ राजानं सुवते, जनयन्ति, अनुजानन्तीति राजस्वः ;  
ताः ‘चित्तानाः’ देवतात्वेन चेतयमानाः, ‘अपः’ उदकानि  
‘देवाः’ ‘अष्टङ्गणन्’ भकारश्छान्दसः । ता अपो विशिनष्टि—  
‘याभिः’ अग्निः ‘मित्रावरुणौ’ ‘अभ्यषिञ्चन्’ देवाः, ‘याभिः’  
च ‘इन्द्रम्’ । ‘अरातीः’ अदानशीलाः शत्रुसेनाः ‘अत्यनयन्’  
अतिक्रम्य नीतवन्तः इति ॥

\* का० अ० सू० १५. ४. २१-२४ क ।

† का० अ० सू० १५. ४. २४ ख ।

‡ प्रथमकण्ठीभाष्ये ।

§ का० अ० सू० १५. ४. २५, ४३ ।

॥ वा० सं० १०. १. १ ।

मन्त्रं प्रतिपाद मनूष्याचष्टे— “अपो देवा इति । चिताना इत्यस्य व्याख्यानम्— ‘प्रज्ञाताः’—इति । शेषं निगदसिद्धम् ।

एतासा मभिषेकार्थत्वं प्रशंसति— “ताभिरभिषिञ्चतीति । यस्या अपो गृह्यन्ते , तां सरस्वतीं नदीं वागात्मना प्रशंसति— “वाग् वै सरस्वतीति । सारस्वतीभिरद्भिरभिषेककरणेन वाचै-  
वाभिषेकं कृतवान् भवतीत्यर्थः । “एता वा एका इति । सारस्वत्यः ‘आपः’ ‘एकाः’ एक मुदकम् । एवं सारस्वतीरपो गृहीत्वा षोडशापो गृह्णीयात् ॥

तत्र विशेषं दर्शयामास कात्यायनः— “सारस्वतीगृह्णात्यपो देवा इति , जुहोत्युत्तरासु चतुर्गृहीतानि तृष्णजर्म्यादिभिः स्वाहाकारान्तैः पूर्वैः पूर्वैः प्रतिमन्त्र मुत्तरैरुत्तरैर्गृह्णाति”— इति \* । उत्तरासु षोडशासु चतुर्गृहीतेनाज्येन पूर्वं स्वाहा-  
न्तैर्मन्त्रैर्हुत्वा हुत्वा उत्तरैरुत्तरैस्तास्ता अपो गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ३ ॥

तदिदानीं क्रमेण विधास्यते ; तत्र प्रथमा मूर्मिद्वयग्रहणं विधत्ते— “अथाध्वर्युरिति † । चतुर्गृहीताज्येन सह ‘आपः’ वक्ष्यमाणाः षोडश ‘अभि’—लक्ष्य ‘अवेति’ गच्छतीति सर्वशेषः । ‘तत्’ तत्र नद्यां पशुपुरुषयोरन्यतरस्मिन् ‘अभ्यवेति’ अवगाढे सति ‘यौ जर्मि’ ‘व्यर्हतः’ विविधं पूर्वापरीभावेन गच्छतः ‘तौ गृह्णीयात्’ ‡ ॥ ४ ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ४. ४३ , ४४ । अत्र “काण्वानाञ्च यथा-  
श्रुति विनियोगक्रमेण च आपो ग्रहीतव्याः”— इति कर्काचार्यः ।

† का० श्रौ० सू० १५. ४. २६ ।

‡ ‘जर्मि कलोलौ’—इति कर्काचार्यः ।

तत्रोर्मिद्वयस्थानियमेन समस्य वाचा ग्रहणे प्राप्ते क्रमं विधत्ते— “स यः प्राङ्ङिति । ‘यः’ जर्मिः ‘प्राङ्’ प्राङ्मुखः ‘उद्देहति’ उद्गच्छेत्, ‘तं’ गृह्णीयात् ॥

तत्र हवनमन्त्रं ग्रहणमन्त्रं च विधत्ते— “वृष्ण जर्मिरिति । स्वाहान्तो हवनमन्त्रः, द्वितीयो ग्रहणमन्त्र इति विभागः । अथसु— हे जर्मि ! ‘वृष्णोः’ वर्षितुः सेतुर्वा सम्बन्धी ‘जर्मिः’ भवसि । ‘राष्ट्रदाः’ त्वं तु स्वभावत एव राष्ट्रं जनपदं ददातीति राष्ट्रदाः । अतो ‘राष्ट्रं’ ‘मे’ मद्यं ‘देहि’ । ‘स्वाहा’—इति होमार्थः \* ॥

द्वितीयोऽप्येवं व्याख्येयः ; तत्र ‘अमुष्यै’—इति विशेषः । एतन्नामकाय यजमानाय मद्यं देहीति तस्यार्थः † ॥

एव सुपरितना अपि मन्त्रा व्याख्येयाः ॥ ५ ॥

द्वितीयस्योर्मिर्ग्रहणं विधत्ते— “अथ यः प्रत्यङ्ङिति । “वृषसेन इति ‡ । ‘वृषसेनः’ “वृष सेचने”, सेनो नाम संहतिः ; वर्षणशीलजलसङ्को भवसि । शिष्टं पूर्ववत् ॥

जर्मिद्वयं जलवीर्यात्मना प्रशंसति— “वीर्यं वा इति । उभयोरधूम्यैरेकत्वेन परिगणन माह— “एता वा एका आप इति ॥ ६ ॥

\* वा० सं० १०. २. १ ।

† वा० सं० १०. २. २ ।

‡ तत्र होममन्त्रः—वा० सं० १०. २. ३ । ततो ग्रहणमन्त्रः—वा० सं० १०. २. ४ । ‘पूर्वं मासु चतुर्गृहीतहोमः पश्चात् तासां ग्रहणम्’—इति कर्कः । ‘सारस्वतीषु मरीचिषु न होमः प्रतिषेधात्’—इति च तत्रैव ( ४५ सू० ) ।

प्रवहन्तीना मपां ग्रहणं विधत्ते— “अथ स्यन्दमाना इति \* ।  
‘स्यन्दमानाः’ प्रवहन्तीरपो गृह्णीयात् ॥

तत्सन्वस्थाप्य मर्थः— हे आपः ! ‘अर्थेतः’ अर्थं प्रयोजनं  
गच्छन्तीति तादृश्यः ‘स्य’ भवथ । अत्र ‘दत्त’—इति विशेषः † ।  
प्रवहन्तीना मपां वीर्यात्मकत्व माह— “वीर्येणेति । यत आपो  
वीर्येणैव ‘स्यन्दन्ते’, ‘तस्मात्’ ‘स्यन्दमानाः’ ‘एनाः’ अपः  
‘किञ्चन’ वस्त्वपि ‘प्रति’—मुखं ‘न धारयते’ न धृतं भवति ।  
यद्वा , प्रवहन्तीरपो न कश्चिदपि धारयितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

प्रतिलोमं प्रवहन्तीना मपां ग्रहणं विधत्ते— “अथ याः  
स्यन्दमानाना मिति । ‘स्यन्दमानानाम्’ अपां मध्ये ‘प्रतीपं’  
प्रतिकूलं ‡ ‘स्यन्दन्ते’, ‘ताः’ गृह्णीयात् § । ‘भोजस्वतीः’  
बलवत्यः ‘स्य’ “वीर्येणेत्यादि , पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ८ ॥

नद्याः सकाशाद् अपच्छिद्य गच्छन्तीना मपां ग्रहणं  
विधत्ते— “अथापयतीरिति । ‘अपयतीः’ नदीप्रवाहं परि-  
त्यज्य पृथक्—प्रवाहरूपेण याः स्यन्दन्ते अपयत्यः , ता  
गृह्णीयात् ¶ ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ४. २७ । ‘नद्यादिस्था वहन्त्य आपः  
स्यन्दमाना उच्यन्ते’—इति कर्काचार्यः ।

† वा० सं० १०. ३. १, २ ।

‡ चन्द्राकर्षणात् स्मृता विपरीतवाहिन्यः ( जोआर—इति  
प्रसिद्धाः ) आपः प्रतिलोमा उच्यन्ते ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ४. २८ ।

॥ वा० सं० १०. ३. ३, ४ ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. ४. २९ ।



हे 'आपः' आप्रवन्ति सर्व मित्यापः, 'परिवाहिणीः' परितः सर्वतो वाहो यासां ताः । यद्वा, 'परिवाहिणीः' परित्यज्य पृथग् वहन्त्यः स्त्र । तत्र स्वाहान्तो हवनमन्त्रः, उत्तरो ग्रहणमन्त्र इति प्रागुक्तम् । एव मुत्तरत्राप्यवगन्तव्यम् ॥

परिवाहिणीभिरभिषेकं प्रशंसति— “एतस्यै वा इति । 'एषा' परिवाहिणी \*, 'एतस्याः' महानद्याः सकाशाद् 'अवच्छिद्य' पृथक्-कृत्य परिवहति, 'एषैव पुनर्भवति' । संसृष्टा परिणदी पुनरेषैव महानदी भवतीत्यर्थः । यस्मादपच्छिन्ना नदी, पुनस्तां महानदीं प्राप्नोति । तस्मादस्यैताभिरङ्गिरभिषिक्तस्यान्यराष्ट्रीयः पुरुषः 'राष्ट्रे' स्वराष्ट्रे भवति, अन्यराष्ट्रीयम् 'अवहरति' वशयति । यथा महानदी परिणदीसंसर्गेण भूयसी जाता, 'तथा' तस्मिन् राजनि अन्यराष्ट्रीयसमवधानेन 'भूमानं' भूयस्त्वं 'दधाति' † ॥ ८ ॥

अथ समुद्रोदकग्रहणं विधत्ते— “अथ नदीपतिं गृह्णातीति ‡ । नदीपतिसमुद्रस्थितानां मया मविशेषेण ग्रहणे प्राप्ते सूद्यानाम् उच्छलन्तीनां मयां ग्रहणं कर्त्तव्यमिति विशेषः ; “नदीपतेः सूद्याः”—इति श्रुत्यन्तरात् § । सुष्ठु उद्यन्ति जङ्घं यान्तीति सूद्याः, ता गृह्णीयादित्यर्थः । अपाम् उदकानां पतिः पालकः ॥ १० ॥

\* 'परिणदी'—इति ङ, क, ज । 'परिवाहिणी' स्थेति परि-  
नदीनाम्—इति चेह आप० औ० सू० १८. १३. ६ ।

† वा० सं० १०. ३. ५, ६ । ‡ का० औ० सू० १५. ४. ३० ।

§ का० औ० सू० १५. ४. ३१ । 'सूद्याः' वीचिस्थाः ।

॥ अत्र मन्त्रौ— वा० सं० १०. ३. ७, ८ ।

अथावर्त्तोदकग्रहणं विधत्ते— “अथ निवेष्ट मिति \* । निवे-  
ष्टते † आवर्त्त्यतेऽस्मिन् तृणादिक मिति ‘निवेष्टः’ आवर्त्तः ।  
तत्रत्य मुदकं गृह्णीयात् । ‘अपाम्’ उदकानां ‘गर्भः’ अपत्यं  
भवति । “गर्भं वा एतद्”—इत्यादिष्वय मर्थः ‡ ॥ ११ ॥

“अथ यः स्यन्दमानाना मिति । हे ‘आपः !’ ‘सूर्यत्वचसः’  
सूर्यस्य त्वक् दीप्तिर्यासां ताः ; यद्वा , सूर्यस्य त्वक् शरीरं प्रति-  
विम्बरूपेण यासु तिष्ठति ताः ; तथाविधाः ‘स्य’ । “वर्च-  
सेवेति । ‘वर्चसा’ दीप्त्या अभिषिक्तवान् भवति । ‘सूर्यत्वचसं’  
सूर्यसमानतेजस्कं कृतवान् भवति § ॥

“वरुणा इति । स्थावरा आपो वरुणदेवत्या इत्यर्थः ॥ ।  
“वरुणसव इति । ‘राजसूर्यम्’—इति यत् ‘एषः वरुणसवः’  
वरुणाभिषेकः ; वरुणोऽभिषिच्यते यस्मिन्निति सः । अतो वरुण-  
देवत्याभिः ऋद्याभिरङ्गिरभिषेकः कर्त्तव्यः ॥ १२ ॥

अथातपवर्षाग्रहणं विधत्ते— “अथ या आतपतीति ¶ ।  
सूर्ये आतपति सति या वर्षन्ति , स्यन्दन्ते , ता गृह्णीयात् ।  
“सूर्यवर्चस इत्यातपति वर्षाणाम्”—इति हि आपस्तम्बः \*\*\* ।

\* का० श्रौ० सू० १५. ४. ३३ ।

† ‘निवेष्टते’—इति ज० ।

‡ अत्र मन्त्रौ— वा० सं० १०. ३. ६ , १० ।

§ वा० सं० १०. ४. १ , २ ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. ४. ३४ । ‘स्यन्दमानानां मध्ये याः  
स्थावराः स्थिराः न वहन्ति’—इत्यादिस्तद्धृत्तिरिह!लोप्या ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. ४. ३५ ।

\*\* आप० श्रौ० सू० १८. १३. १० ।

‘सूर्यवर्चसः’ सूर्यदीप्तिरुक्ताः \* । शिष्टं पूर्ववत् । “मेध्या वा इति । सूर्यतेजसा युक्तत्वात् आतपवर्थाः शुद्धा इत्यर्थः । तासां ग्रहणे कञ्चिद् विशेषं विधत्ते— “अप्राप्ता हीति । ‘इमां’ भूमिम् ‘अप्राप्ताः भवन्ति’, भूमौ न पतिता भवन्ति ; ‘अथ’ तदानीं मेव ‘एनाः’ अपः गृह्णीयात् ॥ १३ ॥

अथ सरस्याना मपां ग्रहणं विधत्ते— “अथ वैशन्ती-रिति । वैशन्तीऽल्पसरः, तत्र भवा अपो गृह्णीयात् † । हे आपः ! ‘मान्दाः स्थ’ प्रवाहाभावात् मन्दस्वभावाः स्थ । यद्वा, मन्दते रूपम् । भूतानि यत्र मन्दन्त इति मान्दाः । “विश मेवेति । मान्दाभिः अद्भिरभिषेकेण ‘अस्मै’ ‘विश’ प्रजां ‘स्थावरां’ स्थिराम् अनपक्रमिणीं स्वाधीनां कृतवान् भवतीत्यर्थः ‡ ॥ १४ ॥

कूप्याना मपां ग्रहणं विधत्ते— “अथ कूप्या इति § । कूपे भवाः कूप्याः । “व्रजक्षित स्थिति । ‘व्रजः’—इति मेघनामसु पठितः ||, इह तूदकधारणसामान्यात् कूपोऽभिधीयते । व्रजे कूपे क्षिताः निवसन्त्यः । “क्षि निवासगत्योः” ¶, क्षिप् । कूपस्थाः स्थ \*\* । “तद्या इमा मिति । ‘इमां’ भूमिं ‘परेण’

\* वा० सं० १०. ४. ३, ४ ।

† का० अ० सू० १५. ४. ३६ ।

‡ वा० सं० १०. ४. ५, ६ ।

§ का० अ० सू० १५. ४. ३७ ।

|| निघ० १. १०. ११ ।

¶ तु० पं० २९७ घा० ।

\*\* वा० सं० १०. ४. ७, ८ ।

भूमिरधस्ताद् विप्रकृष्टे देशे कूपे स्थिताः अपः गृह्णीयात् ।  
किमर्थं भूमिस्थितानां मपां ग्रहणम् ? तत्राह — “अपा मु चेति ।  
‘अपां सर्वत्वाय’ सर्वेषां मुदकानां समष्ट्या इत्यर्थः ॥ १५ ॥

अथ नीहारोदकानां ग्रहणं विधत्ते — “अथ प्रुष्या इति \* ।  
‘प्रुष्याः’ नीहाराः । हे आपः ! ‘वाशाः स्थ’ । “वश कान्ती” † ।  
सर्वैः काम्यमाना भवथ ‡ । यद्वा , वश्याः स्थ ; नीहारो  
हि नदीप्रवाहवत् मनुष्यादिगतिं न प्रतिबध्नाति , अतो वश-  
त्वम् । प्रुष्याणां मन्त्राद्यात्मत्वमुपपादयति — “इदं वा असा-  
विति । ‘उद्यन्’ ‘असी’ अन्तरिक्षे दृश्यमानः ‘आदित्यः’  
‘इदम्’ ओषधिरूपम् ‘अन्नाद्यं’ निर्द्दहति । अन्नं च तदाद्य  
मदनीयं चेत्यन्नाद्यम् । तत्र दृष्टान्तः — “यथाय मग्निर्निद-  
हेदेव मित्यादि । ‘तत्’ तदा सस्यानां मातृपजातस्त्वानिसमये §  
नीहारगताः ‘आपः’ ‘अभ्यवयत्यः’ । सत्यतिरेकं दर्शयति — “न  
ह वेत्यादिना । तस्मादोषधिवर्द्धनहेतुभूताभिः प्रुष्याभिरग्निः अभि-  
षेक्षेण यजमाने अन्नाद्य मेव निहितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ मधुनी ग्रहणं विधत्ते — “अथ मध्विति ॥ । हे  
मधु ! द्रवरूपा आपः ! ‘शविष्ठाः’ बलवत्तमाः ‘स्थ’ ¶ ।  
‘अपाञ्चैवेति । ‘एतत्’ एताभिः मधुद्रवरूपाभिरग्निः अभि-

\* का० श्रौ० सू० १५. ४. ३८ ।

† अथा० प० ६६ धा० ।

‡ वा० सं० १०. ४. ६ , १० ।

§ श्रमाय (?) — इति ज ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. ४. ३६ ।

¶ वा० सं० १०. ४. ११ , १२ ।

प्रेक्षेण 'अपां च ओषधीनाञ्च' 'रसेन' अभिषिक्तवान् भवति ;  
मधुनो द्वात्मकत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ गोरुत्थानां ग्रहणं विधत्ते— “अथ गोरिति \* ।  
'विजायमानायाः' प्रसूयमानायाः 'गोः' 'उत्थ्याः' उत्थे गर्भ-  
वेष्टने भवाः अपः गृह्णीयात् । हे आपः ! 'शक्करीः' गर्भ-  
रक्षणे शक्ताः समर्था भवथ † । “पशुभिरिति । पशुसम्ब-  
न्धिनीभिरेताभिरङ्घ्रिः अभिषेकेण 'पशुभिः एव' 'एनं' सुत्वंन्त  
मभिषिक्तवान् भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ पयसां ग्रहणं विधत्ते— “अथ पय इति ‡ । हे क्षीरा-  
त्मिका आपः ! 'जनभृतः स्य' जनान् विभ्रतीति जनभृतः ;  
क्षीरेण हि प्राणिजातं पुष्यते § ॥ १९ ॥

अथ घृतस्य ग्रहणं विधत्ते— “अथ घृत मिति ॥ । 'विश्व-  
भृतः स्य' हे घृतद्रवरूपाः आपः ! विश्वपोषिका भवथ ¶ ।  
“पशूना मिति । घृतस्य पशुरसत्वं क्षीरादिद्वारा प्रसिद्धम् ॥ २० ॥

एतदेव सारस्वतवर्जं चतुर्गृहीताज्येन पूर्वं हुत्वा-हुत्वा पञ्च-  
दशानां मपां ग्रहणं विहितम्, अथान्तिमस्य जलस्य ग्रहणं  
सविशेषं विधत्ते— “अथ मरीचीरिति । 'मरीचीः' 'अञ्जलिना'  
पात्रेण 'सङ्कृष्टा' गृहीत्वा \*\* 'अपिष्टजति' । सर्वासु गृहीतासु

\* का० औ० सू० १५. ४. ४० ।

† वा० सं० १०. ४. १३, १४ ।

‡ का० औ० सू० १५. ४. ४१ ।

§ वा० सं० १०. ४. १५, १६ ।

॥ का० औ० सू० १५. ४. ४२ ।

¶ वा० सं० १०. ४. १७, १८ ।

\*\* 'गृहीत्वा-गृहीत्वा'—इति च ।

अप्सु संसृजेदित्यर्थः । अत्र सूत्रम्— “आपः स्वराज इति मरीचीगृहीत्वाञ्जलिना सर्वासु संसृजति”—इति \* ॥

हे मरीचिरूपा आपः ! ‘स्वराजः स्थ’ स्वय मेव राजमाना भवथ † । अत्र होमाभावात् स्वाहान्तः पूर्वो मन्त्रो न पठितः ‡ । कथं मरीचीना मन्त्रेण परिगणन मिति तदुपपादयति— “एता वा आप इति । ‘मरीचयः’—इति ‘यत्’, ‘एताः’ ‘स्वराजः’ स्वय मेव दीप्यमानाः ‘आपः’ । “ता यत् स्यन्दन्त इति । ‘यत्’ यस्मात् ‘ताः’ मरीचयः ‘स्यन्दन्त इव’ प्रवहन्तीव । ‘इव’—शब्दः उपमार्थे § ; साक्षात् प्रवहणाभावात् । यथा जलसङ्घा उपर्युपरिभावेन वर्तन्ते , तद्वदेता मरीचयः ‘अन्योऽन्यस्य’ मरीचेः ‘त्रियै’ शोभायै ‘अतिष्ठमानाः’ स्थातु मसङ्घिणवः ‘उत्तराधरा इव भवन्त्यः’ ‘यन्ति’ गच्छन्ति । अतो जल-साम्यादन्तेन परिगणन मित्यर्थः ॥ । मरीचीनां ग्रहणं स्वाराज्य-हेतुत्वेन प्रशंसति— “स्वाराज्य मिति । यतो ‘मरीचयः’ स्वराज आपः ¶ ॥ २१ ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ४. ४५ ।

† वा० सं० १०. ४. १६ ।

‡ इह संहितापाठ, स्पर्शयोऽवलोक्यो वा ।

§ ‘अल्पार्थे’—इति ज ।

॥ सारस्वतः, पूर्वोर्म्हः, अपरोर्म्हः, स्यन्दमाणाः, प्रतिलोमाः, अपयव्यः, सप्तद्रियाः ( वीचिस्थाः, तीराहताश्च ), निवेष्टाः, स्था-वराः, आतपवर्षाः, सरस्याः, कूप्याः, पुष्पाः, मध्याः, गोरुव्याः, गयस्याः, घृतात्मिकाश्चेति सप्तदशविधा आपो भवन्तीति ।

¶ ‘सूर्यरश्मिभिरुद्धृता आपो मरीचयः’—इति का० वृ० ।

सम्भृतानां मपां सप्तदशसङ्ख्यां प्रजापत्यात्मना स्वीति—  
“ता वा एताः सप्तदशेति । प्रजापतेः सप्तदशत्वं प्रागुक्तम् \* ॥ २२ ॥

अथोक्तानां सारस्वतीप्रभृतिमरीच्यन्तानां मपा माहुतीनां  
च सङ्ख्यां समस्य प्रजापत्यात्मना प्रशंसति— “षोडश ता आप  
इति । ‘याः’ ‘आपः’ अभिलक्ष्य जुहोति, ‘ताः’ ‘षोडश’;  
जर्मिहयस्य विवेके षोडशसङ्ख्याका भवन्ति; आहुतयोऽपि  
षोडश; आहुतिभिः रहिताः सारस्वत्यो मरीचय इति द्वयः;  
ताः सम्भूय चतुस्त्रिंशत् सम्पद्यते । अत्र चतुस्त्रिंशत्सम्पत्त्या  
चतुस्त्रिंशद्देवतात्मकं प्रजापति मेव कृतवान् भवतीति तत्कारणं  
प्रशस्तमित्यर्थः ॥ २३ ॥

होमपूर्वकं ग्रहणं प्रशंसति— “अथ यदुच्चाहुतेति ।  
आज्यस्य वज्रात्मकत्वश्रुतिः प्रागुदाहृता † । वज्ररूपेण ‘आज्येन’  
‘सृत्वा-सृत्वा’ हिंसित्वा-हिंसित्वा, ततः ‘स्वीकृत्य’ स्वाधीनं  
कृत्वा गृह्णानो भवेत् । यथा लोके राजादिः प्रबलं शत्रु-  
प्रभृति जनं प्रथमं बाधित्वा पश्चात् स्वाधीनं करोति,  
तद्वदित्यर्थः ॥ २४ ॥

सारस्वतीषु मरीचिषु च होमाभावे कारणं माह—  
“अथ यदिति ‡ । सारस्वत्या वाक्तात् वाचो वज्रेण हिंसा  
माभूदिति न होतव्यम् ॥ २५ ॥

\* इहेव पुरस्तात्—२४ पृ० १ पं० द्रष्टव्यम् ।

† प्रथमकाण्डे—३६२ पृ० ७ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ सारस्वतीषु मरीचिषु च न होमः, प्रतिषेधात् । अत एव  
बंदिताया मपि एतदुभयत्र स्वाह्वान्तमन्त्रान्तागो न श्रूयते ।

“अथ यन्मरीचिष्विति । मरीचिष्वपि ‘अनङ्गा’ अस्थाने तासां होमाधिकरणत्वासम्भवाच्च होतव्यमित्यर्थः । ‘नेत्’-इति निपातः परिभये, ‘जुह्वानि’-इत्यनेन सम्बध्यते ॥ २६ ॥

विधत्ते—“ताः सार्द्धं मिति । ‘ताः’ विहिताः, पृथक्-पृथक्-पात्रे गृहीताः आपः ‘सार्द्धं’ सम्भूय एकस्मिन् ‘पात्रे’ ‘समवनयति’ आसिञ्चेदित्यर्थः \* । ‘मधुमतीः’ मधुररसवत्यः आपः ‘मधुमतीभिः’ अग्निः ‘पृथ्यन्ताम्’ । “पृथ्वी सम्पर्के†”, सम्पृथ्यन्ताम् । ता विशिनष्टि—‘महि’ महत् ‘क्षत्रं’ बलं क्षत्रियकुलं वा ‘क्षत्रियाय’ यजमानाय ‘वन्वानाः’ दातुं याचयमानाः कामयमाना इति । मन्त्र मन्त्राय § व्याचष्टे—“मधुमतीरित्यादि । ‘महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वाना इति यदाह’, ‘तत्’ तेन ‘यजमानाय’ ‘परोक्षं’ क्षत्र माशङ्क्य माशा-सितवान् भवतीति योजना । ‘क्षत्रियाय’-इति तात्स्याभिधानाद्, ‘वन्वानाः’-इति याचनाभिधानाद्, आशिषः परोक्षत्वमित्यर्थः ॥ २७ ॥

संस्मृताना मपां मैत्रावरुणधिष्णाय पुरोदेशे सादनं सं-मन्त्रकं विधत्ते—“ता अग्नेरिति § । हे आपः ! ‘अनाष्ट्टाः’ रक्षोभिरबाधिताः, ‘सहोजसः’ ओजसा बलेन सहिताः, सर्वीर्याः ‘सीदत’ उपविशत । ‘महि’ महत्, ‘क्षत्रं’ बलं क्षत्रियत्वं वा, ‘क्षत्रियाय’ ‘दधतीः’ दधत्यः, धारयत्यः,

\* का० श्रौ० सू० १५. ४. ४६ ।

† अदा० आ० २० धा० ।

‡ वा० सं० १०. ४. २० ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ४. ४७



प्रयच्छन्त्य इति । मन्त्रं व्याचष्टे— “अनाष्टुष्टा इति \* । ‘दधतीः’  
—इति प्रदानस्य साक्षादुक्तेः प्रत्यक्षत्वं माशिषः, ‘सीदत’—इति  
मध्यमपुरुषप्रयोगाच्चेति वेदितव्यम् ॥ २८ ॥ १ [ ३. ४. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
पञ्चमकाण्डे तृतीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

( अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् . )

तं वै माध्यन्दिने सुवने ऽभिषिञ्चति । एष  
वै प्रजापतिर्यु एषु यज्ञस्तायते यस्मादिमाः  
प्रजाः प्रजाता एतस्मेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते  
तदेनं मध्यतु एवैतस्य प्रजापतेर्हृधाति मध्यतुः  
सुवति † ॥ १ ॥

अगृहीते माहेन्द्रे । एष वा ऽइन्द्रस्य निष्के-  
वल्ल्यो ग्रहो यन्माहेन्द्रो ऽप्यस्यैतन्निष्केवल्य मेव  
स्तीचं निष्केवल्यं शस्त्र मिन्द्रो वै यजमानस्तु-

\* वा० सं० १०. ४. २१ ।

† ‘सुवति’—इति क ।

देनः स्वः एवायतने ऽभिषिञ्चति तस्मादगृहीते  
माहेन्द्रे \* ॥ २ ॥

अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्णाः । शार्दूलचर्म-  
पस्तृणाति सोमस्य त्विषिरसीति यत्र वै सोम  
इन्द्र मत्पवत स यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन  
सोमस्य त्विषिस्तस्मादाह सोमस्य त्विषिरसीति  
तुवेव मे त्विषिर्भूयादिति शार्दूलत्विषि गेवा-  
स्मिन्नेतदुधाति तस्मादाह तुवेव मे त्विषिर्भूया-  
दिति † ॥ ३ ॥

अथ पार्थानि जुहोति । पृथी ह वै ‡ व्वैन्यो  
मनुष्याणां प्रथमो ऽभिषिषिञ्चे § सो ऽकामयत  
सुर्व्वं मन्नाद्य मुवरुन्धीयेति तस्मा ऽएतान्यजुहवुः  
सु इदं सुर्व्वं मन्नाद्य मुवरुन्धेऽपि ह स्मास्मा  
ऽआरण्यान् पशून्भिह्वयन्त्यसावेहि राजा त्वा

\* 'माहेन्द्रे'—इति ग, घ ।

† '०दिति'—इति क, '०दिति'—इति ग ।

‡ 'एथुहं वे'—इति घ ।

§ 'ऽभिषिषिचे'—इति ख, घ । 'ऽभिषिषिचे', 'ऽभिषिषिचे'—

इति दावेव पाठौ डा०-वेवर-दृष्टौ ।

पच्यत ऽङ्गिति तुथेदं सर्वं मन्नाद्य मवकृधे  
सर्वं ह वा ऽअन्नाद्य मवकृधे यस्यैवं विदुष  
एतानि ह्वयन्ते ॥ ४ ॥

तानि वै द्वादश भवन्ति । द्वादश वै मासाः  
संवत्सरस्य तुस्माद्द्वादश भवन्ति ॥ ५ ॥

षट् पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति । षडुपरि-  
ष्ठात्तदेनं मध्यत एवैतस्य प्रजापतेर्द्धधाति मध्यतः  
सुवति ॥ ६ ॥

स यानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति । बृह-  
स्पतिस्तेषां मत्तमो भवत्यथ यान्युपरिष्ठादभि-  
षेकस्य जुहोतीन्द्रस्तेषां प्रथमो भवति ब्रह्मा वै  
बृहस्पतिरिन्द्रियं द्वीर्यं मिन्द्र एताभ्या मेवैन मे-  
द्वीर्याभ्या सुभयतः परिवृंहति ॥ ७ ॥

स जुहोति । यानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहो-  
त्यग्नये स्वाहेति तेजो वा ऽअग्निस्तेजसैवैन  
मेतदभिषिञ्चति सोमाय स्वाहेति क्षत्रं वै सोमा  
क्षत्रेणैवैन मेतदभिषिञ्चति सवित्रे स्वाहेति  
सविता वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एवैन  
मेतदभिषिञ्चति सरस्वत्यै स्वाहेति व्याग्वै सर-

स्वती व्याचैवैन मेतदभिषिञ्चति पूष्णे स्वाहेति  
 पशुवो वै पूषा पशुभिरेवैन मेतदभिषिञ्चति  
 बृहस्पतये स्वाहेति ब्रह्मा वै बृहस्पतिर्ब्रह्मणैवैन  
 मेतदभिषिञ्चत्येतानि पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति  
 तान्येतान्यग्निनामानीत्याचक्षते \* ॥ ८ ॥

अथ जुहोति । यान्युपरिष्ठादभिषेकस्य जुहो-  
 तीन्द्राय स्वाहेति वीर्यं वा ऽइन्द्रो वीर्येणैवैन  
 मेतदभिषिञ्चति घोषाय स्वाहेति वीर्यं वै  
 घोषो वीर्येणैवैन मेतदभिषिञ्चति श्लोकाय स्वा-  
 हेति वीर्यं वै श्लोको वीर्येणैवैन मेतदभि-  
 षिञ्चत्युशाय स्वाहेति वीर्यं वा ऽअशो  
 वीर्येणैवैन मेतदभिषिञ्चति भुगाय स्वाहेति  
 वीर्यं वै भुगो वीर्येणैवैन मेतदभिषिञ्चत्यर्थम्णे  
 स्वाहेति तदेन मस्य सर्वस्वार्थमणं करोत्येतान्यु-  
 परिष्ठादभिषेकस्य जुहोति † तान्येतान्यादित्य-  
 नामानीत्याचक्षते ‡ ॥ ९ ॥

\* 'व्याचक्षते'—इति क ।

† 'जुहोति'—इति ख ।

‡ 'व्याचक्षते'—इति क, ख ।

अग्रेण मैत्रावरुणस्य धिष्णाम् । अभिषेच-  
नीयानि पात्राणि भवन्ति युचैता आपो ऽभि-  
षेचनीया भवन्ति ॥ १० ॥

षालाशं भवति । तेन ब्राह्मणो ऽभिषि-  
ञ्चति ब्रह्म वै पन्नाशो ब्रह्मण्यैवेन मेतदभि-  
षिञ्चति \* ॥ ११ ॥

औदुम्बरं भवति । तेन स्त्रो ऽभिषिञ्चत्यन्नं  
वा † ऽजुर्गुदुम्बर ऊर्ग्वै स्त्रं यावद्वै पुरुषस्य स्त्रं  
भवति नैव तावदशनायति तेनोर्क् स्त्रं तस्मादौ-  
दुम्बरेण स्त्रो ऽभिषिञ्चति ॥ १२ ॥

नैयग्रोधपादं भवति । तेन मित्रो राजान्यो  
ऽभिषिञ्चति पङ्क्तिर्वै न्यग्रोधः प्रतिष्ठितो मित्रेण  
वै राजान्यः प्रतिष्ठितस्तस्मान्नैयग्रोधपादेन मित्रो  
राजान्यो ऽभिषिञ्चति † ॥ १३ ॥

आश्वत्थं भवति । तेन वृक्षो ऽभिषिञ्चति  
स यदेवादो ऽश्वत्थे तिष्ठत इन्द्रो मरुत उपा-

\* '०षिञ्चति'—इति क ।

† 'त्यन्नावा'—इति ख ।

‡ '०षिञ्चति'—इति क ।

मन्त्रयत तस्मादाश्वत्येन वैश्यो ऽभिषिञ्चत्येता-  
न्यभिषेचनीयानि पात्राणि भवन्ति \* ॥ १४ ॥

अथ पवित्रे करोति । पवित्रे स्थो वैष्णु-  
व्यावृति सो ऽसावेव बन्धुस्तयोर्हिरण्यं प्रवयति  
ताभ्या मेता अभिषेचनीया अप उत् पुनाति तद्य-  
द्विरण्यं प्रवयत्यमृत मायुर्हिरण्यं तदा स्मृत  
मायुर्दधाति तस्माद्विरण्यं प्रवयति ॥ १५ ॥

स उत्पुनाति । सवितुर्व्वः प्रसव उत्पुनाम्य-  
च्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति सो ऽसा-  
वेव बन्धुरनिभृष्ट मसि व्याचो बन्धुस्तपोजा इत्य-  
नाधृष्टा स्य रक्षोभिरित्येवैतदाह यदाहानिभृष्ट  
मसीति व्याचो बन्धुरिति यावद्वा प्राणेष्वपि  
भवन्ति तावद्वाचा व्वदति तस्मादाह व्याचो  
बन्धुरिति ॥ १६ ॥

तपोजा इति । अग्नेर्व्वै धूमो जायते धूमा-  
दभ्र मभाद्दृष्टिरग्नेर्वा ऽएता जायन्ते तस्मादाह  
तपोजा इति ॥ १७ ॥

सोमस्य दाव मसीति । यदा वा ऽएन मेता  
भिरभिषुण्व\*न्यथाहुतिर्भवति तस्मादाह सोमस्य  
दाव मसीति स्वाहा राजस्व इति तदेनाः स्वाहा-  
कारेणैवोत्पुनाति ॥ १८ ॥

ता एतेषु पात्रेषु व्यानयति । सधमादौ  
दुम्निनोराप एता इत्यनतिमानिन्य इत्येवैतदाह  
यदाह सधमाद इति दुम्निनोराप एता इति  
व्वीर्यवत्य इत्येवैतदाहानाधृष्टा अपुष्टो व्वसाना  
इत्यनाधृष्टा स्य रक्षोभिरित्येवैतदाह यदाहाना-  
धृष्टा अपुष्टो व्वसाना इति पुस्त्यासु चक्रे  
व्वरुणः सधस्य मिति व्विशो वै पुस्त्या व्विजु  
चक्रे व्वरुणः प्रतिष्ठा मित्येवैतदाहापां शिशु-  
मर्माहृतमास्वन्तरित्यपां वा ऽएष शिशुर्भवति  
यो राजसूयेन युजते तस्मादाहापां शिशुर्मा-  
हृतमास्वन्तरिति † ॥ १९ ॥

\* 'मेताभिरभिषुण्व०'—इति क, ख । 'मेताभिरभिषुण्व०'—  
इति च दृष्टं डा०-वेवरेण ।

† 'रिति'—इति ग. 'रिति'—इति घ ।

अथैनं व्वासांसि परिधापयति । तत्तार्थं  
मिति व्वासो भवति तच्छिन्तु सर्वाणि यज्ञ-  
रूपाणि निष्कृतानि भवन्ति तदेनं परिधापयति  
क्षत्रस्योल्ब मसीति तद्यदेव क्षत्रस्योल्बं तत एवैनं  
मेतज्जनयति \* ॥ २० ॥

अथैनं पाण्डुं परिधापयति । क्षत्रस्य जरा-  
यसीति तद्यदेव क्षत्रस्य जरायु तत एवैनं मेत-  
ज्जनयति † ॥ २१ ॥

अथाधीवासं प्रति मुञ्चति । क्षत्रस्य योनि-  
रसीति तद्यदेव क्षत्रस्य योनिस्तस्या एवैनं मेत-  
ज्जनयति ‡ ॥ २२ ॥

अथोष्णौषं संहृत्य § । पुरस्ताद्वगूहति क्षत्रस्य  
नाभिरसीति तद्यदेव क्षत्रस्य नाभिस्ता मेवास्मिन्ने-  
तद्वधाति ॥ २३ ॥

तद्धेतुः । समन्तं परिवेष्टयन्ति नाभिर्वा  
अस्यैषा समन्तं वा इदं नाभिः पर्येतौति

\* , † , ‡ 'ज्जनयति'—इति क ।

§ 'संहृत्य'—इति क; दृष्टं चेत्तत् डा०-वेचरेण ।



व्वदन्तस्तदु तथा न कुर्व्यात् पुरस्तादेवावगूहेत्  
पुरस्ताद्भीयं नाभिस्तद्यदेन व्वासांसि परिधापयति  
जनयत्येवैन मेतज्जातु मभिषिञ्चानौति तस्मादेनं  
व्वासांसि परिधापयति ॥ २४ ॥

तद्वैके । निदधत्येतानि व्वासांस्यै न पुन-  
र्दीक्षितवसनं परिधापयन्ति तदु तथा न कुर्या-  
दङ्गानि वा ऽअस्य जनूव्वासांस्यङ्गैर्हेनं सजन्वा \*  
तन्वा व्यर्धयन्ति व्वरुण्यं दीक्षितवसनं स एतेषा  
मेवैकं व्वाससां परिदधीत तदेन मुङ्गैर्जन्वा तन्वा  
समर्द्धयति व्वरुण्यं दीक्षितवसनं तदेनं व्वरुण्या-  
दीक्षितवसनात् प्रमुञ्चति ॥ २५ ॥

स यत्रावभृथ मभ्यवैति । तदेतदभ्यवहरन्ति  
तत् सलोम क्रियते स एतेषा मेवैकं व्वाससां  
परिधायोदैति तानि व्वशायै वा व्वपायां हुतायां  
दद्यादुदवसानीयायां व्वेष्टौ ॥ २६ ॥

अथ धनुरधितनोति । इन्द्रस्य व्वार्चघ्न मसीति  
व्वार्चघ्नं वै धनुरिन्द्रो वै युजमानो ह्येन वा

एष इन्द्रो भवति युच्च क्षत्रियो यदु च युज-  
मानस्तस्मादाहेन्द्रस्य व्वार्चन मसीति \* ॥ २७ ॥

अथ बाहू विमार्ष्टि । मित्रस्यासि व्वरुण-  
स्यासीति बाह्वोर्वै धनुर्बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रा-  
व्वरुणस्तस्मादाह मित्रस्यासि व्वरुणस्यासीति तदस्मै  
प्रयच्छति त्वयायं वृत्रं बधेदिति त्वयायं द्विषन्तं  
भ्रातृभ्यं बधेदित्येवैतदाह † ॥ २८ ॥

अथास्मै तिस्र इषूः प्रयच्छति । स युया प्रथमया  
समर्पणेन पराभिनत्ति‡ सैका सेयं पृथिवी सैषा दृवा  
नामाथ युया विदुः शयित्वा जीवति वा म्रियते वा  
सा द्वितीया तदिदं मन्तरिक्षं सैषा रुजा नामाथ  
ययापैव राध्नोति सा तृतीया सासौ द्यौः सैषा  
क्षुमा नामैता हि वै तिस्र इषवस्तस्मादस्मै  
तिस्र इषूः प्रयच्छति ॥ २९ ॥

ताः प्रयच्छति । पातैनं प्राञ्चं पातैनं

\* 'मसीति'—इति क ।

† 'तुदाह'—इति क ।

‡ 'परान् भिनत्ति'—इति क । 'परान् भिनत्ति'—इति सायण-  
चम्पतः पाठ इति च डा० वेबरः ।

प्रत्युञ्चं पातैनं तिर्युञ्चं दिग्भ्यः पातेति तदुक्षै  
सुर्व्वा एव दिशो ऽशरव्याः करोति तद्यदुक्षै  
धनुः प्रयच्छति क्षीर्यं वा ऽएतद्राजुन्यस्य यदनु-  
र्व्वीर्यवन्त मभिषिञ्चानीति तस्मादा ऽअस्मा ऽआ-  
युधं प्रयच्छति \* ॥ ३० ॥

अथैन माविदो व्वाचयति । आविर्मर्या  
इत्यनिरुक्तं प्रजापतिर्व्वा ऽअनिरुक्तस्तुदेनं प्रजापतय  
ऽआवेदयति सोऽक्षै सव मनुमन्यते तेनानुमतः  
सूयते ॥ ३१ ॥

आवित्तो ऽअग्निर्गृहपतिरिति । ब्रह्म वा  
ऽअग्निस्तुदेनं ब्रह्मण ऽआवेदयति तदुक्षै सव मनु-  
मन्यते तेनानुमतः सूयते ॥ ३२ ॥

आवित्तो ऽइन्द्रो व्युवृश्नवा इति । क्षत्रं वा  
ऽइन्द्रस्तुदेनं क्षत्रायावेदयति तदुक्षै सव मनुमन्यते  
तेनानुमतः सूयते ॥ ३३ ॥

आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रताविति । प्रा-  
णोदानौ वै मित्रावरुणौ तुदेनं प्राणोदानाभ्या

मावेदयति तावच्चै सव मनुमन्यते ताभ्या मनु-  
मतः सूयते ॥ ३४ ॥

आवित्तः पूषा विश्ववेदा इति । पशुवो  
वै पूषा तदेनं पशुभ्य आवेदयति तेऽस्मै सव-  
मनुमन्यन्ते तैरनुमतः सूयते ॥ ३५ ॥

आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवाविति ।  
तदेन माभ्यां द्यावापृथिवीभ्या मावेदयति तेऽस्मै  
सव मनुमन्यते ताभ्या मनुमतः सूयते ॥ ३६ ॥

आवित्तादितिरुक्षर्मेति । इयं वै पृथिव्यु-  
दितिरुत्तदेन मस्यै पृथिव्या ऽआवेदयति सास्मै  
सव मनुमन्यते तयानुमतः सूयते तद्याभ्य एवैन  
मेतद्देवताभ्य आवेदयति ता अस्मै सव मनुमन्यन्ते  
ताभिरनुमतः सूयते ॥ ३७ ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [३. ५.] ॥

पञ्चमे ब्राह्मणे यजमानाभिषेकः, तत्रत्या धर्माश्च विधी-  
यन्ते । तत्र यजमानाभिषेकं सकालं विधत्ते— “तं वै माध्य-  
न्दिन इति । माध्यन्दिनसवने क्रियमाण मभिषेकं प्रशंसति—

“एष वै प्रजापतिरिति । माध्यन्दिनसवने क्रियमाणेनाभि-  
षेकेण ‘एनं’ यजमानं ‘मध्यत एव’ यज्ञरूपप्रजापतिमध्ये एव  
निहितवान् भवति । ‘मध्यतः’ मध्ये ‘सुवति’ प्रेरयति;  
अध्वर्युरित्यर्थः ॥ १ ॥

कालविशेषं विधत्ते— “अगृहीत इति \* । ‘माहेन्द्रे’  
ग्रहे ‘अगृहीते’ सोमरसेनापूर्णं, मरुत्वतीयान्ते इत्यर्थः ।  
माहेन्द्रग्रहणात् पूर्वं यजमानाभिषेकं स्वायतननिधानरूपेण  
प्रशंसति— “एष वा इन्द्रस्येति । इदं प्रथमाध्याये व्याख्या-  
तम् † । अत्र यदुक्तं कात्यायनेन— “मैत्रावरुणधिष्ण्यास्य  
पुरस्तान्निदधाति अनाष्टुष्टाः सीदेति, पात्राणि च तुष्णीं  
पालाशौदुस्वरनैययोधवटाश्रयान्यभिषेकाय”—इति ‡ । “मरु-  
त्वतीयान्ते, पात्राणि पूर्वेण व्याघ्रचर्मास्तृणाति सोमस्य त्विषि-  
रिति §, अपरेऽन्ते सीसं निदधाति, पार्थाना मग्नये  
स्वाहेति ॥ षड् जुहोति प्रतिमन्त्रम्”—इति ¶ च ॥ २ ॥

तदिदं क्रमेण विधित्सुर्व्याघ्रचर्मास्तरणं समन्त्रकं विधत्ते— “अग्रे  
येति । मैत्रावरुणधिष्ण्यास्य पूर्वभागे व्याघ्रचर्मास्तृणीयात् \*\* ।  
हे चर्मन् ! ‘सोमस्य’ ‘त्विषिः’ दीप्तिः ‘असि’ । ‘तवेव’ यथा

\* का० श्रौ० सू० १५. ५. १ ।

† १. ३. ४ ( ३६ पृ० १४ पं० पुनः ५३ पृ० ४ पं० ), द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ४. ४७, ४८ ।

§ वा० सं० १०. ५. १ ।

॥ वा० सं० १०. ५. २-७ ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. ५. ५, ६, ७ ।

\*\* का० श्रौ० सू० १५. ५. १ ।

तव दीप्तिरस्ति, तथा 'मे' मम 'त्विति:' दीप्तिः 'भूयात्' अस्त्विति \* । शार्दूलस्य सोमत्वित्व माख्यायिकासुखेनोप-  
पादयति— “यत्र वै सोम इति । पूर्वं मिन्द्रेण पीयमानः  
सोमः, तम् 'अत्यपवत' शरीरादधो निरगच्छत् । स सोमो  
यदा अत्यपवत, ततः सोऽतिपवित्रतः सोमः शार्दूलः सम्भूत-  
वान् † । 'तस्मात्' शार्दूलस्य सोमकार्यत्वात् तदीयत्वचः सोम-  
त्वित्वम् । “तवेव मे”—इतिमन्त्रभागस्य तात्पर्य माह—  
“तवेव म इति । 'एतत्' एतेन मन्त्रभागकृतेन 'अस्मिन्'  
यजमाने शार्दूलदीप्ति भेव निहितवान् भवति ॥ ३ ॥

अथाभिषेकस्य पुरस्तात् पञ्चाच्च क्रियमाणान् पार्थहोमान्  
विधत्ते— “अथ पार्थानीति ‡ । 'पार्थानि' पृथिनानुष्ठितानि ।  
एतेषां पृथिसम्बन्धं दर्शयति— “पृथी हेति । 'वैश्यः' वेनो  
नाम राजा, तस्य पुत्रः 'पृथी' नाम §, 'मनुष्याणां' मध्ये  
'प्रथमः' अभिषिक्तः । 'सर्वम् अन्नाद्यम्' 'अवरुन्धीय' स्वाधीनं  
कुर्याम् 'इति' कामयमानाय 'तस्मै' पृथये ॥ 'एतानि' पार्थानि  
'अलुहवुः' अध्वर्यवः । ततः 'सः' राजा 'इदं सर्वं अन्नाद्यम्'  
'अवरुन्धे' स्वाधीनं कृतवान् । सर्वान्नावरोधकत्वं दर्शयति—

\* वा० सं० १०. ५. १ ।

† “यद्वाचः प्राणाद्भवत् ततः शार्दूलज्ज्येष्ठाः श्वापदाः समभवन्”—  
इति उपरिष्ठाद् दृश्यम् (५. ४. १०.) ।

‡ कौ० औ० सू० १५. ५. ३ ।

§ अत्र पृथिन्निति नान्तशब्द एव भाष्यसम्मतः पाठो गम्यते,  
चतुर्वेवादृशपुस्तकेष्वेकविधदर्शनात्; मूले तु पृथुरिति च पाठः ।

॥ चतुर्वेवादृशटीकापुस्तकेष्विह 'पृथये'—इत्येव ।

“अपि ह स्मीति । ‘अपि’ खलु ‘अस्मी’ यजमानाय , तदर्थम् ,  
 ‘आरण्यान्’ अरण्ये भवान् ‘पशून्’ ‘अभिद्वयन्ति’ । किम् ?  
 इति । “असाविति । तत्तन्मृगनाम्नः सम्बद्धान्तस्य सामान्य-  
 निर्देशः । हे पशो ! ‘एहि’ आगच्छ , अयं ‘राजा’ ‘त्वा’  
 त्वां ‘पच्यते’ भोक्तुं पक्वं करिष्यति ‘१ न’ । सोऽपि पशुः  
 तद् वचः श्रुत्वा तत्कामीपं स्वयं मेवागच्छति । ‘तथा’ सति  
 ग्राम्यारण्यभक्षणस्य सर्वस्यावश्यावरोधः । विदुषोऽद्यतनस्यापि  
 अनुष्ठातुस्तत्फलमाह— “सर्वे ह वा इति ॥ ४ ॥

एतेषां सङ्ख्यां विधत्ते— “तानि वै द्वादशेति । उक्तां  
 सङ्ख्यां संवत्सरात्मना प्रशंसति— “द्वादशेति ॥ ५ ॥

एतेषां हवनकालं विधत्ते— “षडिति । द्वादशानां पदा-  
 र्थानां मध्ये पूर्वषट्कस्यान्ते “बृहस्पतये स्वाहा”—इति पठ्यते,  
 उत्तरषट्कस्यादौ “इन्द्राय स्वाहा”—इति \* । तयोरुभयोर्मध्ये  
 अभिषेकेण यजमानं ब्रह्मक्षत्रवीर्याभ्याम् उभयतः सम्बर्हित-  
 चान् भवतीति ॥ ६ , ७ ॥

अभिषेकस्य पुरस्तात् कर्त्तव्यं होम मन्त्रं मन्त्रान्  
 विधत्ते— “स जुहोतीति । “अग्नये स्वाहा”—इत्यादयो मन्त्राः † ।  
 तत्रैकैकं मन्त्रं स्तोति— “तजो वा अग्निरित्यादिना । अर्थ-  
 वादवाक्येषु स्पष्टोऽर्थः । सोमादिपदानां देवतान्तरवाचकत्वं  
 व्युदस्यति— “तान्येतान्यग्निनामानानीति । ‘तानि’ पूर्वाणि  
 पार्थानि ‘अग्निनामान्याचक्षते’, ब्रह्मवादिन इति शेषः ; अग्नेः  
 सर्वदेवतात्मकत्वादिति भावः ॥ ८ ॥

\* वा० सं० १०. ५. ६ , ७ मन्त्रौ द्रष्टव्यौ ।

† वा० सं० १०. ५. १-६ ।

अभिषेकस्योपरि कर्त्तव्यं होममन्त्र मनूय मन्त्रान् सार्थ-  
वादं विधत्ते— “अथ जुहोतीति । “इन्द्राय स्वाहा”—इत्या-  
दयो मन्त्राः \* । अचेन्द्रादयः पञ्च देवता अपि वीर्यात्मना  
सुताः । “तदेन ३-५ सर्वस्येति । अर्यमदेवत्यहोमेन ‘एनं’  
यजमानं ‘सर्वस्य’ ‘अर्घमणं’ नियन्तार मधिपतिं कृतवान्  
भवतीत्यर्थः । इन्द्रादिषड्देवतावाचकानां पदानां देवता-  
नानात्ववाचकत्वं व्युदस्यति— “आदित्यनामानीति । इन्द्रादय-  
शब्दा आदित्यस्यैव सूर्तिभेदेनावस्थितस्य नामानि । पूर्वं  
मग्निवाचकैर्नामभिर्होमेन भूलोके यजमानं निहितवान् भवति,  
अन्तत आदित्यवाचकैर्नामभिर्होमेन स्वर्गलोके अवस्थापितवान्  
भवतीत्युभयार्थवादवाक्यतात्पर्यार्थः ॥ ८ ॥

अभिषेचनीयानां पात्राणा मासादनपदेशं विधत्ते,— “अग्ने-  
णेति । सूत्रन्तु पूर्वं मुदाहृतम् । अभिषेचनीयशब्दं निर्वर्त्त-  
“यचेति । यत् तेषु पात्रेषु ‘एताः’ विहिताः सप्तदश ‘आपः’  
‘अभिषेचनीयाः’ अभिषेक्तव्या आसिच्यमानाः ‘भवन्ति’, तानि  
अभिषेचनीयानीति ॥ १० ॥

तानि पात्राणि अभिषेक्तृविशेषसहितानि क्रमेण विधत्ते—  
“पालाश मिति † । ‘पालाशम्’ पलाशशाखानिर्मितं मेकं  
पात्रम् । ‘तेन’ पात्रेण ‘ब्राह्मणः’ यजमान मभिषिञ्चेत् ।  
पालाशेनैव ब्राह्मणकर्त्तृकयजमानाभिषेककरणे कारणमाह—  
“ब्रह्म वा इति । ‘पालाशः’ ‘ब्रह्म वै’ वृक्षेषु ब्राह्मणजातिः ॥ ११ ॥

\* वा० सं० १०. ५. ७—१२ ।

† ‘अभिषेचनीयेष्वेना आनयति’—इति का० श्रौ० सू० १५. ५. ६ । ‘पाला-  
शादिचतुर्षु पात्रेषु चतुर्धा विभज्य आनयति एना अपः’—इति तद्दृष्टिः ।



श्रीदुम्बर मिति । 'श्रीदुम्बरम्' उदुम्बरनिर्मितं पात्रं द्वितीयम् । 'तेन' पात्रेण 'स्वः' ज्ञातिः भ्राता अभिषेकं कुर्यात् । तत्रोपपत्तिं दर्शयति— "अन्नं वा इति । उदुम्बरस्यान्नसाधनत्वात् तदुक्तम् । अन्नमेव पुरुषस्य 'स्व' धनं यतः, अतोऽस्य 'पुरुषस्य यावत् स्वं भवति', 'तावत्' 'न एव अशनायति' क्षुधितो न भवतीत्यर्थः; धनस्य विद्यमानत्वात् । अतोऽन्नस्य स्वत्वाद्दन्नसाधनेनौदुम्बरपात्रेण 'स्वः' ज्ञातिभ्राता एवाभिषिञ्चेत् ॥ १२ ॥

"नैयग्रोधपाद मिति । तृतीयं 'नैयग्रोधपादम्' । न्यग्रोधो नाम वटः, तस्य पादः शाखावरोहः, तेन निर्मितं नैयग्रोधपादम् । 'तेन' 'मित्त्रः' सखिकर्मणि साधुः सखा 'राजन्यः' अभिषिञ्चेत् । तत्र हेतुमाह— "पद्भिरिति । न्यग्रोधस्य पादैरेव प्रुतिष्ठा दृश्यते; राजापि द्वितीयपदेशकैरासौः सखिभिः प्रतिष्ठितो भवति, नान्यथा । अतस्तेन पात्रेण मित्तकर्तृकमभिषेककरणं युक्तमित्यर्थः ॥ १३ ॥

"आश्वत्य मिति । चतुर्थम् 'आश्वत्यम्' अश्वत्यनिर्मितम्, तेन 'वैश्यः' अभिषिञ्चेत् । अश्वत्यस्य वैश्यसम्बन्धं दर्शयति— "स यदेवेति । व्याख्यातम् । विडूरुपाणां मरुता मश्वत्येऽवस्थानात् वैश्यस्य तत्सम्बन्धः ॥ १४ ॥

अथ पवित्रकरणं विधत्ते— "अथ पवित्रे इति \* । हे 'पवित्रे !' 'वैष्णव्यौ' विष्णुर्यज्ञः, तत्सम्बन्धिन्यौ दर्भनाड्यौ 'स्थः' भवयः, इति मन्त्रस्यार्थः † । दर्भनाड्योर्विष्णुसम्बन्धप्रतिपादकमर्थवादवाक्यमितिदिशति— "सोऽसावेव बभूवुरिति ।

\* का० श्रौ० सू० १५. ५. ४ क ।

† वा० खं० १०. ६. १ ।

‘असौ’ विप्रकृष्टः । प्रथमकाण्डे पवित्रकरणसमये समाम्नातः । तत्र ह्येव साम्नातम्— “पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति, यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिये स्थ इत्येवैतदाहृत्यादि \* ॥

तयोर्दर्मयोर्हिरण्यग्रथनं विधत्ते— “तयोरिति † । दर्भयो-  
स्त्वयोरिति सममी । तत्र ‘हिरण्यं’ ‘प्रवयति’ । “वेज् तन्तु-  
सन्ताने ‡” ; सङ्घर्षीयादित्यर्थः । विधत्ते— “ताभ्यामिति ।  
तच्छब्देन हिरण्यप्रोते पवित्रे लक्ष्यते, ‘ताभ्याम्’ ‘एताः’ उक्ताः  
‘अपः’ उत्पुनीयात् । हिरण्यग्रथनं मनूय प्रशंसति— “तद्य-  
हिरण्यमिति । “अमृतमिति । ‘आसु’ अप्सित्वत्यर्थः ॥ १५ ॥

उत्पवनं मनूय मन्त्रं विधत्ते— “स उत्पुनातीति § ।  
“सवितुर्वः”—इति ॥ मन्त्रस्य पूर्वभागो व्याख्यातः । हे उदक !  
‘अनिभृष्टम्’, “भ्रस्ज पाक्ने” ¶ , यवादिवद् वङ्गिसंयोगेऽपि  
न नितरां भृष्टं, न विनश्यतीति यावत् ; रक्षोभिर्वा न बाधितं  
भवतीत्यर्थः । ‘वाचो बभूवुः’ वाग्व्यवहारस्य कारणम् । ‘तपोजाः’  
“तपः सन्तापे” \*\* । तपःशब्देनाग्निरुच्यते, तस्मात् जातः ।  
“सोमस्य” ‘दात्रं’ दानसाधनं भवसि । उदकसम्बन्धादेव  
सोमरसनियन्तिः ; तादृशो रस एव ह्रियते, अतः सोमस्य

\* १का० १५० ३त्रा० १क० ( ६०८० १५० ) ।

† का० अ० सू० १५. ५. ४ ख ।

‡ भा० प० १००७ घा० ।

§ का० अ० सू० १५. ५. ५ ।

॥ वा० सं० १०. ६. २ ।

¶ तु० पं० ४ घा० ।

\*\* भा० प० ६८५ घा० ।

दानसाधनभूता भवत । स्वाहाकारेण पूता स्य । अत्र स्वाहा-  
शब्दो न होमार्थः ; मन्त्रान्ते पाठाभावात् । ‘राजस्रः’ राजानं  
सुवते जनयन्तीति राजस्रः \* , राजोत्पादका इत्यर्थः ॥

मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याख्यास्यन् सवितुर्व इति मन्त्रभागस्य  
प्रथमकाण्डे उत्पवनसमये समाम्नात । मर्यवादब्राह्मण मति-  
दिशति— “सोऽसाविति । तत्र ह्येव साम्नातम्— “सवितुर्वः  
प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति, सविता  
वै देवानां प्रसविता तत्सवित्प्रसूत एवैतदुत्पुनात्यच्छिद्रेण  
पवित्रेणेति, यो वा अयं पवत एषोऽच्छिद्रं पवित्र मेतेनैतदाह  
सूर्यस्य रश्मिभिरिति, एते वा उत्पवितारो यत् सूर्यस्य रश्मयः,  
तस्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति”—इति † । “अनिभृष्ट मसीति ।  
सामान्यविवृत्तयैकवचनान्तत्वेन प्रयुक्त मपां बहुत्वेन बहुवचना-  
न्ततया व्याचष्टे — “अनाष्टृष्टा स्येति । अपां वाग्बभूवुव मुप-  
पादयति— “यावद्वै प्राणेष्विति । ‘प्राणेषु’ मुखनासिकादिषु  
यावदपां सङ्गावः, तावत् पुरुषो वाचं वदति ; तद्विरहे शुष्का  
जिह्वा शब्दानुच्चारयितुं न शक्नोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

“तपोजा इति । अपां परम्परया अग्निजनकत्वं दर्शयति —  
“अग्नेर्वा इति ॥ १७ ॥

सोमदानसाधनत्वं मुदकस्य निरूपयति— “यदा वा एन  
मिति । ‘यदा’ यस्मिन् काले ‘एनं’ सोमम् ‘एताभिः’ अग्निः  
‘अभिषुण्वन्ति’ अभिषवं कुर्वन्ति, अध्वर्यवः । ‘अथ’ अभिषवान-  
न्तरम् ‘आहुतिः’ भवति ॥ १८ ॥

\* ‘राजस्रवः’— इति शाखान्तरीयः पाठः ।

† १ का० १ प्र० ३ ब्रा० ६ क० ( ६१ पृ० १ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

विधत्ते — “ता एतेष्विति । ‘एतेषु’ अभिवेचनीयेषु ‘पात्रेषु’  
 ‘एताः’ उक्ताः ‘अपः’ ‘व्यानयति’ आसिञ्चेदित्यर्थः \* । ‘सध-  
 मादः’ सह माद्यन्तीति सधमादः, परस्पर मनतिमानित्य  
 इत्यर्थः । “सध मादस्योष्कन्दसि”—इति † सहस्य सधादेशः ।  
 ‘द्युन्निनीः’ वीर्यवत्यः ‘एताः आपः’ । ‘रक्षोभिः’ ‘अनाघृष्टाः’  
 अनभिभूताः, ‘अपस्यवः’ अप इति कर्मनाम ‡, राजसूयाख्यं  
 कर्म इच्छन्त्यः, ‘वसानाः’ “वस आच्छादने” § आच्छा-  
 दयन्त्यो या आपः, सन्तीति शेषः । तासु अतिशयेन माद-  
 भूतासु ‘पस्त्यासु’ ‘पस्त्या’—इति गृह्यनाम ॥, गृहावस्थितास्वसु  
 ‘अन्तः’ मध्ये ‘सधस्य’ सहस्थानं ‘प्रतिष्ठाम्’, ‘अपां शिशुः’  
 वरुणः ; राजसूयेऽङ्गिरभिषिक्तत्वात् तज्जन्यत्व मुच्यते । तथा-  
 विधौ वरुणः ‘चक्रे’ कृतवानिति । यद्वा, ‘पस्त्यासु’ गृहा-  
 वस्थितासु ‘वित्तु’ प्रजास्त्विति व्याख्येयम् ¶ ॥

मन्त्रं प्रतिपाद मनूय तात्पर्यपुरस्सरं व्याचष्टे— “अनति-  
 मानित्य इति ॥ १८ ॥

विधत्ते— “अथैनं वासांसीति । ‘एनं’ यजमानं ‘वासां-  
 सि’ (‘तार्प्यम्’) तार्प्यपाण्डूधिवासोष्णीषाणि परिधापयेदिति  
 सामान्यविधिः । तत्तात्पर्यार्थकथनपुरस्सरं विधत्ते— “तत्तार्प्यं  
 मिति । ‘तत्’ तत्र, तेषु प्रथमं ‘तार्प्यं मिति वासः’ ;  
 न त्वन्यत्, कम्बलादिक मित्यर्थः । अत एव कात्यायनः—

\* का० औ० सू० १५. ५. ६ ।

† पा० सू० ६. ३. ६६ ।

‡ निघ० २. १. १ ।

§ अदा० आ० १३ धा० ।

॥ निघ० ३. ४. ६ ।

¶ वा० सं० १०. ७. १ ।

“तार्ष्यं परिधापयति, क्षीमं, त्रिपाणं वा, घृतोन्न मेके”-  
इति । तृपा-नामौषधिविशेषः, तत्तन्तुनिर्मितम्, क्षीमं वस्त्रं  
‘तार्ष्यम्’, त्रिः कृत्वः पायितं ‘त्रिपाणम्’, ‘घृतोन्नम्’ “उन्दी  
क्लेदने” \*, घृतसिक्तं मिति ‘एके’ आचार्या वदन्ति † ॥

तत्र कश्चिद् विशेषं विधत्ते— “तस्मिन्सर्वाणीति ‡ ।  
‘यज्ञरूपाणि’ सुक्चमसादीनि ‘सर्वाणि’ तस्मिन् ‘स्यूतानि’  
भवेयुः । तार्ष्यस्य परिधापने मन्त्रं विधत्ते— “क्षत्रस्येति § ।  
हे तार्ष्य ! ‘क्षत्रस्य’ राज्ञो यजमानस्य गर्भत्वेनोपचर्यमाणस्य  
‘उल्बम्’ आवरणम् ‘असि’ । उल्बावृतो गर्भ इति कन्दो गा  
आमनन्ति । उल्बत्वं साधयति— “तद्यदेवेति । ‘यद्’ उल्बं  
तस्मादेव ‘एनं’ यजमानम् ‘एतत्’ एतेन तार्ष्यपरिधापनेन  
उत्पादितवान् भवति ॥ २० ॥

विधत्ते—“अथैन मिति । ‘पाण्डुम्’ पाण्डुरम्, श्वेतं कम्बलम्  
परिधापयेत्, तार्ष्यस्योपरि प्राह्णण्यादित्यर्थः ॥ । ‘पाण्डु’-शब्दार्थं  
उक्तः । तदिदं पाण्डुरं द्वितीयम् ; श्वेतम् पाण्डुरं मित्या-  
चक्षते । हे पाण्डुर-कम्बल ! ‘क्षत्रस्य’ पूर्वीतविशिषणस्य ‘जरायु’  
जरायुस्थानीयम् ‘असि’-‘इति’ । ‘एतेन’ पाण्डुरपरिधापनेन ।  
‘ततः’ जरायोः ¶ ॥ २१ ॥

\* ह० प० १६ धा० ।

† का० श्रौ० सू० १५. ५. ७-१० ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ५. ११ ।

§ वा० सं० १०. ८. १ ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. ५. १२ ।

¶ वा० सं० १०. ८. २ ।

विधत्ते— “अधाधीवास मिति \* । अधि उपरि वसनीय  
माच्छादनीयं वस्त्रम् ‘अधीवासम्’, तत् प्रतिमुञ्चेत् । ताप्यं  
मुपसंव्याय पाण्डुर मुत्तरीयवदाच्छाद्य, ‘अधीवासं’ कञ्चुकादिकम्,  
उपरि प्रतिमुञ्चेदित्यर्थः । हे वस्त्र ! ‘क्षत्रस्य’ ‘योनिः’ स्थानम्  
‘असि’ । गर्भरूपयजमानस्य एतानि त्रीणि वस्त्राणि उल्ब-जरायु-  
द्योनि-रूपत्वेन प्रशस्तानीति समुदितोऽर्थः † ॥ २२ ॥

उष्णीषवेष्टनं विधत्ते— “अयोष्णीष मिति ‡ । ‘उष्णीषं  
संहृत्य’ § निवीतरूपेण कण्ठेऽवसज्य ‘पुरस्तात्’ पूर्वभागे नाभिदेशे  
‘अवगूहति’ उष्णीषान्तं नीवीस्थाने ग्रथयेदित्यर्थः । तस्मिन्स्याय  
मर्थः— ‘क्षत्रस्य’ ‘नाभिः’ नाभिस्थानीयम् ‘असि’ इति ॥ २३ ॥

उक्त मुष्णीषायस्य पूर्वदेशेऽवगूहनं द्रढयितुं पूर्वपक्षं सोप-  
पत्तिक मनुवदति— “तद्वैक इति ¶ । ‘एके’ शाखान्तरानु-  
सारिणः ‘तत्’ उष्णीषं ‘समन्तं’ सर्वतो नाभिदेशे ‘परिवेष्ट-  
यन्ति’ । तदुपपादयति— “नाभिर्वा इति । ‘अस्य’ क्षत्रि-  
यस्य ‘एषा’ उष्णीषरूपा ‘नाभिः’ अपि ‘समन्तं’ ‘पर्येति’  
परिवेष्टिता भवति । अतः “क्षत्रियस्य नाभिरसि”—इति मन्त्रे  
उष्णीषस्य नाभित्ववचनात् तस्मास्याय समन्ताद् वेष्टनं मुक्तं  
मित्येकेषां मतम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ५. १३ क ।

† वा० सं० १०. ८. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ५. १३ ख ।

§ ‘संहृत्य’—इति ज-पाठः ।

॥ वा० सं० १०. ८. ४ ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. ५. १४ ।

तद् दूषयति—“तदु तथेति । उक्तं स्वमतं निगमयति—  
 “पुरस्तादेवेति । तत्र हेतु माह—“पुरस्ताद्धीय मिति ।  
 तार्प्यादिवासःपरिधापनं सम्भूय प्रशंसति—“तद्यदेनं वासांसीति ।  
 ‘एतत्’ एतेन वासःपरिधापनेन ‘एनं’ यजमानं ‘जनयति’  
 उत्पादितवान् भवति ; तेषां वाससा सुल्वजरायुयोनिरूपत्वोक्तेः ।  
 किमर्थं जनन मिति तत्राह—“जात मभीति । ‘जातं’ यज-  
 मानम् ‘अभिषिञ्चानि’ अभिषिक्तं करवाणि ‘इति’ बुद्ध्या ‘वा-  
 सांसि’ परिधापयेदित्यर्थः \* ॥ २४ ॥

पूर्वं निहितस्य दीक्षितवसनस्य परित्यागं विधितुरेकेषां  
 मतं सुपत्न्यस्यति । यद्वा , अयं मपरः सम्बन्धः— विहितानां  
 तार्प्यादीनां परिधापनादिकं मेव द्रढयितुं पूर्वपक्षयति—  
 “तद्वैक इति । ‘एके’ शाखिनः एकवारं परिधापितानि ‘एतानि  
 वासांसि’ ‘निदधति’ विदधत्य निदधुः । ‘अथ’ तदानीं मेव  
 तार्प्यादिवसनकाले निहितं ‘दीक्षितवसनम्’ ‘एनं’ यजमानं  
 ‘पुनः परिधापयन्ति’ । पुनःपरिधापनकालसु सूत्रकृता दर्शितः—  
 “दीक्षितवचननिवृत्तिर्विरोधात् , माहेन्द्रादौ वा पुनःपरिधानं  
 निधायैतान्”—इति † । तद् दूषयति—“तदु तथेति । अङ्गानि  
 वा इति । ‘वासांसि’—इति यत् तानि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘जनूः  
 अङ्गानि’ सहोत्पन्नानि । तार्प्यादीनां वाससा सुल्व-जरायु-  
 प्रभृत्यात्मकत्वादङ्गत्वम् । उक्त्वादीनान्तु गर्भावस्थायां भव निवासा-  
 दङ्गत्वं सुपचरितम् ॥

\* “तार्प्यप्रभृतीनि चक्षस्येति प्रतिमन्त्रम्”—इति का० श्रौ० सू०

१५. ५. १५ । मन्त्रास्तु ते वा० सं० १०. ८. १—४ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ५. १६ ।

यद्वा, अयं मर्थः— ‘वासांसि जनूरङ्गानि’ सहोत्पन्नत्वात् \* त्वग्रूपाण्यङ्गानि । ‘वै’-शब्दः प्रसिद्धिद्योतकः । तृतीयकाण्डे दीक्षाप्रकरणे “अथ वासः परिधत्ते”—इत्युपक्रमस्यान्नातम्— “तस्मिन् एतां त्वच मदधुः वास एव तस्मात् नान्यः पुरुषाद् वासो विभर्ति”—इति † । अतो वासोभिः परिधापनेन ‘जन्वा’ ‘तन्वा’ सहोत्पन्नैः शरीररूपैः ‘अङ्गैः’ समर्थितवान् भवति । अङ्गसमुदाय एव हि तनूः, शरीरेण तदङ्गैश्च संवर्धितवान् भवति । दीक्षितवसनस्य परित्यागं दर्शयितुं तस्य दुष्टत्वमाह— “वरुण्य मिति । वरुणगृहीतं दुष्टमित्यर्थः ॥

“स एतेषा मित्यादिकस्यायं मर्थः— उक्तानां वाससा मेकेन तार्प्येण ‡ प्रथमातिक्रमे कारणाभावात् । यद्वा, ‘एकम्’ प्रथममित्यर्थः । प्रथमन्तु तार्प्यम्, तेन परिधापनं कर्त्तव्यम् । न तु दीक्षितवसनस्य पुनः परिधापनमित्यर्थः ॥ २५ ॥

निहितस्य दीक्षितवसनस्य अवभृथे प्रासनं विधत्ते— “स यच्चेति । ‘अवभृथम्’ ‘अभ्यवहरन्ति’ आहरेयुः, अप्सु प्रक्षिपेयुरित्यर्थः । ‘तत्’ तथा सति ‘सलोमं क्रियते’ प्रकृतगतमनुसृतं भवतीत्यर्थः । प्रकृतौ तु § दीक्षितवसनस्य अवभृथे परित्याग उक्तः । “स एतेषा मित्यादिनादिशति । माहेन्द्रादौ दीक्षितवसनस्य पुनः परिधानं न कृतम्, तदा तार्प्यादीनामेकैकेनैव परिहितेन वाससा अवसृथावतरणमुत्तरणं च

\* ‘सहोत्पन्नानि’—इति छ, ज ।

† ३. १. २. १३—१६ (१५, १६ पृ०) ।

‡ ‘तार्प्ये’—इति च ।

§ ‘तु’-शब्दो नास्ति ज-पुस्तके ।



कर्त्तव्यमित्यर्थः । ‘उदैति’ उभरेत् । तेषां वाससां दानकालं विधत्ते—“तानि वशाया इति । अनुवन्ध्यावशाया वषायाग-  
काले बाध्वर्यवे ‘दद्यात्’ । अवसाने कर्त्तव्या उदवसानीयेष्टिः,  
तस्यां वा दद्यात् । अतएव कात्यायनः—“अवभृथ मेकेन  
तार्प्यादीनि चेदुदैत्येकेन, दीक्षितवसनं च प्रास्यति, अनूवन्ध्या-  
वषाहोमान्ते दद्यादेतानि, उदवसानीयायां वा”—इति \* ॥ २६ ॥

“अथ धनुरधीति † । ‘अधितनोति’ आतनोतीत्यर्थः ।  
मन्त्रस्याय मर्थः— हे धनुः ! त्वम् ‘इन्द्रस्य’ ‘वार्त्तन्न’ वृत्त-  
हननसाधनमायुधम् ‘असि’ भवसि ‡ । इन्द्रशब्दार्थमाहुः—  
“इन्द्रो वा इति । कथं यजमानस्येन्द्रत्वमिति तदुपपादयति—  
“ह्येनेति । क्षत्रिय इति यत्, यजमान इति यत्, तेन  
ह्येनेत्यर्थः । क्षत्रं नाम बलम् ; तत्सम्बन्धात्, यष्टृत्वाच्चेत्यर्थः ।  
इन्द्रस्य यजमानत्वं प्रागुक्तम् ॥ २७ ॥

विधत्ते—“अथ बाहु इति § । हे बाहो ! ‘मित्रस्य’  
‘असि’ भवसि ॥ तथापरं बाहुं प्रत्याह—“वरुणस्यासीति ¶ ।  
बाहुद्वयं विमृज्यात् । कर्कोपाध्यायेन तु बाहुशब्दस्य धनुष्कोटि-  
परत्वं व्याख्यातम् \*\* । त मिमं प्रशंसति—“बाह्वोरिति ।  
बाहुभ्यां खलु मित्रवरुणसम्बन्धी राजन्यो भवति ; बाहुवीर्य-

\* का० श्रौ० सू० १५. ७. २५—२८ द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १५. ५. १७ ।

‡ वा० सं० १०. ८. ५ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ५. १८ ।

॥, ¶ वा० सं० १०. ८. ६, ७ ।

\*\* “बाहु धनुःकोट्यावृत्ते”—इति (१५. ५. १८) ।

सङ्गावो राज्ञो लक्षण मित्यर्थः । धनुःप्रदानं समन्त्रकं विधत्ते—  
“तदस्मा इति \* । हे धनुः ! ‘त्वया’ साधनेन ‘अयं’ यज-  
मानो ‘वृत्रं’ शत्रुं ‘वधेत्’ हिंसादिति । मन्त्रं व्याचष्टे—  
“त्वयायं द्विषन्ति मिति † ॥ २८ ॥

अत्रेषु द्वयदानं विधत्ते— “अथास्मा इति । ‘तिस्रः’—इति  
लोकत्रयात्मकत्वेन । शस्त्रानां मिषूणां लक्षणं सञ्ज्ञां च दर्श-  
यति— “स ययेति ।

‘समर्पणेन’ परित्यागमात्रेण ‘यया’ ‘परान् भिनत्ति’ शत्रून्  
विदारयति, तस्या एकस्याः ‘दृवा’—नामधेयायाः पृथिव्यात्मक-  
त्वेन प्राशस्त्य मित्यर्थः । ‘यया’ विद्वस्य ताडितस्य जीवने  
सन्देहः, तस्याः ‘रुजा’—नाम्नाया अन्तरिक्षात्मकत्वम् । यया  
राजा शत्रुम् ‘अपराधोति’ हिनस्येव, तस्याः ‘क्षुमा’—नामधे-  
यायाः तृतीयलोकात्मकत्वेन प्राशस्त्य मित्यर्थः ‡ ॥

अत्र कञ्चिद् विशेषं कात्यायनः सूत्रयामास— “दृवासीति  
प्रतिमन्त्र मादाय तिस्र इषूः प्रयच्छति”—इति § । तेषां  
मन्त्राणां मय मर्थः ।— ‘दृवा’ “दृ विदारणे” ॥, दृणातीति  
‘दृवा’ विदारिका ‘असि’ इति । दृष्यतेर्वा रूपम् । इति  
प्रथमेषुग्रहणम् । ‘रुजा’ “रुजो भङ्गे” ¶, भङ्गहेतुरिषुरसि ।

\* का० श्रौ० १५. ५. १६ ।

† वा० सं० १०. ८. ६ ।

‡ एतदन्तानि व्याख्यानानि एतद्भाष्यान्तावयवभूतानि क-पुस्तके ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ५. २० ।

॥ त्रा० प० २० धा० ।

¶ तु० प० १३६ धा० ।

अनेन द्वितीयशरणग्रहणम् । ‘क्षुमा’ “क्षुप विधूनने” \*,  
क्षुपतीति क्षुपा, एकारस्य स्थाने मकार; शत्रुक्षुपणकारिणी  
इषुरसि । अनेन तृतीयशरणग्रहणम् । एव मादाय दद्यात् ॥ २६ ॥

इषुदान मनूय मन्त्रं विधत्ते— “ताः प्रयच्छतीति † ।  
‘एनं’ यजमानं ‘प्राञ्चं’ प्रागञ्चनम्, प्राग् गन्तारम् हे इषवः !  
‘पात’ पालयत । ‘प्रत्यञ्चम्’ प्रत्यग् गन्तारम्, ‘तिर्यञ्चम्’  
तिर्यग् गन्तारम्, किं बहुना ‘दिग्भ्यः’ सर्वाभ्यः ‘पात’ इति ।  
‘तदस्मा इति । ‘अशरव्याः’ अहिंसकाः ; शरव्यं शरलक्ष्यम्,  
तद्रहिताः ‘करोति’ । अनेन सर्वास्तपि दिक्षु परकीयशर-  
लक्ष्यत्वं निवर्त्यते ‡ ॥

इमं मन्त्रं मिश्रमभिर्मर्शनेऽपि कात्यायनो विनियुक्तवान्—  
“पातैन मिश्रमभिमृशति”—इति § । आपस्तम्बोऽपि— “पात  
मा प्रत्यञ्च मिति प्रदीयमानाननुमन्त्रयते”—इति ॥ ३० ॥

विधत्ते— “अथैन माविद इति ¶ । आविस्त-पदयुक्ताः  
सप्त मन्त्राः ‘आविदः’, तान् वाचयतीत्यर्थः । आविदयन्ति ज्ञाप-  
यन्ति देवताभ्य एनं यजमानं मित्याविदो मन्त्राः ।

तत्र मन्त्रान् विधत्ते— “आविर्मर्या इति \*\* । ‘आवि-

\* सौत्रोऽयं मवसादनार्थो धातुः ; ततो वोपदेवेन भा० प० पठितः ।

† वा० सं० १०. द. १०, ११, १२ ।

‡ वा० सं० १०. द. १३ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ५. २० ख ।

॥ आप० श्रौ० सू० १८. १४. १३ ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. ५. २१ ।

\*\* वा० सं० १०. द. १-७ ।

र्मया इत्यनिरुक्तम्' साक्षाद्देवतावाचकपदरहितं मन्त्रं वाचये-  
दित्यर्थः । हे 'मर्याः' मरणयोग्या मनुष्याः ! 'आविः' प्रकाशो-  
ऽभूत् । अनेन कस्यै देवतायै यजमान मावेदितो भवतीत्या-  
शङ्क्य तां देवतां दर्शयति— "प्रजापतिरिति । 'प्रजापतिः' खलु  
'अनिरुक्तः' ईदृश इति वक्तुं मनर्हः ; तस्मादनेन यजुषा अनिरुक्तेन  
अनिरुक्तात्मने 'प्रजापतये' 'एजं' यजमानम् आवेदितवान् भव-  
तीत्यर्थः । आवेदनस्य फलमाह— "सोऽस्मा इति । 'सः'  
आवेदितः ज्ञापितः प्रजापतिः 'अस्मै' सुन्वते 'सवम्' अभिषेकम्  
'अगुमन्वते', 'तेन' प्रजापतिना 'अनुमतः' अनुज्ञातः 'सूयते'  
अभिषिच्यते । एवमुत्तरत्रापि व्याख्येयम् ॥ ३१ ॥

"आवित्तो ऽग्निर्गृहपतिरितीति । गृहपतिगुणकः 'अग्निः'  
'आवित्तः' आवेदितः, ज्ञापितः । "वित्तो भोगप्रत्यययोः"—इति \*  
निपातितः । अग्नये यजमानं ज्ञापितवानित्यर्थः ॥ ३२ ॥

"आवित्त इन्द्रः † इति । 'वृद्धश्रवाः' । "श्रव इत्यन्ननाम,  
श्रूयत इति सतः"—इति हि यास्कः ‡ । वृद्धं प्रभूतं मन्त्रं  
यस्य ॥ ३३ ॥

"आवित्तौ मित्रावरुणाविति । 'धृतव्रतौ' । धृतमिति कर्म-  
नाम § , अवधीरितकर्माणी ॥ ३४ ॥

"आवित्तः पूषा इति । 'विश्ववेदाः' सर्वधनः ॥ ३५ ॥

"आवित्ते द्यावापृथिवी इति । 'विश्वशम्भुवौ' सर्वस्य  
जगतः सुखस्य भावयित्रौ ॥ ३६ ॥

\* पा० सू० द. २. ५८ ।

† 'आवित्तोऽइन्द्रः'—इति ग, घ ।

‡ निरु० १०. १. ३ ।

§ निघ्न० २. १. ७ ।

“आविष्ठादितिरिति \* । ‘उरुशर्मा’ प्रभूतं सुखं यस्याः,  
‘अदितिः’ अखण्डनीया देवमाता । भूमिरेव काश्चिन्भूतिं  
धृत्वा देवमातादितिरित्युच्यते † ॥

एता देवताः सम्भूय प्रशंसति— “तद्याभ्य एवैन  
मिति ॥ ३७ ॥ २ [ ३. ५. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे तृतीयाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थान्श्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ३ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम्,  
सप्तारब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतल्लताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोस्त्रां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,  
व्यश्राणीहिश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो राजतं राजपूज्यः ।

\* ‘केवाचित् प्रतिमन्त्रम्, नेति सम्प्रदायः’—इति का० श्रौ० सू०

१५. ५. २१ इतिः ।

† अखण्डनीयेशी शक्तिरिति नैरुक्ताः ।

आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रः शार्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि मङ्गत मुदा पात्रसास्त्रिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-  
श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
पञ्चमकाण्डे तृतीयाध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

( अथ चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् . )

केशवस्य पुरुषस्य । लोहायसु मास्य ऽत्राविध्यत्यु-  
वेष्टा दन्दशूका इति सर्वान्वा ऽएषु मृत्यूनति-  
मुच्यते सर्वान् वधान् \* यो राजसूयेन यजते तस्य  
जुरैव मृत्युर्भवति तद्यो मृत्युर्यो बधस्तु† मेवैतदति-  
नयति. युहन्दशूकान् ॥ १ ॥

अथ यत् केशवस्य पुरुषस्य । न वा ऽएष  
स्त्री न पुमान्यत् केशवः पुरुषो यदह पुमांस्तेन  
न स्त्री यदु केशवस्तेनो न पुमान्नैतद्यो न  
हिरण्यं‡ यल्लोहायसु नैते क्रिमयो नाक्रिमयो  
युहन्दशूका अथ यल्लोहायसम्भवति लोहिता इव  
हि दन्दशूकास्तस्मात् केशवस्य पुरुषस्य § ॥ २ ॥

\* 'वधान्'—इति ग, घ ।

† 'बधस्तु'—इति ग, घ ।

‡ 'हिरण्यं'—इति क ।

§ 'पुरुषस्य'—इति क, ख ।

अथैनं दिशः समारोहयति । प्राचीमारोह  
गायत्री त्वावतु रथन्तरं साम त्रिवृत स्तोमो  
व्यसन्तु ऋतुर्ब्रह्म द्रविणम् ॥ ३ ॥

दक्षिणमारोह । त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत् साम  
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ४ ॥

प्रतीचीमारोह । जगती त्वावतु व्यह-  
पं साम सप्तदश स्तोमो व्यर्षा ऋतुर्विड्  
द्रविणम् ॥ ५ ॥

उदीचीमारोह । अनुष्टुप् त्वावतु व्यैराजं  
सामैकविंश स्तोमः शरदृतुः फलं द्रविणम् ॥ ६ ॥

जर्ध्वमारोह । पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्ररैवते  
सामनी त्रिणवत्यस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशि-  
रावृतं व्युर्चो द्रविणमिति ॥ ७ ॥

तद्यदेनं दिशः समारोहयति । ऋतूनां  
मेवैतद्रूपं मृतूनेवैतत् \* संवत्सरं समारोहयति  
सु ऋतुन्त्वं संवत्सरं समारुह्य सर्वं मेवेद् मुपयु-  
परि भवत्यव्यग्नि-†-वास्मादिदं सर्वं भवति ॥ ८ ॥

\* 'मेवैनं मेतद्रूपं ऋतूनेवैनं मेतत्'—इति घ ।

† 'भवत्यव्यग्निः'—इति ग, घ ।



शार्दूलचर्मणो जघनार्धे \* । सीसं निहितं  
भवति तत् पदा प्रत्यस्यति प्रत्यस्तं नमुचेः शिर  
इति नमुचिर्ह वै नामासुर आस तमिन्द्रो  
निविध्याध तस्य पदा शिरो ऽभितष्ठौ स यद-  
भिष्ठित उदुवाधत स उच्छ्वङ्गस्तस्य † पदा शिरः  
प्रचिच्छेद ततो रुद्धः समभवत्तद्व सैन मनुभाषते  
क्व गमिष्यसि क्व मे मोक्ष्यस इति ॥ ९ ॥

तत् सीसेनापजघान । तस्मात् सीसं मृदु  
सृतजवः ‡ हि सर्व्वेण हि व्वीर्य्येणापजघान तस्मा-  
द्विरग्यरूपः सन्न कियच्च नार्हति सृतजवः ‡ हि  
सर्व्वेण हि व्वीर्य्येणापजघान तद्वै स तन्नाष्ट्रा  
रुक्ताः स्यपजघान तथो ऽएवैष एतन्नाष्ट्रा रुक्ताः-  
स्यतो ऽपहन्ति ‡ ॥ १० ॥

अथैनः शार्दूलचर्मा रोहयति । सोमस्य  
त्विषिरसीति युव वै सोम इन्द्र मत्यपवत स  
यत्ततः शार्दूलः समभवत्तेन सोमस्य त्विषि-

\* 'नार्धे'—इति ग, घ ।

† 'उच्छ्वङ्गस्तस्य'—इति ख ।

‡ 'ऽपहन्ति'—इति क ।

स्तुस्मादाह सोमस्य त्विषिरसीति तवेव मे त्विषि-  
भूयादिति शार्दूलत्विषि मेवास्मिन्नेतद्वधाति तस्मा-  
दाह तवेव मे त्विषिभूयादिति \* ॥ ११ ॥

अथ रुक्म मधुस्तादुपास्यति । मृत्योः पाहीत्य-  
मृत मायुर्हिरण्यं तदमृत ऽत्रायुषि प्रति-  
तिष्ठति † ॥ १२ ॥

अथ रुक्मः शतवितस्नो वा भवति । नव-  
वितस्नो वा स यदि शतवितस्नः शतायुर्वी  
ऽत्रयं पुरुषः शततेजाः शतवीर्यस्तस्माच्छतवितस्नो  
यद्यु नववितस्नो नवेमे पुरुषे प्राणास्तस्मान्नव-  
वितस्नः ॥ १३ ॥

तु मुपरिष्ठाच्छीर्ष्णी निदधाति । ओजोऽसि  
सहो ऽस्यमृत मसीत्यमृत मायुर्हिरण्यं तदस्मिन्नमृत  
मायुर्दधाति तद्यद्रुक्मा ऽउभयतो भवतो ऽमृत  
मायुर्हिरण्यं तदमृतेनैवैन मेतदायुषोभयतः परि-  
वृहति तस्माद्रुक्मा ऽउभयतो भवतः ‡ ॥ १४ ॥

\* '०दिति'—इति क । '०दिति'—इति ग, घ ।

† 'तिष्ठति'—इति क ।

‡ 'भवतः'—इति ग, घ ।

अथ बाहू ऽउद्गृह्णाति । हिरण्यरूपा ऽउपसो  
 विरोक्तु ऽउभावन्द्रो ऽउदिथः सूर्यश्च । आरो-  
 हतं व्वरुण मित्रं गुत्तं ततश्चक्षाथा मुदितिं  
 दितिं चेति बाहू वै मित्रावरुणौ पुरुषो गुत्त-  
 स्तुस्मादाहारोहतं व्वरुण मित्रं गुत्तं मिति तत-  
 श्चक्षाथा मुदितिं दितिं चेति ततः पश्यतः खं  
 चारणं चेत्येवैतदाहुः \* ॥ १५ ॥

नैतनोद्गृह्णीयात् । मित्रोऽसि व्वरुणोऽसी-  
 त्येवोद्गृह्णीयाद् बाहू वै मित्रावरुणौ बाहुभ्यां  
 वै राजन्यो मैत्रावरुणस्तुस्मान्मित्रोऽसि व्वरुणो-  
 ऽसीत्येवोद्गृह्णीयात् ॥ १६ ॥

तद्यदेन मूर्ध्वाहु मभिषिञ्चति । व्वीर्यं वा  
 ऽएतद्राजन्यश्च बद्धाहु व्वीर्यं वा ऽएतदपां रुसः  
 सम्भृतो भवति येनैन मेतदभिषिञ्चति नेन ऽइदं  
 व्वीर्यं व्वीर्यं मपां रुसः सम्भृतो बाहुं त्विना-  
 दिति तस्मादेन मूर्ध्वाहु मभिषिञ्चति ॥ १७ ॥ ३॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [४. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

× × × ( ? \* ) । कात्यायनः— “अवेष्टा इति लोहा-  
यस माविध्यति केशवास्ये सदोऽन्त उपविष्टाय”—इति † ।  
सदसो मध्ये उपविष्टस्य केशवस्य क्लीबस्य वदने “अवेष्टा”—  
इतिमन्त्रेण ‡ ताम्र मर्पयेत् । तदिदं विभक्ते— “केशवस्येति  
‘लोहायसं’ ताम्रम् ‘आ विध्यति’ अर्पयेत् । ‘दन्द्शूकाः’ दंशन-  
शीलाः, मृत्यव इहाभिप्रेताः । ‘अवेष्टाः’ अवपूर्वो यजि-  
र्नाशार्थे वर्त्तते, विनाशयिता इति ॥

व्याचष्टे— “सर्वान् वा इति । ‘यो राजसूयेन’ यजते, स  
‘सर्वान् मृत्यून’, ‘सर्वान्’ परकृतान् ‘बधान्’ अपि ‘अति-  
मुच्यते’ अतिक्रामेत । सुन्वतो ‘मृत्युः’ नाम ‘जंरा’, देहवि-  
दारकत्वात् । तस्माद् दन्द्शूकपदेन मृत्यवो बधाश्च विव-  
क्षिताः, तान् केशववदने ताम्रनिधानेन नाशितवान् भवतीति  
तात्पर्यार्थः ॥ १ ॥

केशवलोहायसदन्द्शूकाना मन्तरालवर्त्तित्वं सम्यगुपपादयति—

\* यदाप्युक्तमेऽप्यादर्शपुस्तके नात्र कश्चित् पाठोऽवलोक्यते, पर  
मध्यायादौ ब्राह्मणारम्भेऽत्र नूनं मर्थसङ्केपवर्णपरिणावतरणिकोक्तेखेन  
किञ्चित्पाठेन भवितव्यम्, नष्टं तल्लिपिकरपरम्परयेद्यस्माक मिति ।

† का० श्री० सू० १५. ५. २२ ।

‡ वा० सं० १०. १०. १ ।

“अथ यत् केशवस्येति \* । एतद् वाक्यं परिसुत्क्रयणे व्याख्या-  
तम् । दन्दशूकानां मय्यन्तरालवर्त्तित्वं दर्शयति— “नैते क्रिमयः  
इति । दन्दशूकानां मपि लोहितत्वात् लोहितायसेन भाव्य  
मित्यर्थः ॥ २ ॥

सूत्रम्— “सुन्वन्त माक्रमयन् दिशः प्राचीमारोहेति वाच-  
यति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्ग माक्रम्य”—इति † । अध्वर्युः  
प्राच्यादिकाः पञ्च दिशो यजमान माक्रमयन् “प्राचीमारोह”  
—इत्यादिकांस्तत्तद्विक्प्रतिपादकान् मन्त्रान् वाचयेदित्यर्थः ।  
तत्र दिगाक्रमणं विधत्ते— “अथैनं दिश इति । ‘समारो-  
हयति’ आक्रमेत् । प्राचीदिगाक्रमणमन्त्रं विधत्ते— प्राची  
मारोहेति ‡ । हे यजमान ! ‘प्राचीम् आरोह’ । तथा स्थितं  
‘त्वा’ त्वां, हृन्दसां मध्ये गायत्री ‘अवतु’, सान्नां मध्ये ‘रथ-  
न्तरं साम रक्षतु, स्तोमानां मध्ये ‘विष्टु’ ऋङ्गवकात्मकः  
स्तोमः, ऋतूनां मध्ये वसन्ताख्य ऋतुः, ‘ब्रह्म’ त्वदीयं  
‘द्रविणं’ धनं रक्षतु; ब्रह्मरूपं धनं वा श्रवत्विति । एव  
मुत्तरत्रापि ।

“अभि त्वा शूर नोनुमः”—इत्यस्या § मृच्युत्पन्नं साम रथ-  
न्तर मिल्युच्यते ॥ । “उपास्मै गायता नरः”—इति सूक्तत्रये

\* इत उत्तरस्थ ( ४. १. ३—४. ४. ५. ) गन्धस्य भाष्यं छ-च-  
ण-पुस्तकेषु नास्ति; छ-पुस्तकमात्रेऽवलोक्यते ।

† का० श्रौ० सू० १५. ५. २३ ।

‡ वा० सं० १०. १०. २ ।

§ सा० छ० आ० ३. १. ५. १ ऋचि ।

॥ सा० गा० आ० २. १. २१ साम ।

आद्याभिस्त्रिभिर्यमाभिरुत्तमाभिश्चोद्गाढगानेन तिरावृत्तस्त्रि-  
वृत्स्तोमो भवति \* ॥ ३ ॥

दक्षिणदिगाक्रमणं विधत्ते— “दक्षिणा मारोहेति † ।  
पूर्ववद् योजनीयम् । “त्वा मिद्धि हवामहे”—इत्यस्या मृचि ‡  
उत्पन्नं साम ‘बृहत्’ § १ पञ्चदशस्तोमकरण मेवम्— पूर्वोक्त-  
त्रिवृत्स्तोमः खलु सूक्तत्रयनिष्पाद्यः ; अन्ये तु स्तोमा एकै-  
केन वृत्तात्मकेन सूक्तेन निष्पाद्यन्ते । तत्र चायं क्रमः—  
“प्रथमं पर्यायं पञ्चभिर्ऋग्भिर्गीयते । तद्यथा— प्रथमा मृचं  
त्रिर्गायेत्, इतरे द्वे सकृत्-सकृत् ; तृतीये तु उत्तमां त्रिर्गायेत्,  
आद्ये द्वे सकृत्-सकृदिति ॥ । ‘क्षत्रम्’ क्षत्रियः ॥ ४ ॥

प्रतीच्या मन्त्रं विधत्ते— “प्रतीची मारोहेति ¶ । “यद्  
द्याव इन्द्र ते शतम्”—इत्यस्या मृचि \*\* उत्पन्नं साम ‘वैरू-  
पन्’ †† । सप्तदशस्तोमसम्पादन मेवम्— प्रथमपर्याये प्रथमा  
मृचं त्रिर्गायेत्, द्वितीयपर्याये मध्यमां त्रिः, तृतीयपर्याये  
मध्यमा मुत्तमाञ्च त्रिः, अन्याः सकृत्-सकृदिति ‡‡ । वैश्यो  
जातिरित्यर्थः ॥ ५ ॥

\* ता० ब्रा० १. २. १—३ ख० ।

† वा० सं० १०. ११. १ ।

‡ सा० कृ० आ० ३. १. ५. २ ।

§ सा० गा० आ० १. १. २७ ।

॥ ता० ब्रा० १. २. ४—६ ।

¶ वा० सं० १०. १२. १ ।

\*\* सा० कृ० आ० ३. २. ४. ६ ।

†† सा० गा० आ० १. १. ६ ।

‡‡ ता० ब्रा० १. २. ७—१३ ।

उदीच्या मन्त्रं विधत्ते — “उदीची मारीहेति \* । “पिबा सोम मिन्द्र मन्दतु त्वा”-इत्यस्या ऋचि १० उत्पन्नं साम ‘वैराजम्’ † । एकविंशतिस्तोमनिष्पत्तिप्रकारस्त्वेवम्— प्रथमे पर्याये उत्तमां सक्तद् गायेत्, द्वितीये पर्याये मध्यमां सक्तद् गायेत्, तृतीये पर्याये सर्वत्रेतरास्त्रिस्त्रिरित्येवं कृते एकविंशः स्तोमो भवति § ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वाया मन्त्रं विधत्ते — “ऊर्ध्वा मारीहेति ॥ । “प्रोष्वक्षी पुरोरथम्”-इत्यस्या ऋचि १ उत्पन्नं साम ‘शाक्रम्’ \*\*, “रिव-तीर्नः सधमादे”-इत्यस्या ऋचि ११ उत्पन्नं साम ‘रिवतम्’ ‡ । त्रिषवसोमनिष्पत्ति प्रकारस्त्वेवम्— प्रथमे पर्याये प्रथमां त्रिर्गा-येत्, मध्यमां पञ्चकत्वी गायेत्, उत्तमां सक्तत्; द्वितीये पर्याये प्रथमां सक्तत्, मध्यमां त्रिः, उत्तमां पञ्चकत्वः; तृतीये पर्याये प्रथमां पञ्चकत्वः, मध्यमां सक्तत्, उत्तमां

\* वा० सं० १०. १३. १ ।

† सा० कृ० आ० ५. १. १. ८ ।

‡ सा० गा० गे० १०. २. ३१ ।

§ ता० ब्रा० १. २. १४-१७ ।

॥ वा० सं० १०. १४. १ ।

१ सा० उ० आ० ६. १. १४. १ ।

\*\* सा० गा० ऊ० ५. २. ६ । सायणाचार्यस्य भूमोक्तिरिवैषां गम्यते; मानाभावात् । वस्तुतो महानान्नीसामेव शाक्रर मिति प्रसिद्धो याज्ञिकेषु, अस्ति च तच्च मानम् आर्षेयकं ब्राह्मणम् । तत्र ३. २६ द्रष्टव्यम् ।

†† सा० कृ० आ० २. २. १. ६ ।

‡‡ सा० गा० आ० २. १. १७ ।

त्रिर्गायेदिति । सोऽयं त्रिरावृत्तनवसङ्कोपितत्वात् 'त्रिणव'-  
नामकः स्तोमो भवति \* ॥ ॥ त्रयस्त्रिंशस्तोमनिष्पत्ति-  
प्रकार उच्यते— प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिः कृत्वः , मध्यमां  
सप्तकृत्वः , उत्तमां सप्तकृत् ; द्वितीये प्रथमां सप्तकृत् , मध्यमां  
त्रिः , उत्तमां सप्तकृत्वः ; तृतीयपर्याये प्रथमां सप्तकृत्वः ,  
मध्यमां सप्तकृत् , उत्तमां त्रिः । सोऽयं त्रयस्त्रिंशस्तोमो  
नाम † ॥

त्रिषु मन्त्रेषु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या धनरक्षकत्वेन धनरूप-  
त्वेन वा कथिताः ; चतुर्थे उदुम्बरादिफलस्य तद्रूपत्वम् ,  
पञ्चमे 'वर्चसः' प्रख्यातशूरताकृतस्य तेजसो रक्षकत्वं तद्रूपत्वं  
चोक्तम् ॥ ७ ॥

दिशां समारोहणं समस्य संवल्लरारोहात्मना प्रशंसति—  
“तद्यदेन मिति । पञ्चानां दिशां समारोहणम् ऋतुरूपत्वम् ।  
ऋतूना मपि “हेमन्तशिशिरयोः समासेन” ‡ पञ्चसङ्ख्यात्मक-  
त्वात् संवल्लरारोहणेन यजमानः 'सर्वं मेवेदं' जगत् 'उपर्यु-  
परि भवति' सर्वस्योपरि वर्त्तमानो भवति ; कालस्य सर्वेषां  
सुपरिभावात् । 'अस्मात्' सुन्वतः सकाशात् 'इदं सर्वम्'  
'अर्वाक्' अर्वाचीनम् अधस्तनं 'भवति' इति ॥ ८ ॥

पूर्वं मैत्रावरुणधिष्णाय पुरस्तादभिहिताना मभिषेचनीय-  
पात्राणा मघे आस्तृतस्य शार्दूलचर्मणोऽपरेऽस्ते निहितस्य सीसङ्ग  
प्रासन मिदानीं विधत्ते— “शार्दूलैति । 'शार्दूलचर्मणः' 'जघ-

\* ता० ब्रा० १. ३. १. २ ।

† ता० ब्रा० १. ३. ३-७ ।

‡ ऐ० ब्रा० १. १. १ ।



नाहं' अपरभागे 'सीसं निहितं भवति' । निहित मिति निष्ठा प्रयोगेण पूर्वं चर्मास्तरणसमये एव सीसनिधानं सम्पन्नमिति मन्तव्यम् । तथैव कात्यायनः— “मरुत्वतीयान्ते पात्राणि पूर्वेण व्याघ्रचर्मास्तृणाति सोमस्य त्विषिरिति, अपरेऽन्ते सीसं निदधाति”—इति \* । अत्र तु “पादेन सीसं निरस्थति”—इत्येतावदेवास्त्वयत् † । ‘तत्’ सीसं ‘पदा’ पादेन “प्रत्यस्तम्”—इतिमन्त्रेण ‡ निरस्थेत् । ‘नमुचेः’ असुरस्य ‘शिरः’ ‘प्रत्यस्तं’ निरस्तमिति तस्यार्थः ॥

नमुचिशिरसः सीसेन निरास मास्थायिकयोपपादयति— “नमुचिर्ह वा इति । पूर्वं मिन्द्रो नमुचिनाम्नोऽसुरस्य ‘शिरः’ स्वेन ‘पादेन’ ‘अभितष्टौ’ आचक्रमे । ‘सः’ आक्रान्तः ‘उद-वाधत’ । ‘उच्छृङ्खलः’ उद्धतः श्वङ्कः । श्वङ्को नाम प्राणिविशेषः, श्वङ्कानीतशीर्ष्णीति ह्यन्यत्रास्मात् ॥ १ । ‘तस्य’ शिरः ‘पदा’ स्त्रीयेन पादेन ‘प्रचिच्छेद’ क्षिप्तवान्, ‘ततः’ क्षिन्नशिराः ‘रक्षः’ राक्षसः ‘समभवत्’, ‘तत्’ रक्षः ‘एनं’ घातक मिन्द्रम् ‘अनुभाषते’ वदति, हे इन्द्रः ! ‘क गमिष्यसि ?’, ‘मे’ मत्तः सकाशात् क ‘मोक्ष्यसे’ मुक्तो भविष्यसि ? ‘इति’ वदति ॥ ८ ॥

“तत्सीसेनेति । ‘तत्’ रक्षः, एतद्वदन्तं राक्षसं ‘सीसेन’ अपजघान’ । ‘तस्मात्’ ‘सीसं’ ‘मृदु’ जातम् । ‘हि’ यस्मात् ‘मृतजघं’ गतवेगम् । तच्च उपपादयति— “सर्वेण हीति ।

\* का० श्रौ० सू० १५. ५. १, २ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ५. २४ ।

‡ वा० सं० १०. १४. १ ।

§ श्वङ्क इति गायथ्यस्य श्वङ्कते रूपम् ( भा० व्या० ६६ धा० ) ।

तस्माद् गतसार मेतत् सीसं 'हिरण्यरूपं' रजतरूपं 'सत्' अपि 'कियच्चन' कियदपि मूल्यं 'नार्हति' न लभते । रजतस्यापि हिरण्यशब्दव्यवहारोऽस्ति ; "यदश्ववशीयत तद्रजतं हिरण्यं मभवत्"—इति \* तैत्तिरीयश्रुतेः । अतः पूर्वं रक्षसः सीसेन हतत्वादितानीं मपि सीसप्रासनेन रक्षांसि हतानि भवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

विधत्ते— "अथैन मिति † । 'आरोहयति' आक्रामयति । "सीमस्य त्विषिरित्यादि पूर्वं व्याख्यातम् ‡ ॥ ११ ॥

विधत्ते— "अथ रुक्म मिति । 'रुक्मं' हिरण्यम् § 'अधस्तात्' अधःप्रदेशे 'उपास्यति' निदध्यात् । अत सूत्रम्— "रुक्म मधःपदं कुरुते मृत्योरिति"—इति ॥ । हे रुक्म ! 'मृत्योः' सकाशात् 'पाहि' पालय ; एन मित्यर्थसिद्धम् ¶ । रुक्मस्य मृत्युपरिहारकत्वं सुपपादयति— "अमृत मिति । हिरण्यं ममृतमायुः ; हिरण्यदानेन अपमृत्योः परिहर्तुं शक्यत्वात् आयुर्दत्तम् । तस्मात् असौ यजमानः पादस्याधःप्रदेशे रुक्मनिधानेन आयुषि एव प्रतिष्ठितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

शिरसि निधीयमानस्य रुक्मस्य कञ्चिद् गुणं विधत्ते— "अथ रुक्म मिति \*\* । 'शतवित्पणः' शतच्छिद्रः , 'नववित्पणः'

\* ते० सं० १. ५. १. २ ।

† का० औ० सू० १५. ५. २५ ।

‡ २३८ पृ० १७ पं द्रष्टव्यम् ।

§ 'रुक्म आभरणविशेषः'—इतीह कर्काचार्यः । तच्च परिमण्डलं नामेत्युपदेश इतीह वृत्तिः । ॥ का० औ० सू० १५. ५. २६ ।

¶ वा० सं० १०. १५. २ ।

\*\* का० औ० सू० १५. ५. २७ ।

नवष्टिद्रः 'वा' भवेत् । तदुभयं क्रमेणायुःप्राणात्मना प्रशंसति— “स यदि शतेति । आयुरनुसारेण तेजोवीर्ययोरपि शतसङ्ख्याकत्वं द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

तस्य शिरसि निधानं विधत्ते— “त सुपरिष्ठादिति । ‘शीर्ष्णः’ इति षष्ठी । ‘भोजः’—इति मनोबलम् । ‘सङ्घः’—इति वाङ्मोन्द्रियबलम् । ‘अमृतम्’—इति प्राणबलम् ; ‘प्राणो वा अमृतम्’—इति श्रुतेः । हे रुक्म ! तत् त्रितयरूपोऽसीति मन्त्रार्थः \* ।

अधस्तादुपरिष्ठाच्च रुक्मनिधानं मायुःपृष्ठद्विरूपेण प्रशंसति— “तद्यद्रुक्मा उभयत इति । रुक्मशब्दात् प्रथमा द्विवचनस्यावादेशे कृते “लोपः शाकल्यस्य”—इति † वकारलोपः । उभयतो रुक्मविधानेन ‘एनं’ यजमानम् अमृतरूपेण ‘आयुषा’ ‘उभयतः’ ‘परिहृंहति’ संवर्द्धितवान् भवति ॥ १४ ॥

विधत्ते— “अथ बाहू इति । ‘उदगृह्णाति’ यजमानः ऊर्ध्वं प्रसारितौ कुर्यात् । अत्र “मित्रोऽसि वरुणोऽसि”—इत्ययं मेव मन्त्रो बाहूद्वहणे विधास्यते । तत्र पूर्वपक्षत्वेन मन्त्रं पठति— “हिरण्यरूपाविति । अतएव कात्यायनो विकल्पेन सूत्रयामास— “बाहू उदगृह्णाति हिरण्यरूपा इति , मित्रोऽसि वरुणोऽसीति वा”—इति ‡ । हिरण्येति मन्त्रस्य § अयं माध्वात्मिकोऽर्थः । हे वरुण ! हे मित्र ! बाहुद्वयस्य पृथक्सम्बुद्धिः ।

\* वा० सं० १०. १५. ३ ।

† पा० सू० ८. ३. १६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ५. २८, २९ ।

§ वा० सं० १०. १६. १, २ ।

‘हिरण्यरूपी’ हितरमणीयरूपी, हिरण्यस्वरूपी वा सालङ्कार-  
त्वात् । ‘इन्द्रौ’ परमैश्वर्यसम्पन्नौ उभौ युवाम् ‘उषसः’ ‘विरुके’  
विरुचने ‘उदिथः’, ‘सूर्यश्च’ उद्गतः । एतेर्लटि मध्यमद्विव-  
चने रूपम् । हे मित्रावरुणी ! बाहुरूपी ‘गर्त्त’ पुरुषम्  
‘आरोहतम्’ पुरुषस्योपरि भव त्वमित्यर्थः । ‘ततः’ अनन्तरम्  
‘अदितिम्’ अखण्डनीयाम्, पृथिवीरूपां स्त्रीयां प्रजां ‘चक्षी-  
याम्’ पश्यताम् । ‘दितिम्’ खण्डनीयाम्, परा मेताश्च । तस्य  
तद् बाहुद्वयमेव स्वबलं रक्षति, परबलं हन्ति, अत एव  
मुच्यत इत्यध्यात्मविषयोऽर्थः ।

आधिदैविके त्वयं विशेषः— ‘गर्त्तः’ रथः ; हे ‘मित्रा-  
वरुणी’ देवते ! रथम् ‘आरोहतम्’ । ‘ततः’ रथारोहणानन्त-  
रम् ‘अदितिम्’ अदीनं समर्थं विहितस्य कर्मणः कर्त्तारं पुरुषं  
प्रपश्यतम्, ‘दितिम्’ दीनं विवेकारहितं मनुष्याकारं च पश्यत  
मिति । तं मिमं मन्त्रं बाहुद्वयपरत्वेन व्याचष्टे— “बाह्व वै  
मित्रेति । अन्तिमपादस्यार्थं माह— “ततः पश्यत मिति ।  
‘स्व’ स्त्रीयम् ‘अरणम्’ अरमणीयम्, परं च पश्यति । ‘अदिति’-  
शब्दस्य स्त्रोऽर्थः, ‘दिति’-शब्दस्य परोऽर्थ इति विभागः ॥ १५ ॥

एतेन मन्त्रेणोद्ग्रहणं दूषयति— “नैतनेति । स्वमत  
माह— “मित्रोऽसीति । एवकारोऽन्यमन्त्रनिवृत्त्यर्थः । मन्त्रस्य  
पूर्वं व्याख्यातः \* । तं मिमं मन्त्रं प्रशंसति— “बाह्व  
वै मित्रेति ॥ १६ ॥

एव मूर्ध्निबाहुत्वेनैव स्थितस्य यजमानस्याभिषेको विधा-  
स्यते, तं मिमं पुनः प्रशंसति— “तद्यदेन मिति । एवकारो

\* इतः पूर्वं मेव द्रष्टव्यम् ( १६८ पृ० ) ।

भिन्नक्रमः ; ऊर्ध्वबाहु मेवेति योजना । राजन्यस्य बाहू एव वीर्ये । अभिषेचनीयपात्रेषु व्यासिक्तानां मपां रसोऽपि वीर्यम् ; वीर्यापादकत्वात् । अतः तेन रसेनाभिषेक्ते ऊर्ध्वबाहुत्वमेव युक्तमित्यर्थः । तस्य कारणमाह— “नेन इति । ‘मे’ मम ‘इदं वीर्यं’ वीर्यरूपौ ‘बाहू’, कर्मवीर्यरूपः ‘अपां रसः’ ‘नेत् व्लिनात्’ न वर्जयेत् ‘इति’ अतो हेतोः ‘ऊर्ध्वबाहुम्’ एव अभिषिञ्चेदित्यर्थः ॥ १७ ॥ ३ [ ४. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

तं वै प्राञ्चं तिष्ठन्तमभिषिञ्चति । पुरस्ताद् ब्राह्मणो ऽभिषिञ्चत्यध्वर्युर्वा यो वास्य पुरोहितो भवति पञ्चादितरे ॥ १ ॥

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चामीति । क्षीर्येणैतदाहानेर्भाजसेति क्षीर्येणैवैतदाहसूर्यस्य व्यर्चसेति क्षीर्येणैवैतदाहेन्द्रस्येन्द्रियेणेति क्षीर्ये-

यैवैतदाह चत्राणां चत्रपतिरेधीति राज्ञा मधि-  
 राज एधीत्येवैतदाहातिदिद्युन् पाहीतीषवो वै  
 दिद्युव इषुवधु\* मेवैन मेतदतिनयति तस्मादाहाति-  
 दिद्युन् पाहीति ॥ २ ॥

इमं देवाः । असपत्नं सुवह्व मितिमं देवा  
 अभातव्यं सुवह्व मित्येवैतदाह महते चत्राय  
 महते ज्यैष्ठ्यायेति नात्र तिरोहित मिवास्ति महते  
 जानराज्यायेति महतं जनानां राज्यायेत्येवै-  
 तदाहेन्द्रस्येन्द्रियायेति व्यीर्यायेत्येवैतदाह यदा-  
 हेन्द्रस्येन्द्रियायेतीम ममुष्य पुत्र ममुष्यै पुत्रं मिति  
 तद्यदेवास्त्य जन्म तत एवैतदाहास्यै विश ऽइति  
 यस्यै विशो राजा भवत्येष वो ऽमी राजा सोमो  
 ऽस्माकं ब्राह्मणानां राजेति तदस्मा ऽइदं सर्वं  
 माद्यं करोति ब्राह्मण मेवापोद्धरति तस्माद् ब्राह्मणो  
 नाद्यः सोमराजा हि भवति † ॥ ३ ॥

अथैत मभिषेकम् । कृष्णविषाणयानुविमृष्टे  
 व्यीर्यं वा ऽएतदपां रुसः सम्भृतो भवति येनैन

\* 'इषुवधु'—इति ग, घ ।

† 'भवति'—इति क ।

मेतदभिषिञ्चतौदं मे ज्वीर्यं सर्वं मात्मानं मुप-  
स्पृशादिति तस्मादाह अनुविमृष्टे \* ॥ ४ ॥

सोऽनुविमृष्टे । प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठा-  
दिति यथायं पर्वतोऽतिष्ठत्वा यथऽर्षभः पशुन-  
तिष्ठवैवं वा ऽएष इदं सर्वं मतितिष्ठत्य-  
वृगिवास्मादिदं सर्वं भवति यो राजसूयेन  
युजते तस्मादाह प्र पर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्ना-  
वञ्चरन्ति स्वसिच इयानाः † । ता आववृत्रन्धरा-  
गुदक्ता अहिं बुध्न्य मनु रीयमाणा इति ‡ ॥ ५ ॥

अथैनं मन्तरेण शार्दूलचर्मणि विष्णुक्रमान्  
क्रमयति । विष्णोर्विक्रमणं मसि विष्णोर्विक्रान्तं  
मसि विष्णोः क्रान्तं मसीतीमेवै लोका विष्णो-  
र्विक्रमणं विष्णोर्विक्रान्तं विष्णोः क्रान्तं तदि-  
मानेव लोकान्समारुह्य सर्वं मेवेद् मुपयुपरि  
भवत्यवृगिवास्मादिदं सर्वं भवति ॥ ६ ॥

\* 'अनुविमृष्टे'—इति ग, घ ।

† 'इयानाः'—इति ग, घ ।

‡ 'इति'—इति क । 'इति'—इति ग, घ ।

अथ ब्राह्मणस्य पात्रे । सञ्चवान्समवनयति  
तद् ब्राह्मणं राजानं नु युशः करोति तस्माद्  
ब्राह्मणो राजानं नु युशः ॥ ७ ॥

तद्योऽस्य पुत्रः प्रियतमो भवति । तस्मा  
ऽएतत् पात्रं प्रयच्छतीदम् मेऽयं व्यौर्यं पुत्रो ऽनु-  
संतनवदिति \* ॥ ८ ॥

अथ प्रतिपरेत्य गार्हपत्य मन्वारब्धे जुहोति ।  
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि  
परि ता बभूव । यत् कामास्ते जुहुमस्तुतो ऽअ-  
स्त्वय ममुष्य पितेति तद्यः पुत्रस्तुं पितरं करोति  
यः पिता तु पुत्रं तदेनयोर्व्यौर्यं व्यतिषज्य-  
सावस्य पितेति तद्यः पिता तु पितरं करोति  
यः पुत्रस्तुं पुत्रं तदेनयोर्व्यौर्यं व्यतिषज्य पुन-  
रेव यथायथं करोति व्ययुं स्वाम पतयो रयी-  
णां स्वाहेत्याशौरेवैषैतस्य कर्मण आशिष मेवैत-  
दाशास्ते † ॥ ९ ॥

\* '०दिति'—इति क । '०दिति'—इति ग, घ ।

† 'दाशास्ते'—इति ग, घ ।



अथ य एष सस्त्रवो ऽतिरिक्तो भवति ।  
 तं माग्नीध्रीये जुहोत्यतिरिक्तो वा ऽएष सस्त्रवो  
 भवत्यतिरिक्त आग्नीध्रीयो गार्हपत्ये हवींषि  
 अपयन्त्याहवनीये जुह्वत्येषो ऽतिरिक्तस्तदतिरिक्त  
 ऽएवैतदतिरिक्तं दधात्युत्तरार्द्धं जुहोत्येष ह्येतस्य  
 देवस्य दिक् तस्मादुत्तरार्द्धं जुहोति स जुहोति  
 रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् दुत मयमेष्ट  
 मसि स्वाहेति ॥ १० ॥ ४ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

अथ द्वितीयब्राह्मणेऽभिषेक उच्यते । अत्र कात्यायनः—  
 “स्थितं प्राञ्च मभिषिञ्चति पुरोहितोऽध्वर्युर्वा पुरस्तात् पाला-  
 शेन प्रथमम्, पश्चादितरे द्वितीयेन, सस्त्रुतीयेन, मित्रो  
 राजन्यो वैश्वद्युतयेन, सोमस्य त्वा द्युन्नेनेति प्रतिमन्त्रम्  
 अभिषिञ्चामीति सर्वत्र साकाङ्क्षत्वात्, क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्वीति  
 चेम ममुथ”—इति \* । ऊर्ध्वबाहुत्वेन स्थितं प्राङ्मुखं यज-  
 मानं पुरोहिताध्वर्योरन्यतरो ब्राह्मणः सुन्वतः पुरो देशे स्थित  
 पालाशेन पात्रेणाभिषिञ्चेत् । इतरे स्वादयस्त्रयोऽभिषिञ्चमानस

पश्चाद्भागे स्थित्वा स्वस्वपात्रेणाभिषिञ्चेयुः । तत्र “सोमस्य”  
—इत्यादयश्चत्वारो मन्त्राश्चतुर्णाम् । तत्राभिषिञ्चामीति प्रथम-  
मन्त्रगतस्य पदस्योत्तरेषु त्रिष्वनुषङ्गः ; साकाङ्क्षत्वान्मन्त्राणाम् ।  
“क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधि”—इति च सर्वत्रानुषज्यते, “इमं देवा  
असपत्नम्”—इत्येष मन्त्रश्च । तत्र ‘इमम्’—‘अमुष्ण’—इतिस्थाने  
यष्टुस्तत्पितृषु नाम गृह्णीयादिति सूत्रार्थः ॥

त मिमं क्रमेण विधत्ते— “तं वै प्राञ्च मिति । तच्छब्दः  
प्रकृतवाची, उर्ध्वबाहु मित्यर्थः । ‘प्राञ्चं’ प्राञ्चुखं ‘तिष्ठन्तम्’  
अभिषिञ्चेत् ; ‘पुरस्ताद्’ अभिषिञ्च्यमानस्य पुरो देशे ‘ब्राह्मणः’  
अभिषिञ्चेत्, ‘इतरे’ त्रयः ‘पश्चात्’ सुन्वतः पश्चिमभागे स्थित्वा  
अभिषिञ्चेयुः ॥ १ ॥

तत्र मन्त्रान् सार्थवादं विधत्ते— “सोमस्येति । हे यज-  
मान ! ‘त्वं’ त्वां ‘सोमस्य’ ‘द्युम्नेन’ द्योतनशीलया दीप्त्या  
अभिषिञ्चामीत्येको मन्त्रः \* । “अग्नेभ्राजसा”—इत्यपरः † ,  
अभिषिञ्चामीत्यनुषज्यते ; वाक्यस्य साकाङ्क्षत्वात् । “सूर्यस्य  
वर्चसा”—इति तृतीयः ‡ । ‘वर्चसा’ रोचिषा । “इन्द्रस्य इन्द्रि-  
येण वीर्येण”—इति चतुर्थः § । सर्वशेषं मन्त्रभागद्वय मर्थ-  
पुरस्कार माह— “क्षत्राणा मिति । ‘क्षत्राणां’ बहूनां क्षत्रि-  
याणां राज्ञां वा ‘क्षत्रपतिः’ क्षत्रियस्य पतिः ‘एधि’ भव ।।

\* वा० सं० १०. १७. १ ।

† वा० सं० १०. १७. २ ।

‡ वा० सं० १०. १७. ३ ।

§ वा० सं० १०. १७. ४ ।

॥ वा० सं० १०. १७. ५ ।

आवृत्तिवृत्तिभ्यां स्वामित्वं बहुत्वं च विवक्ष्यते । 'दिद्यून्' बाधकानिषून् 'अति'-क्राम्य 'पाहि' रक्ष, इषुभिर्न बाधो भवेदित्यर्थः ॥ २ ॥

सर्वज्ञानुपपन्नमानं मन्त्रान्तं सार्थवादं विधत्ते— “इमं देवा इति । अयं मन्त्रः \* पूर्वं मेवार्थवादवाक्येन च सह विस्पष्टं व्याख्यातः † ॥ ३ ॥

विधत्ते— “अथैत मभिषेक मिति । एवं क्रियमाणम् 'अभिषेकं' स्वदेहपतित मभिषेकजल मित्यर्थः । 'क्षणविपा-  
णया' कण्डूयन्त्या 'अनुविमृष्टे' प्रलिम्पति यजमानः । त मिमं वीर्यसम्पादनरूपेण प्रशंसति— “वीर्यं वा इति । इद मभि-  
षेकजरूपं 'वीर्यं' 'मे' मम 'सर्वम् आत्मानम्' 'उपसृशत्' उपसृशत् 'इति' बुद्ध्या विमार्जनं कुर्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

तत्र मन्त्रं विधत्ते— “सोऽनुविमृष्टे प्रपर्वतस्येति ‡ । या आपो 'वृषभस्य' वर्षणक्षमस्य 'पर्वतस्य' । पर्वत इति मेघ-  
नाम § । मेघस्य 'पृष्ठात्' 'नावः' नाव्या इत्यर्थः , प्रचरन्ति । कीदृश्यः ? 'स्वसिचः' स्व माक्रीयं यजमानशरीरं सिञ्च-  
न्तीति स्वसिचः । 'इयानाः' गच्छन्त्यः , बाहुभ्यां सर्वत्र प्रव-  
हन्त्यः ; 'ताः' आपः 'उदक्ताः' उत्क्षिप्ताः । उत्पूर्वस्याञ्चते-  
र्निष्ठायां रूपम् । इदानीम् 'अधराग्' अधोभागे 'अहिम्' आर-  
भ्येति ; अहिरक्षमाङ्गम् । 'बुध्न्यम्' बुध्न्य पादस्याधभागे

\* वा० सं० १०. १८. १ ।

† २०१ ए० १ प्र० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्री० ख० १५. ६. ८ ।

§ निघ० १. १०. ६ ।

बुध्नः, तम् । शिरःप्रभृति पादपर्यन्तम् 'अनु' अनुक्रमेण 'रीय-  
माणाः' लेपरूपेण स्वरन्त्यः, 'आवहन्' यजमानशरीरं सम्य-  
गावृत्य स्थिताः, तिष्ठन्तीति \* । इत्याध्यात्मिकोऽर्थः ।

आधिदैविकन्तु— 'पर्वतः' आदित्यः, 'वृषभस्य पृष्ठात्'  
'इयानाः' निर्गच्छन्त्यः, 'नावः' नाव्या आपः 'चरन्ति' । तथा च  
श्रुतिः— "नाव्या उ एव यजुषस्त्य इष्टका इत्युपक्रम्य, "षष्टिश्च  
ह वै व्रीणि च शतान्यादित्यं नाव्या अभिचरन्ति"—इति † । 'ताः'  
प्रावृट्काले 'आवहन्' आवर्तन्ते ; 'अधराग्' आदित्यमण्ड-  
लाद् भूमिं प्रति अधोगमनशीलाः, 'उदक्' 'ताः' पूर्वं भूमेः  
सकाशात् आदित्यमण्डलं प्रति 'उदक्' ऊर्ध्वगमनशीलाः 'अहिं'  
मेघम् 'बुध्नम्' अन्तरिक्षम्, तत्र भवम् 'बुध्नम्' मध्यमस्थानम्  
'अनुरीयमाणाः' अनुप्रविश्य तस्मान्निर्गच्छन्त्यः, भूमिं प्राप्नु-  
वन्तीति शेषः ‡ ॥

मन्त्रस्य प्रथमपादस्य तात्पर्यं माह— "यथायं पर्वत इति ।  
'यथा पर्वतः' 'अतिष्ठावा' सर्वं मतिक्रम्य स्थाता । तिष्ठतेः "आतो  
मनिन्"—इति § वनिप् । 'यथा ऋषभः' पशून्तिक्रम्य तिष्ठति,  
एव मेघ राजा तिष्ठति, सर्वस्योपरि भवति । 'अस्माद्' यज-  
मानात् 'इदं सर्वम् अर्वाक्' भवति ; 'तस्मात्' प्रपर्वतस्येति पाठः  
प्रशस्त इत्यर्थः ॥ ५ ॥

विधत्ते— "अथैन मिति ॥ । शार्दूलचर्ममध्ये एव यजमानं

\* वा० खं० १०. १६. १ ।

† इहैवोपरिष्ठात् का० १०. व्य० ५. ब्रा० ४. क० १४ ।

‡ का० औ० ख० २३. ६. । § पा० ख० ३. ९. ३४ ।

॥ का० औ० सू० १५. ६. ६ ।

त्रीन् विष्णुक्रमान् क्रमयेदध्वर्युः । तत्र मन्त्रत्रयं विधत्ते—  
 “विष्णोरिति \* । एकैकस्य क्रमणस्यैकैको मन्त्र इत्यर्थः ।  
 ‘विष्णोः’ यज्ञस्य यज्ञ ‘विक्रमणं’, यज्ञ ‘विक्रान्तं’, यज्ञ ‘क्रान्तम्’,  
 तत् सर्वं त्वं मसीति योजनीया । क्रमणत्रयं लोकत्रयात्मना  
 प्रयंसति । “इमे वै लोका इति ॥ ६ ॥

अथ स्वमित्तवैश्यपादत्रयशेषाणां पालाशपात्रे व्यासेचनं  
 विधत्ते— “अथ ब्राह्मणस्येति । “तद् ब्राह्मणमिति । ‘तत्’  
 तेन व्यवनयनेन ‘राजानम्’ ‘अनु’ पश्चाद् ‘ब्राह्मणं’ ‘यशः’ यशस्विनं  
 कृतवान् भवति । लोके हि राजा कीर्त्तिमान्, ब्राह्मणोऽपि  
 तदनन्तरं कीर्त्तिमानित्युच्यते ॥ ७ ॥

विधत्ते— “तद् योऽस्येति † । ‘एतत्’ संस्त्रवैः प्रासितं  
 ब्राह्मणस्य, पालाशपात्रं राज्ञः प्रियतमाय पुत्राय प्रयच्छेत् ।  
 प्रदाने ब्राह्मणोऽयं मन्त्रं माह— “इदं म इति । अत एव  
 कात्यायनो मन्त्रं षपाठ— “पुत्राय प्रयच्छति प्रियतमायेदं मे  
 कर्मेदं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनोतु”—इति ‡ । ‘अयं’ मे पुत्रः,  
 ‘मे’ मम ‘वीर्यं’ वीर्यरूपं कर्म ‘अनुसन्तनवत्’ अनुसन्तनोतु,  
 विस्तारयत्विति ॥ ८ ॥

विधत्ते— “अथ प्रतीति । गार्हपत्यं ‘प्रतिपरेत्य’ प्रत्यङ्-  
 मुखो गत्वा ‘अन्वारब्धे’ । प्रकृतत्वात् पुत्र इति गम्यते । अत्र  
 सूत्रम् §— “शालाहार्यं जुहोति पुत्रोऽन्वारब्धे प्रजापत इति”—

\* वा० सं० १०. १६. २, ३, ४ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ६. १० क ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. १० ख ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ६. ११ ।

इति । मन्त्रस्यार्थः— हे 'प्रजापते' ! 'त्वदन्धः' कोऽपि पुरुषः  
उत्पन्नानि तानि 'एतानि' विश्वानि 'न परिवभूव' परिभवितुं  
व्याप्तुं समर्थो भूत् । परिपूर्वो भवतिर्व्यास्यर्थे वर्त्तते । अतस्तेन  
वयं 'यत्कामा जुहुमः', 'तत्' फल मस्माकम् 'अस्तु' । वयं धनानां  
पतयः स्यामेति \* । अत्र तृतीयपादान्ते 'अयम् असुष्ठ पिता',  
'असौ अस्य पिता' इति मन्त्रभाग आम्नातः । 'अयं' पुत्रः  
अभिमन्युः, 'असुष्ठ' अर्जुनस्य 'पिता' इति पूर्वं पिष्टशब्दं पुत्रे  
कृत्वा ब्रूयात्, पश्चात् 'असौ पिता' अर्जुनः 'अस्य' पुत्र-  
स्याभिमन्योः 'पिता' इति 'यथायथं' ब्रूयादित्यर्थः । अत एव  
कात्यायनः— "प्रजापत इति पुत्रयजमानयोर्नाम गृह्णाति पिष्ट-  
शब्दं पुत्रे कृत्वा यथायथं पश्चात्"—इति । त मिमं पादत्रय-  
पुरस्सरं पठति— "प्रजापत इति † । तत्राय मनुष्य पितृत्व-  
स्यार्थं माह— "तद्यः पुत्र इति । पुत्रं पितरं पुत्रं कृत्वा  
पठेदित्यर्थः । तदेतेन पुत्रस्य पिष्टकरणेन च एनयोः पिता-  
पुत्रयोः वीर्यं 'व्यतिषजति' परस्परं संसृष्टे कृतवान् भवति ।  
असावस्य पितृत्वस्यार्थं माह— "तद्यः पितेति । अत्र पितुरेव  
पिष्टत्वम्, पुत्रस्यैव पुत्रत्वम् । अनेनैतयोर्वीर्यं पूर्वं व्यतिषज्य  
पश्चाद् यथा पुत्रस्य वीर्यं पुत्र एव, पितुर्वीर्यं पितर्येव कृतवान्  
भवतीत्यर्थः । अन्तिमपादस्याशीः परत्वं दर्शयति— "आशी-  
रेवैषेति ॥ ८ ॥

\* वा० सं० १०. २०. १ ।

† संहितापाठस्त्वेवम्— "प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि  
परि तं बभूव । यत्कामास्ते जुहुमस्तस्मै अस्वय मसुष्ठ पिता-  
सावस्य पिता वयस् स्याम पतयो रयीणास् स्वाहा"—इति ।

पालाशपातशेषस्य आग्नीध्रीये ऋचा हवने विधत्ते— “अथ य एष संश्रव इति \* । अतिरिक्तस्य शेषस्य आग्नीध्रीये हव-  
नस्योपपत्तिं दर्शयति— “अतिरिक्त इति । तदेवोपपादयति—  
“गार्हपत्ये हवींषीति । गार्हपत्ये सर्वेषां हविषां अपणम्,  
आहवनीये तेषां होमः ; अतः अपणहवनयोरनुपयुक्तत्वादाग्नी-  
ध्रीयोऽतिरिक्त इत्यर्थः । प्रदेशविशेषं विधत्ते— “उत्तरार्द्ध इति ।  
अस्य रुद्रसम्बन्धं दर्शयति— “एष हीति । ‘एतस्य देवस्य’  
रुद्रस्येत्यर्थः । होम मन्त्रस्य मन्त्रं विधत्ते— “स जुहोतीति † ।  
हे ‘रुद्र !’ रुद्र सांसारिकं दुःखं द्रावयतीति, तस्य सम्बुद्धिः ।  
‘ते’ तव ‘परम्’ उत्कृष्टं ‘यत् नाम’ “नमः शिवाय”—“पशु-  
पतये”—इत्यादि श्रुतिप्रसिद्धम् ‡, ‘क्रिवि’ “क्रिवि हिंसाकर-  
ण्योः” §, विरोधिनी हिंसक मसि, ‘तस्मिन्’ नास्ति ‘हुत  
मसि’ अभिवेकशेषभूतमुख्यपात्रस्थजलः त्वं हुतं भवेति जलं  
सम्बुद्ध्यर्थोन्नेयः । “अमेष्ट मसीति । ‘अमा’-शब्दोऽत्र गृह-  
वचनः । मदीये गृहे त्वम् इष्टं भव । ‘स्नाहा’ सुहुत  
मस्त्विति ॥ १० ॥ ४ [ ४. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे चतुर्थाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ५. १२ ।

† वा० सं० १०. २०. २ ।

‡ वा० सं० १६. ४१, ४० ; तै० सं० ४. ५. ८. ११, ३ ।

§ आ० प० ५६८ घा० ( कृवि ) ।

॥ तै० सं० १. ८. १४. १-१२, तै० ब्रा० १. ७. ८. दृष्टव्यम् ।

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम् . )

तद् योऽस्य स्त्रो भवति । तस्य शतं वा  
परःशता वा गा० उत्तरेणाहवनीयं स्थापयति  
तद्यदेवं करोति ॥ १ ॥

व्वरुणाह वा ऽअभिषिषिचानात् । इन्द्रियं  
व्वीर्यं मपचक्राम शश्वद्य एषोऽपां रसः सम्भृतो  
भवति \* येनैन मेतदभिषिञ्चति सो ऽस्त्रेन्द्रियं व्वीर्यं  
निर्जघान तत् पशुष्वन्वविन्दत्तस्मात् पशवो यशो  
यदेष्वन्वविन्दत्तत् पशुष्वनुविद्येन्द्रियं व्वीर्यं पुनरा-  
त्मन्नधत्त तथो ऽएवैष एतन्नाहैवास्माद्विन्द्रियं  
व्वीर्यं मपक्रामति व्वरुणसवो वा ऽएष यद्राज-  
मूय मिति व्वरुणो ऽकरोदिति त्वेवैष एतत्  
करोति † ॥ २ ॥

अथ रथ मुपावहरति । यद्वै राजन्यात् पुराग्  
भवति रथेन वै तदनुयुङ्क्ते तस्माद्रथ मुपाव-  
हरति ॥ ३ ॥

\* 'भवति'—इति ग , घ ।

† 'करोति'—इति क ।



स उपावहरति । इन्द्रस्य वृज्जो ऽसीति वृज्जो वै रथ इन्द्रो वै यजमानो ह्येन वा ऽएष इन्द्रो भवति यच्च क्षत्रियो यदु च यजमानस्तस्मादाहुन्द्रस्य वृज्जो ऽसीति ॥ ४ ॥

तु मन्तर्वेदभ्यववर्त्य युनक्ति । मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मीति \* बाह्व वै मित्रावरुणौ बाहुभ्यां वै राजन्यो मैत्रावरुणस्तस्मादाह मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मीति † ॥ ५ ॥

तं चतुर्युजं युनक्ति । स जघनेन सदो ऽयेण शान्तां येनैव दक्षिणा युन्ति तेन प्रतिपद्यते तं जघनेन चात्वाल मयेणाग्नीं मुदयच्छति ॥ ६ ॥

त मातिष्ठति ‡ । अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वेत्यनात्यै त्वेत्येवैतदाह यदाहाव्यथायै त्वेति स्वधायै त्वेति रुसाय त्वेत्येवैतदाहारिष्ठो ऽभर्जुन इत्यर्जुनो ह वै नामेन्द्रो यदस्य गुह्यं नाम ह्येन वा

\* , † 'युनज्मीति'—इति क, ख ।

‡ 'मातिष्ठति'—इति क ।

ऽएष इन्द्रो भवति युञ्जन्त्रियो यदु च यजमान-  
स्तस्मादाहारिष्टो ऽश्नुर्जुन इति \* ॥ ७ ॥

अथ दक्षिणायुग्य मुपार्षति । मरुतां प्रस-  
वेन जयेति व्विशो वै मरुतो व्विशो वै तत्  
क्षत्रियो जयति यज्जिगीषति तस्मादाह मरुतां  
प्रसवेन जयेति † ॥ ८ ॥

अथ मध्ये गवा मुदच्छति । आपाम मनसेति  
मनसा वा ऽइदं सुर्व्वं माप्तं तन्मनसैवेतत् सुर्व्वं  
माप्नोति तस्मादाहापाम मनसेति ‡ ॥ ९ ॥

अथ धनुराट्न्व्या गा मुपस्पृशति । सु मिन्द्रिये-  
णेतीन्द्रियं वै व्वीर्यं गाव इन्द्रिय मेवैतद्वीर्य-  
मात्मन् धत्ते ऽथाह जिनामीमाः कुर्व्वं ऽइमा  
इति § ॥ १० ॥

तद्यत् स्वस्य गोषूदच्छति । यद्वै पुरुषात् पुराण  
भवति यशो वा किञ्चिदा स्तु हेवास्तु तत्

\* 'इति'—इति क । 'इति'—इति ग, घ ।

† 'जयेति'—इति क । 'जयेति'—इति ग, घ ।

‡ 'मनसेति'—इति क । 'मनसेति'—इति ग, घ ।

§ 'इति' इति क । 'इति'—इति ग, घ ।

प्रतमा मिवाभ्यपक्रामति तत् स्वादेवैतदिन्द्रियं  
व्यीर्यं पुनरात्मवृत्ते तस्मात् स्वस्य शोष-  
यच्छति ॥ ११ ॥

तस्मै तावन्मात्रैर्व्या भूयसीर्वा प्रतिददाति ।  
न वा एष क्रूरकर्मणे भवति यद्यजमानः क्रूर-  
मिव वा एतत् करोति यदाह जिनामीमाः  
कुर्व्यं ऽहमा इति तथो हास्यैतदक्रूरं कृतं  
भवति तस्मात्तावन्मात्रैर्व्या भूयसीर्वा प्रति-  
ददाति \* ॥ १२ ॥

अथ दक्षिणानायच्छति । सो ऽयेण यूषं दक्षि-  
णेन व्वेदिं येनैव दक्षिणा यन्ति तेन प्रतिपद्यते  
तं जघनेन सदो ऽयेण शाला मुद्यच्छति ॥ १३ ॥

मा न † इन्द्र ते व्ययं तुराषाट् । अयु-  
क्तासो ऽश्वब्रह्मता व्विदसाम् । तिष्ठा रथं मधि-  
यं व्वज्रहस्ता रश्मोन् देव यमसे स्वश्वानित्युद्य-  
च्छत्येवैतयाभीशवो वै रश्मयस्तस्मादाहा रश्मोन्

\* 'ददाति'—इति क ।

† 'त' इति क. ख ।

देव यमसि स्प्रुवानित्यथ रथविमोचनीयानि जुहोति  
प्रीतो रथो विमुच्याता ऽइति तस्माद्रथविमोच-  
नीयानि जुहोति ॥ १४ ॥

स जुहोति । अग्नये गृहपतये स्वाहेति स  
यदेवानेयं रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति ब्रह्मा वा ऽआ-  
ग्नेया रथस्य ब्रह्मानेवैतेन प्रीणाति श्रीर्वै गार्ह-  
पतं यावतो यावत ईष्टे तच्छ्रिय मेवास्तैतद्गार्ह-  
पत् राज्य मभिविमुच्यते \* ॥ १५ ॥

सोमाय वनस्पतये स्वाहेति इयानि वै  
व्वानस्पत्यानि चक्राणि रथ्यानि चानसानि च  
तेभ्यो न्वेवैतदुभयेभ्यो ऽरिष्टिं कुरुते सोमो वै  
वनस्पतिः स यदेव व्वानस्पत्यं रथस्य तदेवैतेन  
प्रीणाति दारुणि वै व्वानस्पत्यानि रथस्य दारुण्ये-  
वैतेन प्रीणाति क्षत्रं वै सोमः क्षत्र मेवास्तै तद्राज्य  
मभिविमुच्यते † ॥ १६ ॥

मरुता भोजसि स्वाहेति । स यदेव मारुतं  
रथस्य तदेवैतेन प्रीणाति चत्वारोऽश्वा रथः  
पञ्चमो द्वौ सव्यष्टृसारथी ते सप्त सप्त सप्त वै

मारुतो गणः सर्व्व मेवैतेन रुधं प्रीणाति विशो  
वै मरुतो विशमेवाख्यैतद्राज्यमभिविमुच्यते † ॥ १७ ॥

इन्द्रस्तेन्द्रियाय स्वाहेति स यदेवैन्द्रं रुधस्य  
तदेवैतेन प्रीणाति सव्यष्टा वा ऽऐन्द्रो रुधस्य  
सव्यष्टार मेवैतेन प्रीणातीन्द्रियं वै व्वीर्यं मिन्द्र  
इन्द्रियमेवाख्यैतद्दीर्यं राज्यं मभिविमुच्यते † ॥ १८ ॥

अथ व्वाराह्या ऽउपानहा ऽउपमुञ्चते । अग्नी  
ह वै देवा घृतकुम्भं प्रवेशयाञ्चकुस्ततो व्वाराहः  
सम्बभूव तस्माद्वाराहो मेदुरो घृतादि सम्भूत-  
स्तस्माद्वाराहे गावः सुञ्जानते स्व मेवैतद्रस मभि-  
सुञ्जानते तत् पशूना मेवैतद्रसे प्रतिष्ठति तस्मा-  
द्वाराह्या ऽउपानहा ऽउपमुञ्चते ‡ ॥ १९ ॥

अथिमां प्रत्यवेक्षमाणो जपति । पृथिवि  
मातर्मा मा हिंसीमीं ऽअहं त्वा मिति व्वरुणाद्  
वा ऽअभिषिषिचानात् पृथिवी विभयाञ्चकार  
महद्वा ऽअथ मभूद्यो ऽभ्यषेचि यद्वै मायं नाव-  
दृणीयादिति व्वरुण उ ह पृथिव्यै विभयाञ्चकार

, † 'विमुच्यते'—इति ग, घ । ‡ 'उपमुञ्चते'—इति ग, घ ।

यद्वै मेयं नावधून्वीतेति तदनुयैवैतन् मित्रधेय  
मकुरुत न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो  
मातरम् ॥ २० ॥

व्वरुणसवो वा ऽएष यद्राजसूयम् । पृथिव्यु  
हैतस्माद्विभेति महद्वा ऽअय मभूद्यो ऽभ्यषेचि यद्वै  
मायं नावदृणीयादित्येष उ हास्यै विभेति यद्वै  
मेयं नावधून्वीतेति तदनुयैवैतन्मित्रधेयं कुरुत  
न हि माता पुत्रं हिनस्ति न पुत्रो मातरं तस्मा-  
देवं जपति ॥ २१ ॥

सो ऽवतिष्ठति । हंसः शुचिषड्सुरन्तरिक्ष-  
सञ्ज्ञोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् । नृषद्वरसदृश-  
सद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं  
वृहदित्येता मतिच्छन्दसं जपन्नेषा वै सर्वाणि  
छन्दांसि यदतिच्छन्दास्तथैनं पाप्मा नान्वव-  
तिष्ठति ॥ २२ ॥

तं न सङ्गृहीतान्ववतिष्ठेत् । नेत्तं लोक-  
मन्ववतिष्ठाद्यं सुषुवाणोऽन्ववास्यादिति तं सरथ  
मेव रथवाहन आदधति ततो ऽवाङ्मप्रवते तथा

तं लोकां नान्वतिष्ठति यः सुषुवाणो ऽन्ववा-  
स्यात् ॥ २३ ॥

उत्तरेणाहवनीयं पूर्वाग्निरुद्धतो भवति । स  
रथवाहनस्य दक्षिणं मन्वनुष्यन्दः शतमानौ प्रवृत्ता-  
वावधाति \* ॥ २४ ॥

औदुम्बरीः शाखा मुपगूहति । तयोरन्यतर  
मुपस्पृशतीत्यदद्यायुरद्यायुर्मयि धेहि युङ्ङसि  
व्वर्चीऽसि व्वर्ची मयि धेहीति तदायुर्व्वर्च  
आत्मन् धत्ते ॥ २५ ॥

अथौदुम्बरीः शाखा मुपस्पृशति । ऊर्गस्यूजं  
मयि धेहीति तदूर्जं मात्मन् धत्ते तस्यैतस्य कर्मण  
एतावेव शतमानौ प्रवृत्तौ दक्षिणा तौ ब्रह्मणे  
ददाति ब्रह्मा हि यज्ञं दक्षिणतो ऽभिगीपायति  
तस्मात्तौ ब्रह्मणे ददाति † ॥ २६ ॥

अग्नेः मैत्रावरुणस्य धिष्णाम् । मैत्रावरुणं  
पयस्या निहिता भवति ता मस्य बाहू ऽअभ्युपा-

\* 'वावधाति' इति क ।

† 'ददाति' - इति क ।

वहरतीन्द्रस्य वां वीर्यकृतो बाहू ऽअभ्युपावहरा-  
मीति पशूनां वा ऽएष रसो यत् पयस्या तत्  
पशूना मेवाख्यैतद्रुसं बाहू ऽअभ्युपावहरति तद्यन्  
मैत्रावरुणी भवति मैत्रावरुणाऽउ हि बाहू तुच्छान्  
मैत्रावरुणी भवति \* ॥ २७ ॥ ५ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठकस्य पञ्चमं ब्राह्मणम् [४. ३.] ॥

कात्यायनः— “गवां शतं मधिकं वा स्वस्याहवनीयस्यो-  
त्तरतः स्थापयति”—इति † । ‘स्वस्य’ ज्ञातिः आतुः, तदर्थं  
माहवनीयस्योत्तरप्रदेशे शतसङ्ख्या अधिका वा गाः स्थापयेदिति ।  
तदिदं सार्थवादं विधत्ते— “तद् योऽस्य स्त्रो भवतीति ।  
‘परःशताः’ शताधिका इत्यर्थः । ‘एवं’ पशुसंस्थापनरूपं कर्म  
‘करोति’ इति ‘यत्’, एतत् ‘तत्’ ‘तथो’ तथैव, वरुणेन  
कृतत्वादित्युत्तरत्र सम्बन्धः ॥ १ ॥

“वरुणादिति ‡ । पूर्वं राजसूयेऽभिषिच्यमानाद् ‘वरुणाद्’  
‘इन्द्रियं’ ‘वीर्यम्’ ‘अपचक्राम’ अपसृतम् । वीर्यापसरणे कारण-  
माह— “शश्वद् य एष इति । ‘शश्वत्’ निश्चितं ‘सम्भृतः’ ‘अपां-  
रसः’, ‘येन’ सम्भृतेन रसेन इदानीम् अध्वर्युः ‘अभिषिञ्चति’ ।  
‘सः’ रसः ‘अस्य’ वरुणस्य ‘वीर्यं’ ‘निर्जघान’ हतवान् । वरुणः

\* ‘भवति’—इति क ।

† का० श्रौ० सू० १५. ६. १३ । ‘स्त्रो ज्ञातिः, सपिण्डः’—इति  
तत्र कर्काचार्यः । ते० सं० १. ८. १०, ते० ब्रा० १. ७. ४. द्रष्टव्यम् ।

‡ राजसूयस्य वरुणस्यैवभिषेधत्वे हेतूपन्यासायैवैषाख्यायिका ।



‘पशुयु’ ‘अन्वविन्दत्’ अलभत । ‘तस्मात्’ पशूनां यशोरूपत्वम् ; पशुत एव यशःसम्भवात् । तल्लब्धं वीर्यं वरुणः ‘पुनः’ आत्मनि स्थापितवान् । ‘तथो’ तेनैव प्रकारेण ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘एतत्’ पशुसंस्थापनेन ‘इन्द्रियं वीर्यम्’ आत्मनि धत्ते । तदेव व्यतिरेकमुखेनाह— “नाह वास्मादिति । ‘अह’-शब्दः प्रसिद्धिवाची । तस्मादेवं पशुनिधानरूपं कर्म कुर्वतः सुन्वतः सकाशात् ‘वीर्यम्’ ‘न अपक्रामति’ नापसरति । “राजसूय मिति यत् , तत् वरुणसवः \* ; राजसूये वरुण एव मकरोदिति बुद्ध्या ‘एषः’ यजमानोऽपि ‘एतत्’ ‘करोति’ यत इति सङ्ग्रहार्थः ॥ २ ॥

अथ रथोपावहरणं विधत्ते — “अथ रथ मिति † । रथोपावहरणं प्रशंसति— “यद्दे राजन्यादिति । ‘यद्’ वस्तु ‘राजन्यात्’ ‘पराक्’ पराचीनं भवशम् अस्ति , ‘तत्’ एतत् अनेन ‘रथेन’ ‘अनुयुक्ते’ अनुकुलं स्वाधीनं कुर्यात् । तस्माद् रथ उपावहर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ ३ ॥

मन्त्रं विधत्ते — “स उपावहरतीति ‡ । “इन्द्रस्येति § । वाजपेये व्याख्यातः ॥ । रथयजमानयोर्वज्रेन्द्रात्मकत्वं सुपपादयति— “वज्रो वा इति ॥ ४ ॥

\* “यो वै वाजपेयः , स सम्नादत्सवः , यो राजसूयः स वरुणसवः”—इति तै० ब्रा० २. ७. ६ ।

† “रथ सुपावहरति विजित्ये”—इति तै० ब्रा० १. ७. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १४. ३. १ , २ ।

§ वा० सं० १०. २१. १ ।

॥ इहैव पुरस्तात् ५३ पृ० ११ पं० द्रष्टव्यम् ।

रथस्य वज्रात्मकत्वं मुक्तम् \* , तस्य प्रदेशविधानपुरस्सरं मश्वयोर्योजनं समन्त्रकं विधत्ते — “तं मन्त्रवेदीति † । ‘अन्तर्वेदि’ वेदिमध्ये ‘अभ्यावर्त्य’ अभिमुखं मानीय दक्षिणस्यां वेदि-  
श्रोणीं युञ्ज्यादित्यर्थः । हे रथ ! त्वं ‘प्रशास्त्रोः’ अनुशासकयोः आज्ञापयितोः ‘मित्रावरुणयोः’ ‘प्रशिषा’ प्रशासनेन यज्ञसम्बन्ध-  
निमित्तं ‘युनज्मि’ अश्वैः संयोजयामि ‘इति’ ‡ । मित्रा-  
वरुणशब्दार्थं माह — “बाह्वं वा इति ॥ ५ ॥

रथस्याश्वचतुष्टयोपेतत्वं विधत्ते — “तं चतुर्युजं मिति ।  
दक्षिणापथेन गमनं विधत्ते — “स जघनेनेति § । ‘सः’ अध्वर्युः  
‘सदोजघनेन’ सदोमण्डपस्य पश्चिमभागे ‘शाला मयेण’ प्राग्वंश-  
स्याग्रभागे ‘येनैव’ येन मार्गेण ‘दक्षिणाः’ दक्षिणार्थं दीय-  
माना गावः ‘यन्ति’ गच्छन्ति , ‘तेन प्रतिपद्यते’ रथेन सहितं  
प्रविशेदित्यर्थः । “दक्षिणेन वेदिं दक्षिणा उपतिष्ठन्ते”-इति  
चतुर्थकाण्डे दक्षिणागमनं मुक्तम् ॥ । रथसंस्थापनस्य प्रदेशविशेषं  
विधत्ते — “तं जघनेनेति । आग्नीध्रचात्वालयोर्मध्यदेशे रथम्  
‘उद्यच्छति’ जङ्घमुखं स्थापयेत् ॥ ६ ॥

अथ यजमानस्य रथारोहणं समन्त्रकं विधत्ते — “तं  
मातिष्ठतीति ¶ । ‘आतिष्ठति’ आरोहेदित्यर्थः । ‘अव्यथायै’

\* इहैव पुरस्तात् १. ४. ३. (ते० सं० ६. २. ६. ४१.) ।

† का० औ० सू० १५. ६. १५ ।

‡ वा० सं० १०. २१. २ ।

§ का० औ० सू० १५. ६. १६ ।

॥ इयं ४३०. १४क० । तत्रैव ( २क० ) दक्षिणानामगिरस्तिष्ठ ।

¶ का० औ० सू० १५. ६. १७ ।

“व्यथ भयचलनयोः” \* , अभयाय ‘त्वा’ त्वाम् , आतिष्ठा-  
मीति शेषः । ‘स्वधायै’ अन्नाय त्वा मातिष्ठामि ‘इति’ ।  
‘अर्जुन इति’ इन्द्रस्य प्रियं नाम ; इन्द्रात्मकोऽह मातिष्ठा-  
मीति सम्बन्धः † ॥

मन्त्रं पदशोऽनूय व्याचष्टे— “अनास्थिं त्वेति । अर्जुनपद-  
स्येन्द्रवाचकत्वं दर्शयति— “अर्जुनो ह वा इति । ‘इन्द्रस्य’  
‘गुह्यं’ गूढं नामधेयम् , तस्मात् अर्जुन इन्द्रः । अस्मिन्द-  
स्यार्जुननामधेयम् , प्रकृते किं मायात मित्याशङ्क्य , यदुरिन्द्रा-  
त्मकत्वं माह— “हयेन वेति । क्षत्रसम्बन्धात् यदृत्वाञ्च सुन्वत  
इन्द्रत्वम् ; तस्मान्मन्त्रे अर्जुनपदेन यजमानाभिधानं युज्यत  
इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ दोक्षेणभागे युक्तस्याश्वस्य प्राजनं समन्त्रकं विधत्ते—  
“अथ दक्षिणेति ‡ । ‘उपार्षति’ “ऋषी गतौ” § , प्राज-  
तीत्यर्थः । हे अश्व ! ‘मरुतां’ विष्णुद्रूपाणां ‘प्रसवेन’ प्रेरणया  
‘जय’ सर्वे स्वाधीनं कुर्विति ॥

मन्त्रं व्याचष्टे— “विशो वा इति । यद् राज्ञा जेतव्य  
मस्ति , तद् ‘विशा’ प्रजया ‘जयति’ ; तस्माद् विड् रूपमरुत्-  
प्रतिपादनमन्त्रो युक्तः ॥ ८ ॥

\* ब्रा० आ० ७६४ धा० ।

† वा० सं० १०. २१. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. १८ ।

§ तु० प० ७ धा० ।

॥ वा० सं० १०. २१. ४ ।

विधत्ते—“अथ मध्य इति \* । ‘गवां’ पूर्वं स्थापितानां ‘मध्ये’ ‘उद्यच्छति’ स्थापयति । ‘मनसा’ ‘आपाम’ आपवन्तो भवाम । आप्रोतेर्लुङि लृदित्वात् चौरङि कृते रूपम् । मन्त्रस्य तात्पर्यं माह—“मनसा वा इति † ॥ ८ ॥

अथ धनुष्कोट्या स्नानां स्थापितानां गवां मध्ये एकस्याः स्पर्शनं समन्वकं विधत्ते—“अथ धनुरिति ‡ । इन्द्रियेण बलेन सङ्गता भवामः । “इन्द्रियं वा इति । “समिन्द्रियेण”—इति मन्त्रेण § गोक्षपस्पर्शने इन्द्रियस्यैव वीर्यस्य धारणं कृतं भवतीत्यर्थः । शिष्टानां गवां स्वाधीनकरणार्थं ‘जिनामि’—इति ब्रूयात् । इदं ब्राह्मणोक्तं वाक्यम्, न तु मन्त्रः । तस्याय मर्थः—‘इमाः’ गाः ‘जिनामि’, अपि चेमाः ‘कुर्वे’ स्वाधीनाः करवा इति । “ज्या वयोहानी”, “ग्रहीज्या”—इत्यादिना ॥ सम्प्रसारणम् ॥ अत्र सूत्रम्—“धनुरात्न्योपसृशति गां यजमानः समिन्द्रियेणेति जिनामीमाः कुर्व इमा इति चाह”—इति ¶ ॥ १० ॥

स्नानां स्थापितासु गोषु रथस्य स्थापनं प्रशंसति—“तद्यदिति । ‘यद्’ वस्तु ‘पुरुषात्’ ‘पराक्’ पराधीनं बहिर्मुखं नष्टं ‘भवति’ । किं तत् ? तदाह—“यशो वा किञ्चिदिति ।

\* का० श्रौ० सू० १५. ६. १६ ।

† वा० सं० १०. २१. ५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. २० ।

§ वा० सं० १०. २१. ६ ।

॥ क्र० प० ३८ धा० । पा० सू० ६. १. १६ ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. ६. २०, २१ ।

तद् यशश्चादिकं 'किञ्चित्' अन्यत् 'प्रथमं' पूर्वतः 'स्वं' स्वीयं वस्तु अभिलक्ष्य 'प्रतमां' प्रकर्षेण गच्छति । 'तद्' अनेन 'अस्य' ज्ञातेर्गोषु स्थापनेन पराङ्मुखं वीर्यं 'स्वात्' ज्ञातिः सकाशात् पुनः स्वाधीनं कृतवान् भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

अथ स्थापितानां गवां स्वामिने 'स्वाय', अन्यासां तावतीनां गवां प्रतिदानं दर्शयति— "तस्मै तावन्मात्रीरिति \* । यावत्सङ्ख्याकाः पूर्वं माहवनीयस्योत्तरतो गा अवस्थापिताः, 'तावन्मात्रीः' तावत् परिमाणं यासां तावन्मात्राः । प्रमाणे मात्रच् प्रत्ययः †, "टिड्ढाणञ्"—इति सूत्रेण डीप् ‡ । 'भूयसीः' ततोऽप्यधिकाः । प्रतिदानं प्रशंसति— "न वा एष क्रूरेति । "यजमान इति । 'यत् एष क्रूरकर्मणे न भवति'—इत्यन्वयः । यजमानेनान्यस्य प्रीतिजनकं कर्म कर्तव्यम् । किं तत् क्रूरकर्मिति तद् दर्शयति— "यदाह जिनामीति । तस्मात् गोस्वामिने स्वाय अन्यास्तावतीः 'भूयसीर्वा' गाश्च दत्त्वा वेदिमध्ये स्थितानां गवां स्वाधीनकरणेन क्रूरं कर्म न कृतं भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

आहवनीयस्योत्तरतः स्थापितानां गवां मध्ये दक्षिणतोऽश्वानां स्थापनं विधत्ते— "अथ दक्षिणानिति । यूपस्य पूर्वतो वेदेर्दक्षिणतः 'दक्षिणान्' दक्षिणदिक्षु खान्श्वान् आयच्छेत् । अथान्तःपात्यदेशे § रथस्य स्थापनं विधातुं सुदगमनमार्गं

\* का० श्रौ० सू० १५. ६. २२ क ।

† "प्रमाणे दयसञ्-दणञ्-मात्रचः"—इति पा० सू० ५. २. ३७ ।

‡ पा० सू० ४. १. १५ ।

§ 'सोऽन्तःपातः ऐष्टिकवेदेर्महावेदेऽन्तरालसञ्चरः' ३भा० २८१८० ५ प्र० ।

माह—“सोऽग्रेणेति । अनेन मार्गेण रथं प्रदक्षिणं मावर्त्यम् ।  
 “येनैव दक्षिणा इति । दक्षिणागमनमार्गस्तु पूर्वं मेवोक्तः \* ।  
 सदसः पश्चिमे, शालायाः पूर्वदेशे रथम् ‘उद्यच्छति’ स्थापयेत् ।  
 सूत्रितं हि—“पूर्वेण यूपं परीत्यान्तःपात्यदेशे स्थापयति मा त  
 इन्द्र इति”—इति † ॥ १३ ॥

“मा त इति ‡ । मन्त्रस्याय मर्थः ;— हे ‘वज्रहस्त !’ ‘यं  
 रथम्’ ‘अधितिष्ठ’ अधितिष्ठसि, हे ‘देव !’ यस्मिंश्च त्वमव-  
 स्थितः ‘स्वश्वान्’ शोभनाश्वान् ‘रश्मीन्’ ‘आयमसे’ नियच्छसि ।  
 हे ‘तुराषाट् !’ तूर्णं सहत इति तुराषाट्, तस्य सम्बुद्धिः,  
 हे ‘इन्द्र !’ ‘ते’ तव स्वभूते ‘रथे’ ‘अयुक्ताः’ संयोगरहिता  
 वयम् ‘अब्रह्मता’ अब्रह्मत्वम् ‘विदेसाम’ । विदेर्लेटि सिचि,  
 “लेटोऽडाटो”—इत्यडाटो § च, विदेम । तव रथे अयुक्ताः वयं  
 ब्रह्मवर्चसम् न लभामहे, किन्तु युक्ताः सन्तो ब्रह्मवर्चसं मेव  
 लभेमहीत्यर्थः । रश्मिपदस्यार्थं माह—“अभीशव इति ॥

रथविमोचनीयहोमं विधत्ते—“अथ रथेति ॥ । ‘रथः’  
 होमेन ‘प्रीतः’ सन् ‘विमुच्यते’ विमुक्तो भवत्विति ॥ १४ ॥

होम मनुद्य चतुरो मन्त्रान् सार्थवादं पृथग् विधत्ते—  
 “स जुहोत्यग्नय इति ¶ । चतुर्णां मन्त्राणां मय मर्थः—

\* अनुपद मेवोक्तं ( २६१ पृ० १३ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १५. ६. २२ ख ।

‡ वा० सं० १०. २२. १ ।

§ पा० सू० ३. ४. ७; ३. १. ३४; ३. ४. ६७; ३. ४. ६४ ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. ६. २३ ।

¶ वा० सं० १०. २३. १—४ ।

‘गृहपतये अग्नये’ ‘स्वाहा’ सुहुतं मस्तु ।

वनस्पतये वनस्पतिगुणकाय ‘सोमाय स्वाहा’ ।

‘मरुतां’ सम्बन्धिने ‘ओजसे’ बलाय ‘स्वाहा’ ।

‘इन्द्रस्य’ स्वभूताय ‘इन्द्रियाय’ वीर्याय ‘स्वाहा’ इति ॥

तत्र प्रथममन्त्रं प्रशंसति— “यदेवाग्नेय मिति । मन्त्रैक-  
देशेनाग्निपदेन रथस्य आग्नेय मङ्गं प्रीणितवान् भवति । रथ-  
स्याग्नेय मङ्गं दर्शयति— “वहा वा इति । अश्वैरुह्यमानस्य  
युगस्य प्रान्तप्रदेशा वहाः, ते आग्नेयाः ; “अग्निदग्ध भिवेषां वहं  
भवति”—इति श्रुतेः \* अग्निदग्धत्वसाम्यात् रथेऽपि वहा आग्नेयाः ।  
प्रथमहोममन्त्रे ‘अग्नये’-इत्येकदेशपाठेन रथाङ्गप्रीणनम् । ‘गृह-  
पतये’-इति भागं प्रशंसति— “श्रीर्वा इति । ‘गार्हपत्यं’ गृह-  
पतित्वं नाम ‘श्रीः’ ; यतः पुरुषो ‘यावतः’ धनस्य पुरुषस्य  
वा ‘इष्टे’, ‘तत्’ एतेन गृहपतय इति मन्त्रभागपाठनेन यज-  
मानस्य गार्हपत्यलक्षणं राज्यं मभिलक्ष्य रथो विमुक्तो भव-  
तीत्यर्थः ॥ एव मुत्तरेषु मन्त्रेषु एकदेशेन रथाङ्गप्रीणनम्, अपरेण  
यजमानफलार्थं रथ-विमोक्त उच्यत इति ॥ १५ ॥

“सोमायेति । “हयानीति । वनस्पतिनिर्मितानि ‘चक्राणि’  
‘हयानि’ द्विप्रकाराणि ‘रथ्यानि’ रथसम्बन्धीनि, ‘आनसानि’  
अनसम्बन्धीनि ‘च’ इति । तदेतेन “सोमाय वनस्पतये”—  
इतिमन्त्रपाठेन उभयविधेभ्यो रथ्यानासचक्रेभ्यः, तदर्थम्, ‘अरि-  
ष्टिम्’ अहिंसां कृतवान् भवति । सोमस्य वनस्पतित्वात्  
ओषधिपोषकत्वात् वनस्पतिपदेन रथस्य दारुविनिर्मितान्यङ्गानि  
प्रीणयति । सोमस्य क्षत्ररूपत्वम्, राजत्वाद् बलसम्पादकत्वाद्वा ।

तस्मात् सोमपदेन तृतीयसम्बन्धि स्वाराज्य मभिलक्ष्य रथो  
विमुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

“मरुता मिति । तृतीयेऽत्र मन्त्रे मरुता मिति पदेन  
रथस्यैव प्रीणनम् । रथस्य मारुतत्वं सम्पादयति— “चत्वारो-  
ऽश्वा इति । रथस्याश्वाचतुष्टयम्, ‘रथः’ स्वयं पञ्चमः, ‘द्वौ  
सव्यदृष्टारथौ’ सव्यदक्षिणभागयोरवस्थितौ द्वौ सारथी इति ‘सप्त’  
सङ्ख्या अस्ति ; मरुता मपि सप्तगणात्मकत्वात् सप्तसङ्ख्याकत्वम् ;  
अतः सप्तसङ्ख्यासाम्यात् मरुता मिति पदेन रथस्यैव प्रीणनं कृतं  
भवतीत्यर्थः । मरुत्यद मेव यजमानस्य फलार्थं मपि प्रशंसति—  
“विशो वा इति ॥ १७ ॥

“इन्द्रस्येति । अत्र चतुर्थमन्त्रे इन्द्रपदेन रथस्य सारथि-  
प्रीणनम् । सव्यभागे तिष्ठतीति ‘सव्यष्टा’ । तिष्ठतीरौषादिक  
चकारप्रत्ययः क्तिञ्च, क्तिच्वादाहोपः, “अम्बाम्बगोभूमि”-  
इति सूत्रे \* ‘स्वा-स्थिन्-स्थूषाः’-इति वचनात् षत्वम् ॥ १८ ॥

विधत्ते— “अथ वाराहो इति । ‘वाराहो’ वराहचर्म-  
निर्मिते ‘उपानहौ’ ‘उपसृजते’ । कात्यायनेन पशूनां रसोऽस्तीति  
मन्त्रेण वाराहोरुपानहोरुपसृजको † विहितः ‡ । तत्र मन्त्रे  
वराहस्य पशुरसत्वं मभिधीयते, तदुपपादयति— “अग्नौ ह  
वै देवा इति । पूर्वं देवा हृतकुम्भं मग्नीं प्रासुः, तस्माद्  
वराह उत्पन्नः ; अतो हृतोत्पन्नत्वाद् वराहस्य ‘मिदुरत्वं’ मांस-

\* पा० सू० ८. ३. ७६ ।

† ‘रूपविमोको’-इति ज । उपविमोकोऽर्थस्त्वैतरेयश्रुतितो-  
ऽवगन्तव्यः ( ऐ० ब्रा० ६. ४. ७. ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. २४ ।



लत्वम् । तस्मिन् 'वराहे' 'गावः' 'सञ्ज्ञानते' संवदन्ते ; स्त्रीय-  
रसभूतघृतोत्पन्नत्वात् । तस्माद् वाराह्योरुपानहोरुपमोकेन पशु-  
रस एव स्वयं प्रतिष्ठितो भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

“अथेमा मिति । 'पृथिवि मातः !' सर्वेषां निर्मात्रि  
पृथिव्या मातृत्वम् । द्यौः पिता पृथिवी मातेति \* श्रुत्यन्तरेषु  
अय्यते । 'मा' मां 'मा हिंसीः' मा वाधिष्ठाः , 'अहम्' अपि  
'त्वा' नैव हिंसिष मिति मन्त्रार्थः † । “वरुणाह वा अभि-  
षिषिचानादित्यादिकः , “न हि माता पुत्रं हिनस्ति , न  
पुत्रो मातर मित्यन्तः , वाक्यसन्दर्भो वाजपेये भूम्यवेक्षणप्रसङ्गे  
व्याख्यातः ‡ ॥ २० , २१ ॥

रथादवरोक्षणं विधत्ते— “सोऽवतिष्ठतीति § । अवरोह्य  
तिष्ठतीति' अवशब्दस्य रुद्धिकर्मणा समन्वये “समवप्रविभ्यः  
स्थः”—इति ॥ आत्मनेपदं न भवति ; तिष्ठतिक्रियायोगाभावेन  
प्रेत्युपसर्गसंज्ञाया अभावात् , अन्यथा आत्मनेपदं दुर्निवारं  
स्यात् । अथ वा व्यत्ययेन परस्मैपदम् ॥

“हंस इति ¶ । मन्त्रस्थाय मर्थः— इति पृथिवी मिति  
'हंसः' रथः , शुचौ देवयजने रथवाहने च सीदतीति 'शुचि-

\* “दौर्मै पिता ०—० माता पृथिवी”—इति ऋ० सं० १. १६४. ३३ ,  
“दौष्यितः पृथिवि मातर”—इति ६. ५२. ५ । एवमादिषु द्रष्टव्यः ।

† वा० सं० १०. २३. ५ ।

‡ इहेव पुरस्तात् २. १. १८ ( १०३ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ६. २६ ।

॥ पा० सू० १. ३. २२ ।

¶ वा० सं० १०. २४. १ ।

षत्, तस्योपरि यजमानं वासयतीति 'वसुः', तरुगुल्माद्यनव-  
 रुहेऽन्तरिक्षे सीदतीति 'अन्तरिक्षसत्', 'होता' होतृसमानः,  
 तदेव कथं मित्युच्यते— वेद्यां सीदतीति 'वेदिषत्', 'अतिथिः'  
 अतिथिसङ्ग्रहः, तदपि कथं मित्युच्यते— दुरोणेषु गृहेषु  
 सीदतीति 'दुरोणसत्' यो यस्तु मारोढुं नयति तस्य तस्य  
 गृहे सीदति, नृषु मनुष्येषूपकारं कर्तुं सीदतीति 'नृषत्',  
 वरे श्रेष्ठे राजादिगृहे सीदतीति 'वरसत्', ऋते यज्ञे वाज-  
 पेयादौ सीदतीति 'ऋतसत्', सूर्यं वोढुं व्योमनि आकाशे  
 सीदतीति 'व्योमसत्'। "अप्सुयोनिर्वा अग्निः"—इतिश्रुतेः \*  
 अग्नौ जातैरश्वैरुपेतत्वात् 'अग्नाः', गोशब्दवाच्याद् वज्रात्  
 जायत इति 'गोजाः', एतच्च "स्फास्तृतीयं रथस्तृतीयम्"—  
 इत्याम्नातम् †, ऋतार्थं यज्ञार्थं जातत्वात् 'ऋतजाः' अद्विभ्यो  
 वृद्धकाष्ठेभ्यो जातत्वात् 'अद्विजाः'। ईदृशो रथो 'बृहत्' प्रौढं  
 राजसूयाख्यम्, 'ऋतं' यज्ञं सम्पादयत्विति रथपक्षेऽर्थः ॥

सूर्यपक्षे त्वय मर्थः— हन्ति गच्छतीति 'हंसः' आदित्यः,  
 शुची निर्मले मण्डले सीदतीति 'शुचिषत्', 'वसुः' निवास-  
 हेतुः, प्राणात्मकवायुरूपेणान्तरिक्षे सीदतीति 'अन्तरिक्षसत्',  
 अग्निरूपेण वेद्यां सीदतीति वेदिषत्, अप्सु सूक्ष्मभूतेषु जायत  
 इति 'अग्नाः', गोषु पृथिवीप्रधानेषु स्थूलभूतेषु जायत इति  
 'गोजाः', ऋतौ सत्यभूते मण्डले जायत इति 'ऋतजाः', अद्वौ  
 पाषाणे मेघे वा उदकरूपेण जायत इति 'अद्विजाः', 'ऋतम्'

\* इहेवोपरिष्ठात् ( १३ का० १ प्र० ११ ब्रा० १६ क० ) द्रष्टव्यम् ।

† तै० सं० ५. २. ६. ४ द्रष्टव्यम्, गत मिह पुरस्तादपि ।

“ऋ गतो” \* सर्वत्र व्याप्तं ज्ञानात्मकम्, ‘हृत्’ ‘हृदि हृत्तौ’ † प्रहृष्टम्, परमानन्दलक्षण मिति ॥

मन्त्रगतं छन्दोविशेषं प्रशंसति— “एता मतिच्छन्दस मिति । हंसमन्त्रस्यातिजगतीच्छन्दः, सा च गायत्र्यादीनि छन्दांसि अतिक्रम्य वर्त्तत इति तस्या अतिच्छन्दस्त्वम् । सर्वासा मेव छन्दसां तत्रान्तर्भावात् सर्वच्छन्दोरूपत्वम्, तस्मात् सर्व-च्छन्दोऽतिक्रमणात् ‘एतां’ जपित्वा, अवरोहन्तम् ‘एनम्’ यज-मानम् ‘अनु’ ‘पाप्मा’ ‘नावतिष्ठति’ नावरोहति, पाप्मान मतिक्रामेदित्यर्थः ॥ २२ ॥

सयन्तृकस्य रथस्य रथवाहनेऽनसि स्थापनं विधातुं यन्तु-रवस्थानं निषेधति— “तत्रेति ‡ । सम्यक् प्रग्रहं गृह्णातीति ‘सङ्गृहीता’ ‘सारथिः सः, ‘तं’ यजमानम् ‘अनु’ ‘नावतिष्ठेत्’ नावरोहेत् । तत्र कारणं माह— “नेदिति । सुन्वन् यं लोकं प्राप्नोति, तं लोकं सारथिरपि न प्राप्नुयादिति । “तं सरथ मिति । ‘रथवाहने’ रथस्थापनसाधने ‘अनसि’ § ‘तम्’ सय-न्तृकं ‘रथम्’ ‘आदधाति’ ॥ निदध्यात् । तथाच तैत्तिरीय-कम्— “यदुभौ सङ्गवतिष्ठेतां समानं लोकं मियातां सह सङ्गृहीत्वा रथवाहने रथं मादधाति सुवर्गादेवैनं लोका-

\* भा० प० ८३६ धा० ।

† भा० प० ७३५ धा० ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. २७ । रथवाहणपाठोऽप्यनेकत्र ।

§ ‘रथवाहनेन प्रसिद्धत्वात् स्वयं मेव तस्यार्थं माह ( कर्कः )’

—“अनस्तत्कर्म”—इति का० श्रौ० सू० १५. ६. २८ ।

॥ मूले ‘आदधाति’—इति श्रूयते ।

दन्तर्दधाति”-इति \* । “तत् इति । ‘ततः’ पश्चाद् यन्ता  
‘अवाङ्’ अवाङ्मुखः सन् ‘अपप्रवते’ “प्रुङ् गतो”-इति †  
धातुः , अवरोहतीत्यर्थः । तथाच सूत्रितम्— “शालाया दक्षि-  
णतो ऽपप्रवते यन्ता”-इति ‡ ॥ २३ ॥

पूर्वं स्वस्य भ्रातुरर्थाय गोः स्थापनकाले पूर्वान्निवहनस्याह-  
वनीयस्योत्तरतः स्थापनं सूत्रकृतीकृतम्— “गवां शत मधिकं वा  
स्वस्याहवनीयस्योत्तरतः स्थापयति , पूर्वान्निवहनञ्च सान्नि”-  
इति §, तदिदानीं विधत्ते— “उत्तरेणाहवनीय मिति । “पूर्वान्नि-  
रिति । शान्तिपौष्टिकार्थीयोऽग्निः ‘पूर्वान्निः’, ‘सः’ अनसा  
‘उद्धृतः’ ऊर्ध्वं हृतः स्थापितो ‘भवति’ ॥

अथ रथवाहनस्य दक्षिणे अंशे शतमानयोरसंज्ञनम् , वरमेनि  
औदुम्बरीयाः शाखाया उपगूहनञ्च विधत्ते— “सं रथेति ।  
‘दक्षिणम्’ ‘अनुषण्डं’ प्रान्तं भनू ‘प्रहृत्तौ’ वर्तुलौ ‘शतमानौ’  
शतमानपरिमितौ द्वौ रुक्मौ ‘आवध्नाति’ आसजत् ॥ ॥ २४ ॥

“औदुम्बरी मिति । तयोः शतमानयोरन्यतरस्योपसंशर्जनं सम-  
न्वकं विधत्ते— “तयोरिति । कात्यायनस्तु मन्त्रद्वयं कृत्वा उभयो-  
रपि स्पर्शनं विनियोगं मुक्तवान् । “उपसृशति शतमानावियदसी-  
त्येकं युङ्ङसीत्यपरम्”-इति ¶ । ‘इयदसि’ एतावत्परिमाणोऽसि ।

\* तै० ब्रा० १. ७. ६. ६ ।

† भा० आ० ६५७ धा० ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. २६ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ६. १२, १४ । पूर्वोद्धृतं मिदम् (२८६८०) ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. ६. ३०, ३१ ।

¶ का० श्रौ० सू० १५. ६. ३२ ।

अत्र तत्परिमाणं हस्तेनाभिधीयते ; स्वल्पपरिमितत्वात् । 'आयु-  
रसि' आयुःस्वरूपोऽसि ; "आयुर्हि रण्यम्"—इति श्रुतेः \* । तस्मात्  
'आयुर्मयि धेहि' ; यो हि यदात्मको भवति , स एव तद् दातु-  
मुत्सहते । 'युङ्ङसि' "युजिर् योगे" † यज्ञं युनक्त्येति  
'युङ्', तथाविधः 'असि' । 'वर्चः' तेजः 'असि' । तस्माद्  
'वर्चां मयि धेहि' ‡ । मन्त्रस्यार्थं सङ्कलय्याह— "तदायु-  
र्वर्च इति ॥ २५ ॥

शाखाया उपस्यर्शनं समन्त्रं विधत्ते — "अथौदुम्बरी-  
मिति § । 'जर्क' अन्नम् 'असि' । तस्मात् 'मयि' 'जर्जम्'  
अन्नं 'धेहि' इति ॥ । एतयोर्दानं विधत्ते — "तस्यैतस्येति ।  
ब्रह्मणे दानं प्रशंसति — "ब्रह्मा हि यज्ञ मिति ¶ ॥ २६ ॥

विधत्ते — "अग्रेण मैत्रेति । मैत्रावरुणधियाण्यस्य पूर्वभागे  
व्याघ्रचर्मदेशे मित्रावरुणदेवत्या 'पयस्या' आमिक्षा 'निहिता  
भवति' । तस्यां यजमानबाह्वोरवहरणं विधत्ते — "ता मस्य  
बाह्व इति \*\* । 'अस्य' सुन्वतो 'बाह्व', 'ताम्' 'अभि'-लस्य  
'उपावरोहति' प्रसारयति । हे 'बाह्व !' 'वीर्यकृतः' वीर्यकारिणः  
'इन्द्रस्य' यजमानस्य सम्बन्धिनी 'वां' युवां ( बाह्व ) 'अभ्युपा-

\* ते० ब्रा० १. ७. ६. ३ ।

† रु० उ० ७ घा० ।

‡ वा० सं० १०. २५. १ ; २ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ६. ३३ क ।

॥ वा० सं० १०. २५. ६ ।

¶ का० श्रौ० सू० २५. ५. ३३ ख ।

\*\* का० श्रौ० सू० १५. ६. ३४ ।

वह्वरामि' 'अभि'-लक्ष्य स्थापयामि \* । बाहुपक्षेपं प्रशंसति—  
 “पशूनां वा इति । पयस्यायाः पशुरसात्मकत्वात् पशुरस मभि-  
 लक्ष्य बाह्व स्थापितवान् भवतीति । पयस्याया मैत्रावरुणत्वं  
 प्रशंसति— “तद्यन्मैत्रावरुणीति ॥ २७ ॥ ५ १ [ ४. ३. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
 पञ्चमकाण्डे चतुर्थाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति पञ्चमकाण्डे तृतीयः प्रपाठकः ‡ ॥

\* मन्त्र एषः— वा० सं० १०. २५. ७ ।

† एतद्ब्राह्मणविहितः सर्वोऽप्यर्थः तै० सं० १. ८. १५, तै० ब्रा०  
 १. ७. ६ व्यनुवाके च द्रष्टव्यः ।

‡ इत उत्तर मिह— ‘कण्डिकाः ११६’—इति क, ‘कण्डिका-  
 सङ्ख्या ११६’—इति ख, ग, घ । तत्र १ब्रा० २८क०, २ब्रा० ३७ क०,  
 ३ब्रा० १७ क०, ४ब्रा० १० क०, ५ब्रा० २७ क० । एतासां सङ्क-  
 लनया पञ्चसु ब्राह्मणेषु ११६ कण्डिकाः सम्यद्यन्त इति श्रम् ॥

अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

चतुर्थाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

मैत्रावरुण्या पयस्यया प्रचरति । तस्या  
अनिष्टं एव खिष्टकृद् भवत्यथास्मा ऽआसन्दी माह-  
रन्त्युपरिसृद्यं वा ऽएष जयति यो जयत्यन्तरिक्ष-  
सृद्यं तदेन मुपर्यासीन मधुस्तादिमाः प्रजा उपा-  
सते तस्मादस्मा ऽआसन्दी माहरन्ति सैषा खादिरी  
व्वितृष्णा भवति येयं व्वर्ध्नीयता भरतानाम् ॥ १ ॥

ता मयेण । मैत्रावरुणस्य धिष्णां निद-  
धाति खोनासि सुषदासीति शिवा मेवैतच्छ्रमां  
करोति \* ॥ २ ॥

अथाधीवास मास्तृणाति । क्षत्रस्य योनि-

\* 'करोति'—इति क ।

रसीति तद् यैव क्षत्रस्य योनिस्ता मेवैतत्  
करोति \* ॥ ३ ॥

अथैन मासादयति । स्योना मासीद सुषुदा  
मासीदेति शिवांशगमा मासीदेत्येवैतदाह क्षत्रस्य  
योनि मासीदेति तद्यैव क्षत्रस्य योनिस्तस्या मेवैन  
मेतद्वधाति † ॥ ४ ॥

अथान्तरांसे ऽभिमृश्य जपति । निषसाद  
धृतव्रत इति धृतव्रतो वै राजा न वा ऽएष  
सर्व्वस्मा ऽइव व्वदनाय न सर्व्वस्मा ऽइव कर्मणे  
यदेव साधु व्वदेद्यत् साधु कुर्यात्तस्मै वा ऽएष  
च श्रोत्रियश्चैतौ ह वै द्वौ मनुष्येषु धृतव्रतौ  
तस्मादाह निषसाद धृतव्रत इति व्वरुणः पस्थ्या-  
स्येति व्विशो वै पस्थ्या व्वित्सेत्येवैतदाह साम्ना-  
ज्याय सकृत्तुरिति राज्यायेत्येवैतदाह यदाह साम्ना-  
ज्याय सकृत्तुरिति ‡ ॥ ५ ॥

\* 'करोति'—इति क ।

† 'वधाति'—इति क ।

‡ '०रिति'—इति क । '०रिति'—इति ग, घ ।



अथास्त्रैः पञ्चाक्षान् पाणावावपति । अभि-  
भूरखेतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्ता मित्येष वा  
ऽअयानभिभूर्यत् कलिरेष हि सर्वानयानभि-  
भवति तस्मादाहभिभूरसीत्येतास्ते पञ्च दिशः  
कल्पन्ता मिति पञ्च वै दिशस्तदस्मै सर्वा एव  
दिशः कल्पयति \* ॥ ६ ॥

अथैनं पृष्ठतस्तूष्णीं मेव दण्डैर्घ्नन्ति । तं दण्डै-  
र्घ्नन्तो दण्डवध † मतिनयन्ति तस्माद्राजादण्डो  
यदेनं दण्डवध ‡ मतिनयन्ति § ॥ ७ ॥

अथ व्वरं वृणीते । युष्टु ह वै कंच सुषु-  
वाणी व्वरं वृणीते सोऽस्त्रैः सर्वः समृध्यते तस्मा-  
द्वरं वृणीते ॥ ८ ॥

स ब्रह्मन्मित्येव प्रथमं मामन्वयते । ब्रह्म  
प्रथमं मभिव्याहराणि ब्रह्मप्रसूतां व्वचं व्वदा-  
नीति तस्मात् ब्रह्मन्मित्येव प्रथमं मामन्वयते  
त्वं ब्रह्मासीतीतरः प्रत्याह सवितुसि सत्यप्रसव

\* 'कल्पयति'—इति क ।

†, ‡ 'दण्डवध'—इति ग ।

‡ 'मतिनयन्ति'—इति क ।

इति व्वीर्यं मेवास्मिन्नेतद्वधाति सवितार मेव  
सत्यप्रसवं करोति ॥ ९ ॥

ब्रह्मन्नित्येव द्वितीय मामन्वयते । त्वं ब्रह्मा-  
सीतीतरः प्रत्याह व्वरुणो ऽसि सत्यौजा इति  
व्वीर्यं मेवास्मिन्नेतद्वधाति व्वरुण मेव सत्यौजसं  
करोति ॥ १० ॥

ब्रह्मन्नित्येव तृतीय मामन्वयते । त्वं ब्रह्मा-  
सीतीतरः प्रत्याहेन्द्रो ऽसि व्विशौजा इति व्वीर्यं  
मेवास्मिन्नेतद्वधातीन्द्र मेव व्विशौजसं करोति ॥ ११ ॥

ब्रह्मन्नित्येव चतुर्थ मामन्वयते । त्वं ब्रह्मा-  
सीतीतरः प्रत्याह रुद्रो ऽसि सुशेव इति तत्  
वीर्याण्येवास्मिन्नेतत् पूर्व्वणि दधात्युद्येन मेतच्छ-  
मयत्येव तस्मादेष सर्व्वस्थे शानो मृडयति यदेन  
शमयति ॥ १२ ॥

ब्रह्मन्नित्येव पञ्चम मामन्वयते । त्वं ब्रह्मा-  
सीतीतरो ऽनिरुक्तं प्रत्याह परिमितं वै निरुक्तं  
तत् परिमित मेवास्मिन्नेतत् पूर्व्वं व्वीर्यं दधा-  
त्यथावानिरुक्तं प्रत्याहापरिमितं वा ऽनिरुक्तं

तदुपरिमित मेवास्मिन्नेतत् सुखं व्यीथं दधाति  
तस्मादवानिरुक्तं प्रत्याह \* ॥ १३ ॥

अथ सुमङ्गलनामान् ह्वयति । बहुकार  
श्वेयस्कर भूयस्करेति यु एवन्नामा भवति कल्याण  
मेवैतन्मानुष्यै व्याचो व्यदति † ॥ १४ ॥

अथाक्षै ब्राह्मण स्फ्यं प्रयच्छति । अध्व-  
र्युर्वा यो व्यास्य पुरोहितो भवतीन्द्रस्य व्यञ्जो-  
ऽसि तेन मे रध्येति व्यञ्जो वै स्फ्यः स एतेन  
व्यञ्जेण ब्राह्मणो राजान मात्मनो ऽबलीयाऽसं  
कुरुते यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमिचेभ्यो  
वै स बलीयान् भवति तदमिचेभ्य एवैन मेतद्  
बलीयाऽसं करोति ॥ १५ ॥

तु ‡ राजा राजभात्रे प्रयच्छति । इन्द्रस्य  
व्यञ्जोऽसि तेन मे रध्येति तेन राजा राजभातर  
मात्मनो ऽबलीयाऽसं कुरुते ॥ १६ ॥

तु राजभाता सूताय वा स्थपत्ये वा

\* 'प्रत्याह'—इति क ।

† 'व्यदति'—इति क ।

‡ 'तर'—इति क, ग ।

प्रयच्छति । इन्द्रस्य व्यञ्जो ऽसि तेन मे रध्येति  
तेन राजभाता सूतं वा स्थपतिं व्यात्मनो ऽबली-  
याप्सं कुरुते ॥ १७ ॥

तुं सूतो वा स्थपतिर्वा ग्रामण्ये प्रय-  
च्छति । इन्द्रस्य व्यञ्जो ऽसि तेन मे रध्येति  
तेन सूतो वा स्थपतिर्वा ग्रामण्य मात्मनो  
ऽबलीयाप्सं कुरुते ॥ १८ ॥

तं ग्रामणीः सजाताय प्रयच्छति । इन्द्रस्य  
व्यञ्जो ऽसि तेन मे रध्येति तेन ग्रामणीः सजात  
मात्मनो ऽबलीयाप्सं कुरुते तद्यदेवुं सम्प्रयु-  
च्छन्ते नेत्पापवस्त्रस मुसद्यथापूर्वं मसदिति तुस्मा-  
देवुं सम्प्रयच्छन्ते \* ॥ १९ ॥

अथ सजातस्य प्रतिप्रस्थाता च । एतेन  
स्फोटन पूर्वाग्नौ शुक्रस्य पुरोरुचाधिदेवनं कुरुतो-  
ऽप्ता वै शुक्रोऽत्तार मेवैतत् कुरुतः † ॥ २० ॥

अथ मन्थिनः पुरोरुचा विमितं विमि-

\* 'सम्प्रयच्छन्ति'—इति क । 'सम्प्रयच्छन्ते'—इति ख ।

† 'कुरुतः'—इति ग, घ ।

नुतः । आद्यो वै मन्यो तदत्तार मेवैतत् कृत्वा-  
याश्ना ऽएतदाद्यं जनयतस्तस्मान्मन्यिनः पुरोक्त्वा  
व्विमितं व्विमिनृतः \* ॥ २१ ॥

अथाध्वर्युः । चतुर्गृहीत मांज्यं गृहीत्वाधि-  
देवने हिरण्यं निधाय जुहोत्यग्निः पृथुर्दुर्मणस्पति-  
र्जुषाणो ऽअग्निः पृथुर्दुर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु  
स्वाहेति † ॥ २२ ॥

अथाक्षान्निवपति । स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभि-  
र्यतध्वः सजातानां मध्यमेष्ठायेत्येष वा ऽअग्निः  
पृथुर्यदधिदेवनं तस्यैमे ऽङ्गारा यदक्षास्तु मेवै-  
तेन प्रीणाति तस्य ह वा ऽएषानुमता गृहेषु  
हन्यते यो वा राजसूयेन यजते यो वैतदेवं  
व्वेदैतेष्वक्षेष्वाह गां दीव्यध्व मिति पूर्वान्निवाहौ  
दक्षिणा ‡ ॥ २३ ॥

अथाहान्ये स्विष्टकृते ऽनुब्रूहीति । तद्य-  
दन्तरेणाहुती ऽएतत् कर्म क्रियत ऽएष वै प्रजा-

\* 'व्विमिनृतः'—इति ग, घ ।

† 'स्वाहेति'—इति क । 'स्वाहेति'—इति ग, घ ।

‡ 'दक्षिणा'—इति ग, घ ।

पतिर्यु एषु यज्ञस्तायते युष्मादिमाः प्रजाः  
 प्रजाता एतम्बेवाप्येतर्ह्यनु प्रजायन्ते तदनं मध्यतु  
 एवैतस्य प्रजापतेर्हृधाति मध्यतः सुवति तृष्णा-  
 दन्तरेणाहुती ऽएतत् कर्म क्रियत ऽआश्राव्या-  
 हाग्निं स्विष्टकृतं यजेति व्यष्टकृते जु-  
 होति ॥ २४ ॥

अथेडा मादधाति \* । उपहृताया मिडाया मपु  
 उपस्पृश्य माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति माहेन्द्रं ग्रहं  
 गृहीत्वा स्तोत्रं मुपाकरोति तं स्तोत्राय प्रसी-  
 वति स उपावरोहति सोऽन्ते स्तोत्रस्य भवत्यन्ते  
 शस्त्रस्य ॥ २५ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [४. ४.] ॥

अथ पयस्यायाः प्रचारं विधत्ते— “मैत्रावरुण्येति । “तस्या  
 अनिष्ट इति । ‘तस्याः’ पयस्यायाः स्विष्टकृत् ‘अनिष्टः’ अहुतो  
 भवति , प्राक् स्विष्टकृत इत्यर्थः ॥

विधत्ते— “अथास्मा आसन्दी मिति । आसन्दीबक्षणं

\* ‘मादधाति’—इति क ।

पूर्वं मुक्तम् । आसन्द्याहरणं प्रशंसति— “उपरिस्थ मिति ।  
एतद् वाक्यं वाजपेये व्याख्यातम् ‡ । तस्याः वृत्तविशेषगुणा-  
न्तरं वाक्यभेद मङ्गीकृत्य विधत्ते— “सैषा खादिरीति ।  
‘वितृष्णा’ सच्छिद्रा भवेत् । तस्या आसन्द्या रज्जुव्यूतत्व मस्ति,  
तत्र यजमानविशेषेण रज्जुविशेषं दर्शयति— “येय मिति ।  
‘वर्ध्व्यूता’ वर्ध्वाश्मरज्जवः, ताभिर्व्यूता सन्नद्धा भवति ‘भर-  
तानाम्’ ; अन्वेषान्तु रज्जुमात्रम् । कात्यायनो निर्विशेषं सूत्रया-  
मास— “खादिरी मासन्दीं रज्जुव्यूताम्”—इति ¶ ॥ १ ॥

तस्या निधानप्रदेशं विधत्ते— “ता मयेषेति । मन्त्रं  
विधत्ते— “स्योनेति † । हे आसन्दी ! ‘स्योना’ सुखरूपा  
‘असि’, ‘सुषदा’ सुषदनयोग्या ‘असि’ । मन्त्रं विवृणोति—  
“शिवा मिति । ‘शग्मा’ सुखकरीम् ॥ २ ॥

विधत्ते— “अथाधीवास मिति § । ‘अधिवासः’ आस्त-  
रणम्, चित्रकम्बलादिकम् । “क्षत्रस्येति ॥ । एष मन्त्रो  
व्याख्यातः ¶ ॥ ३ ॥

अस्यां सुन्वत उपवेशनं समन्त्रकं विधत्ते— “अथैन  
मिति । ‘आसादयति’ उपवेशयतीत्यर्थः \*\* । हे यजमान !

\* प्र० १. ६. २२ ( १०४ पृ० ३ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १५. ७. १ । ‘रज्जुनाम्’—इति तत्र सुद्रितपाठः ।

‡ वा० सं० १०. २६. १ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ७. २ ।

॥ वा० सं० १०. २६. २ ।

¶ प्र० ३. २. २२. ( २४७ पृ० ४ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

\*\* का० श्रौ० सू० १५. ७. ३ ।

‘स्योनां’ सुखरूपाम् आसन्दीम् ‘आसीद’ आरोह, सुखसाधन-  
योग्या मधितिष्ठेत्यर्थः । “अत्रस्य योनि मासीदेति, उपवेशन-  
मन्त्रस्योत्तरभागः । अधीवासस्तारणे ‘अत्रस्य योनिः’ अधीवासः,  
त आरोहेत्यर्थः \* ॥ ४ ॥

हृदयदेशादिस्पर्शपूर्वकं जपं विधत्ते— “अथान्तरांस इति ।  
‘अन्तरांसे’ अंसमध्ये ‘अभिसृज्य’ जपेत् † ।

मन्त्रस्त्राय मर्थः— अयं यष्टा ‘धृतव्रतः’ स्वीकृतयज्ञः,  
नियमितवचनादिव्यापारो ‘वरुणः’ अनिष्टनिवारको भूत्वा ‘निष-  
साद’ अस्या मासन्त्या मुपरि द्वेष्टे । ‘पस्थ्यासु’ बहुषु वैरि-  
ष्टहेषु, ‘विशु’ प्रजासु चामत्य साम्राज्यं कर्त्तुं ‘सुक्रतुः’  
शोभनसङ्कल्पो भवतु ‡ ॥

मन्त्रं प्रतिपाद मन्त्रस्य व्याचष्टे — “धृतव्रतो वै राजेति ।  
धृतव्रतत्वं दर्शयति— “न वा एष इति । ‘एषः’ सुन्वन्  
‘सर्वस्यै’ ‘वदनाय’ वाक्याय, असम्बद्धप्रलापायेत्यर्थः । तथा  
अनुपयुक्तकर्मणे वा योग्यो भवति । कस्मै योग्य इति तदाह—  
“यदेवेति । तस्मै साधुवदनाय साधुकर्मणे च ‘एषः’ सुन्वन्  
राजा, ‘ओत्रियश्च’ ब्राह्मणः, उभावर्हौ भवतः । एतयो-  
नियतव्रतत्व माह— “एतो ह वा इति । ‘मनुष्ये’ मध्ये ‘एतो’  
एव ‘धृतव्रतो’ § । ओत्रियोऽपि न बहुभाषी नासाधुकर्मकारी ।  
‘पश्या’-शब्दार्थ माह— “विशो वा इति ॥ ५ ॥

\* वा० सं० १०. २६. ३ । अधिवास इति पाठस्त्रसाधुः ।

† का० श्रौ० सू० १५. ७. ४ ।

‡ वा० सं० १०. २७. १ ।

§ इहत्यः किञ्चित्पाठो विशुप्त इति गम्यते ।



यजमानहस्ते पञ्चाक्षावापं च विधत्ते— “अथाक्षा इति \* ।  
 अक्षा नाम कपर्दिकाः सुवर्णनिर्मिताः , विभीदकफलानि सौव-  
 र्णानि वेत्येके † । ते चाक्षा द्यूतस्थाने निवपनीयाः ‡ । तेषां  
 चतुर्णां मन्त्राणां ‘कृत’-सञ्ज्ञा, पञ्चानां (!) ‘कलि’-सञ्ज्ञा § । तथा  
 च शास्त्रान्तरे स्तोमसङ्ख्यायां कृतादिव्यवहारः कृतः— “ये  
 चत्वारः स्तोमाः कृतं तत् , अथ ये पञ्च कलिः सः”—इति ।  
 यदा पञ्चाप्यक्षा उत्ताना ॥ भवन्ति , तदा देवितुर्जयो भवति ,  
 पञ्चसु त्वेकरूपासु जय एव भविष्यतीत्यन्यत्रोक्तम् । अतः कलिः  
 सर्वाक्षाभिभावुकत्वात् , सुन्वतोऽपि जयापेक्षत्वात् पञ्चाक्षनिवाप  
 इत्यर्थः । तथा च मन्त्रे कलिर्वा तत्सम्बन्धात् यजमानो वा  
 उच्यते । हे यजमान ! ‘अभिभूः’ इतरेषा मन्त्राणा मभि-  
 भविता भवसि । तदर्थम् ‘एताः पञ्च दिशः कल्पन्ताम्’  
 स्वाधीना भवन्त्विति ॥

मन्त्रं व्याचष्टे— “एष वा अयानिति ¶ । अयशब्दोऽक्ष-  
 वाची ; ‘कलिर्हि सर्वान् अयान् अभिभवति’ ; अधिकसङ्ख्यात्वात् ।  
 एषोऽपि यजमानस्तत्सम्बन्धादभिभावुको भवतीत्यर्थः ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ७. ५ ।

† ‘सौवर्णा वा’—इति ज ।

‡ ते ब्रा० १. ७. १० द्रष्टव्यम् । आपस्तम्बश्चाह— “अक्षावापी-  
 ऽधिदेवन मुहुर्वावोक्ष्याक्षान् निवपेत् सौवर्णान् परःशतान् परःसहस्रान्  
 वा”—इति श्रौ० सू० १८. १८, १९. १६, १ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ७. १८, १९ ।

॥ ‘उत्पन्ना’—इति च, छ ।

¶ वा० सं० १०. २८. १ ।

पञ्चदिविजयसङ्कल्पसिद्धि मेव दर्शयति— ‘पञ्च वै दिश इति ॥ ६ ॥

विधत्ते अथैन मिति । ‘दण्डैः’ यन्त्रियवृत्तकाष्ठैः ‘एनं’ सुन्वन्तं ‘पृष्ठतः’ पश्चाद्भागे ‘तूष्णीम्’ अमन्त्रकं ‘घ्नन्ति’ हन्त्युः । अत्र सूत्रम् कृतस्य ममन्त्रकं मवहननं शाखास्तरीयमन्त्रश्च विकल्पेन दर्शयामास— “पश्चादेनं यन्त्रियवृत्तदण्डैः शनैः स्तूष्णीं घ्नन्ति घाप्तानं तेऽपह्नोऽति त्वा बधं नयामीति वा”—इति \* । “तं दण्डैरिति । सुन्वतो दण्डवधेन अन्यकर्तृकस्य दण्डवधस्य प्रापण मेव कृतवन्तो भवन्ति , तस्माद् राज्ञोऽदण्डभावः † । यथा राजा स्वा अपराधाः ‡ प्रजा दण्डयति , एवं स्वयं न दण्डय इत्यर्थः ॥ ७ ॥

विधत्ते— “अथ वर मिति । ‘वरं’ ‘वृणीते’ याचते , यजमानः कर्त्ता । वरवरणं प्रशंसति— “यं ह वै कश्चेति ॥ ८ ॥

कात्यायनः— “वरं वृत्वा ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयते पञ्चकत्वः , प्रत्याह व्यत्यासः सविता वरुण इन्द्रो रुद्र इति , त्वं ब्रह्मासीत्यादिभिः”—इति § । अस्यार्थः— यजमानो वरं वृत्वा ब्रह्मन्निति पदं पञ्चकत्वो वदेत् । तं सुन्वन्तं सविटवरुणेन्द्ररुद्रवाचकैस्त्वं ब्रह्मासीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैरितरः प्रतिवदेत् , पञ्चमामन्त्रेण केवलं त्वं ब्रह्मासीति प्रतिवदेदिति । तदिदं क्रमेण विधत्ते— “स ब्रह्मन्निति । ‘प्रथमं’ पूर्वम् । “प्रथम मिति , स्यष्टोऽर्थः ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ७. ५ ख , ६ ।

† ‘राज्ञोऽदण्डात्वाभावः’—इति छ ।

‡ ‘अपराधाः’—इति ज ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ७. ७, ८ ।

प्रथमप्रतिवचनमन्त्रस्याय मर्थः चे यजमान ! 'त्वं ब्रह्मा  
असि', 'सत्यप्रसवः' यथार्थाभ्यनुज्ञः 'सविता असि' 'इति' \*  
प्रथमामन्त्रयितारं सुन्वन्तं ब्रह्मा प्रतिब्रूयात्, सवितादिवाचकैः  
मन्त्रैः प्रतिवचनेन यजमानं तत्तद्देवतात्मकत्वेन कृतवान्  
भवतीत्यर्थः ॥ ( ८ )

द्वितीयादिषु मन्त्रेषु त्वं ब्रह्मासीति पूर्ववत् । 'सत्योजाः'  
सत्यकौर्यः, 'वरुणः' 'असि' † । 'विष्णु' प्रजासु 'भोजः' बलं  
यस्य, यद्वा विश एकोऽसौ यस्येति 'विशीजाः' तादृशः 'इन्द्रः'  
'असि' । देवतापक्षे मरुतो विशः तदात्मकाः, राजपक्षे  
प्रजाः ‡ । 'सुशिवः' सुमुखः 'रुद्रः' 'असि' § । रुद्रस्य सुशे-  
वत्वं प्रशंसति— "तद्धीर्याणीति । ईशानस्य सर्वसुखकरत्वात्  
पूर्वमन्त्रप्रतिवचनेन यजमाने स्थापितानि वीर्याणि शमयति; वीर्य-  
वन्तम् 'एनं' रुद्रोऽसि सुशिव इति प्रतिपादनात् ॥ ( १०, ११, १२ )

यजमानकर्तृकपञ्चमामन्त्रणस्य प्रतिवचने विशेषं दर्शयति—  
"ब्रह्मब्रह्मैवेति ॥ । "त्वं ब्रह्मासीति । ब्रह्मब्रह्मैवामन्त्रणे । 'त्वं  
ब्रह्मासि' 'इति' एतावदेव 'अनिरुक्तम्'; कस्य चिदपि देवता-  
विशेषस्याप्रतिपादकं वाक्यं प्रतिवदेत् । तत् प्रशंसति— "अपरि-  
मित मिति । 'निरुक्तम्' निःशेषेण वक्तुं योग्यं निरुक्तम्  
'परिमितम्', तत्पूर्वमन्त्रेषु "सवितासि"—इत्यादिषु कृतम् ; "

\* वा० सं० १०. २८. २ ।

†, ‡, § वा० सं० १०. २८. ३, ४, ५ ।

॥ "आदिनेवान्त्यम्"—इति का० श्रौ० सू० १५. ७. ६ । 'त्वं  
ब्रह्मासीत्यस्यादिरिति संज्ञा, अन्त्यं पञ्चमं प्रतिवचनम्; 'आदिना'  
ब्रह्मासीत्येतावन्तैव मन्त्रेण ब्रह्मणा कर्तव्यम्—इति तद्वृत्तिरिच्छासीत्या ।

अत्रानिरुक्तप्रतिवचनेन यजमाने अपरिमितं वीर्यं निहित-  
वान् भवतीति ॥ १३ ॥

विधत्ते— “अथ सुमङ्गलेति \* । सुमङ्गलनामान माङ्ग्य  
बहुकारेतिमन्त्रेण † यजमानं कीर्त्तयेत् । पदत्रयं सम्बुध्य-  
न्तम् । बहु करोतीति बहुकारः । “कर्मण्यण्” ‡ । श्रेयः  
करोतीति श्रेयस्कारः । “कञो हेतुताच्छीत्यानुलोम्येषु”—इति  
टच् § । भूयो भूयो महत्तरं करोतीति भूयस्कारः । “य एव  
मिति । ‘यः’ पुरुषो लोके प्रियङ्करनामा ‘भवति’, स ‘मानुष्ये’  
मानुष्याः ‘वाचः’ ‘कल्याणं’ सर्वेषां प्रिय मेव ‘वदति’ ॥

अत्र कात्यायनः उत्तरतन्त्रं सङ्गृह्य दर्शितवान्— “स्फा  
मक्षौ प्रयच्छति पुरोहितोऽध्वर्युर्वा इन्द्रस्य वज्र इति , राजा  
राजभ्राता सूतस्यपत्न्योरन्यतरी ग्रामणीः सजातश्चैवं पूर्वः-पूर्व  
उत्तरस्त्रौ”—इति ॥ १४ ॥

तदिदं क्रमेण विधत्ते— “अथास्मा इत्यादिना । ‘अक्षौ’  
सुन्वते ‘स्फां’ ‘ब्राह्मणः’ दद्यात् । हे स्फा ! ‘इन्द्रस्य वज्रो-  
ऽसि’ । “स्फास्तृतीयं रथस्तृतीयम्”—इतिश्रुतेः ¶ । तेन कार-  
णेन ‘मे’ मम ‘रथ्या’ । “रथ्यतिर्विशगमने” \*\*\* । मदीयाय

\* का० श्रौ० सू० १५. ७. १० ।

† वा० सं० १०. २८. ६ ।

‡ पा० सू० ३. २. १ ।

§ पा० सू० ३. २. २० ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. ७. ११, १२ ।

¶ ते० सं० ५. २. ६. ४ ।

\*\*\* निरु० १०. ४. ३ । “रथ हिंसासंराध्वोः” - इति दि० प० ८७ प्रा० ।

यजमानाय सर्वं वशीकुरु । यद्वा, 'रध्या' द्यूतस्थानपरिलेखन-  
रूपं कार्यं साधयेति \* ॥

मन्त्रस्य तात्पर्यं माह— “वज्री वा इति । अयं मर्थः—  
ब्राह्मणो राज्ञे वज्ररूपस्फाप्रदानेन स्वस्मादपि राजानं बल-  
वत्तरं कृतवान् भवति । तदेवाह— “यो वा इति । ‘यः’  
खलु राजन्वो ‘ब्राह्मणात्’ हीनबलः, ‘सः’ ‘अग्नित्रेभ्यः’ शत्रुभ्यो  
बलवत्तरः [ न ] भवति ; तस्मात् ब्राह्मणः स्फाप्रदानेन शत्रुभ्यो-  
ऽधिकबलं कृतवान् भवतीत्यर्थः ॥

एव मुत्तरत्वापि योज्यम् । सूतग्रामणीसजाता व्याख्याताः† ॥

राजादिषु सजातीयेषु स्फाप्रदानं सम्भूय प्रशंसति— “तय-  
देव मिति । ‘पापवस्त्रसं’ पापिष्ठं कर्म ‘नेदसत्’ न भवेत्, किन्तु  
यथापूर्वं भवेदिति बुद्ध्या प्रदानं मित्यर्थः ॥ १५, १६, १७, १८, १९ ॥

अथ द्यूतस्थानकरणं च सविशेषं समन्त्रकञ्च विधत्ते—  
“अथ सजातश्चेति । आहवनीयस्योत्तरप्रदेशे स्थापितः स  
पूर्वाग्निः, तस्मिन् तत्संस्पृष्टम् अधिदोव्यन्धत्वेति ‘अधिदेवनम्’  
द्यूतभूमिः, तां शुक्रग्रहस्य पुरोरुचा “तं प्रत्नया पूर्वथा  
विश्वथेमथा”—इत्यनया ‡ ‘कुरुतः’ । अत एव सूत्रम्— “प्रत्नेन  
सजातः प्रतिप्रस्थाता च पूर्वाग्निसहितां शुक्रपुरोरुचा द्यूत-  
भूमिं कुरुतः”—इति § ।

चतुर्थकाण्डे द्वितीयेऽध्याये शुक्रामन्त्रग्रहयोरत्ताद्यभावेन

\* वा० सं० १०. २८. ७ ।

† पुरस्तात् ( प्र० २ ब्रा० ५ ) २६२—२८१ पृ० द्रष्टव्यम् ।

‡ ऋ० सं० ५. ४४. १ ऋक् ।

§ का० औ० सू० १५. ७. १३ ।

सुतयोः पुरोरुग्दयं विहितम् ; तदर्थसु तत्रैव विहित इति  
नेह पुनर्व्याख्यायते \* । शुक्रस्यात्तृत्वात् तन्मन्त्रेण द्यूतभूमि-  
करणाद् यजमान मत्तारं कृतवन्तौ भवतः ॥ २० ॥

“अथ मन्थिन इति † । मन्थिग्रहपुरोरुचा “अयं वेन-  
श्रोदयत् पृथ्निगर्भा”—इत्यनया ‘विमितं’ विमिन्वन्यत्वेति विमितं  
चतुर्द्वारं चतुरस्रं मण्डपं तद् ‘विमितुतः’ कुरुतः । “आद्यो  
वा इत्यादेरय मर्थः— मन्थिन आद्यत्वात् तन्मन्त्रेण विमित-  
करणात् अतृभूताय यजमानाय आद्यं सम्पादितवन्तौ भवत  
इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अथाधिदेवने हिरण्यनिधानपूर्वकं होमं समन्त्रकं विधत्ते—  
“अथाध्वर्युरिति ‡ । यज्ञे देवानां प्रथनात् ‘पृथुः’, सः  
‘धर्मणस्पतिः’ धर्मणः धारणस्य पतिः , अतो देवतौद्देशेन ह्य-  
मानं हविः ‘जुषाणः’ सेवमानः ‘अग्निः’ । ‘पृथुर्धर्मणस्पतिः’—  
इति पुनर्वचन मादरार्थम् , विध्यनुवादाभिप्रायं वा । ‘आज्यस्य’  
घृतस्य । कर्मणि षष्ठी । आज्यं ‘वेतु’ पिबतु । “वी गतिव्याप्तिप्रजन-  
कान्त्यसनखादनेषु” § । ‘स्वाहा’—इति होमार्थः ॥ २२ ॥

तत्र विमिते अक्षनिवापं समन्त्रकं विधत्ते— “अथाक्षा-  
निति ¶ । ‘स्वाहाकृताः’ स्वाहाकारपूर्विकया आहुत्या तर्पिताः

\* “तयोरत्तेवान्यतरः, आदौऽन्यतरः; अत्तेव शुक्रः, आदौ  
मन्थी”—इत्यादि द्रष्टव्यम् ( ४ का० २ अ० १ ब्रा० ३-१० ) ।

†, ‡ का० औ० सू० १५. ७. १५ क, ख ।

§ अदा० प० ३८ धा० ।

॥ वा० मं० १०. २६. १ ।

¶ का० औ० मृ० १५. ७. १६ ।

हे अक्षाः ! 'सजातानां' समानजन्तानां भ्रातृणां 'मध्यसेष्ठाय'  
मध्यमपदेशे यजमानावस्थानाय 'सूर्यस्य रश्मिभिः' 'यतध्वम्'  
सङ्गता भवतीति \* ॥

मन्त्रवत्कर्मकरणं प्रायेण कस्यैचिद् देवतायै भवति, अतो  
द्युतभूमौ अग्निवापस्य देवतासत्तर्पकत्वं दर्शयति— "एष  
वा अग्निरिति । 'अग्निदेवनं' द्यूतस्थानम् । तदेवोपपादयति  
— "तस्यैत इति । 'तस्य' अग्नेः 'अक्षाराः' एव देवनसाधन-  
भूताः 'अक्षाः', तस्मात् तेनाग्निधाम्नेन अग्नि मेव प्रीणित-  
वान् भवतीति ॥

अत्र यदुक्तं सूत्रे— "अक्षान् निवपति स्वाहाकृता इति,  
गां दीव्यध्वमित्याह"—इति, "गा मस्थानीयं व्रजति"—इति  
च † । देवनकाले गा मेव पणत्वेन कृत्वा, "गां दीव्यध्वम्"—  
इति द्यूतकरणप्रैषं ब्रूयात् । ततोऽस्य पणत्वेनाङ्गीकृतां गा  
मानीयं व्रजति । "व्रजति च आहननमात्रो न मारणार्थः" ‡ ।  
तदिदं विधत्ते— "तस्य ह वा इति । यो राजसूयेन यजते,  
यो वा एतत् कर्म वेत्ति, तस्य गृहेष्वेवा' गौः 'अनुमता' अङ्गी-  
कृता 'हन्त्यते' । अत्र गोप्रसक्तिं दर्शयति— "एतेष्वेवेष्टिति ॥

द्यूतकर्मणो दक्षिणां विधत्ते— "पूर्वा मिति । पूर्वान्निम्  
आहवनीयं वहत इति पूर्वान्निवाहौ तावन्डाहौ 'दक्षिणा' § ।

\* वा० सं० १०. २६. २ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ७. १६, १७, २० ।

‡ इति तत्र कर्कः । 'ताडनमात्रं' कुर्वन्ति न तु मारणम्—  
इति तदर्थं प्रकाशितस्तत्रैव ( का० १५. ७. २०. ) ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ७. २१ ।

आपस्तम्बोऽप्याह-- “पठौहीं विदीव्यन्तः ओदनं मुदुब्रुवते,  
तदेतस्य कर्मणः पूर्वाम्निवाही दक्षिणा, तौ ब्रह्मणे द्यौः”  
-इति \* ॥

तदिदं देवनं सन्निधिवलादभिषेचनीयाख्यसोमयागमध्यगत  
मघि महाप्रकरणबलात् इष्टिपशुसोमयागात्मकराजसूयशेष इति  
गम्यते, प्रकरणेन सन्निधेर्वाध इति हि सिद्धान्तितम् † ॥ २३ ॥

अथ पयस्यास्विष्टकृदिडादिकं दर्शयति— “अथाहानय इति ।  
प्रधानसौविष्टकृतहविषोर्मध्ये यद् देवनादिकं कृतम्, तत्  
प्रजापतिमध्यनिधानरूपेण प्रयंसति— “तद् यदन्तरेणेति ।  
“आत्राव्याहेत्वादि, स्पष्टम् ‡ ॥ २४ ॥

“अथेडा मादधातीति, कण्डिका वाजपेये व्याख्याता ॥ २५ ॥ १ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे चतुर्थाध्याये चतुर्थे ब्राह्मणम् ॥

( अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् . )

वृक्षणाद् वा ऽअभिषिषिचानाङ्गोर्गे ऽपचक्राम ।  
व्रीर्यं वै भुर्ग एष त्विष्णुर्गृह्णः सो ऽस्मादपचक्राम

\* आप० श्रौ० सू० १८. १६. २, ३ ।

† “श्रुतिलिङ्गवाक्य प्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्या  
मर्थे विप्रकर्षात्”—इति मी० जै० सू० ३. ३. १४ ।

‡ सर्वे मिदं ते० सं० १. ८. १६, ते० ब्रा० १. ७. १० द्रष्टव्यम् ॥



हे अक्षाः ! 'सजातानां' समानजन्तानां भ्रातृणां 'मध्यसेष्ठाय'  
मध्यमप्रदेशे यजमानावस्थानाय 'सूर्यस्य रश्मिभिः' 'यतध्वम्'  
सङ्गता भवतीति \* ॥

मन्त्रवत्कर्मकरणं प्रायेण कस्यैचिद् देवतायै भवति, अतो  
द्युतभूमौ अग्निवापस्य देवतासत्तर्पकत्वं दर्शयति— "एष  
वा अग्निरिति । 'अग्निदेवनं' द्यूतस्थानम् । तदेवोपपादयति  
— "तस्यैत इति । 'तस्य' अग्नेः 'अक्षाराः' एव देवनसाधन-  
भूताः 'अक्षाः', तस्मात् तेनाग्निधाम्नेन अग्नि मेव प्रीणित-  
वान् भवतीति ॥

अत्र यदुक्तं सूत्रे— "अक्षान् निवपति स्वाहाकृता इति,  
गां दीव्यध्वमित्याह"—इति, "गा मस्थानीयं व्रजति"—इति  
च † । देवनकाले गा मेव पणत्वेन कृत्वा, "गां दीव्यध्वम्"—  
इति द्यूतकरणप्रैषं ब्रूयात् । ततोऽस्य पणत्वेनाङ्गीकृतां गा  
मानीयं व्रजति । "व्रजति च आहननमात्रो न मारणार्थः" ‡ ।  
तदिदं विधत्ते— "तस्य ह वा इति । यो राजसूयेन यजते,  
यो वा एतत् कर्म वेत्ति, तस्य गृहध्वेषा गौः 'अनुमता' अङ्गी-  
कृता 'हन्त्यते' । अत्र गोप्रसक्तिं दर्शयति— "एतेष्वक्षेप्ति ॥

द्युतकर्मणो दक्षिणां विधत्ते— "पूर्वा मिति । पूर्वान्निम्  
आहवनीयं वहत इति पूर्वान्निवाहौ तावन्डाहौ 'दक्षिणा' § ।

\* वा० सं० १०. २६. २ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ७. १६, १७, २० ।

‡ इति तत्र कर्कः । 'ताडनमात्रं' कुर्वन्ति न तु मारणम्—  
इति तदर्थं प्रकाशितस्तत्रैव ( का० १५. ७. २०. ) ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ७. २१ ।

माश्रुत । \* तथो ऽएवैष एताभिरेव देवताभि-  
 रेतुस्य सोमपीथ मश्रुते तस्मादेता एव देवताः  
 सङ्ख्याय प्रसर्पेदथ यदैवैषोदवसानीयेष्टिः सन्तिष्ठत  
 ऽएतस्याभिषेचनीयस्य † ॥ ५ ॥

अथैतानि हवींषि निर्व्वपति । सावित्रं  
 द्वादशकपालं व्याष्टाकपालं वा पुरोडाशं सविता  
 वै देवानां प्रसविता सवितृप्रसूत एव तद्रूपो  
 ऽनुसमसर्पत्तथो ऽएवैष एतत् सवितृप्रसूत एवानु-  
 सॄसर्पति तच्चैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति ‡ ॥ ६ ॥

अथ सारस्वतं चक्रं निर्व्वपति । व्याग्वै  
 सुरस्वती व्याचैव तद्रूपो ऽनुसमसर्पत्तथो ऽए-  
 वैष एतद्वाचैवानुसॄसर्पति तच्चैकं पुण्डरीकं  
 प्रयच्छति § ॥ ७ ॥

अथ त्वाष्ट्रं द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति ।  
 त्वष्टा वै रूपाणा मीष्टे त्वष्ट्रैव तद्रूपैर्व्वरूपो ऽनु-

\* क-ख-पुस्तकयोरिह द्वेदो नास्ति ।

† '०नीयस्य'—इति क ।

‡, § 'प्रयच्छति'—इति क ।

सुमसर्पतुथो ऽएवैष एतत्स्वष्ट्रैव रूपैरनुसुसर्पति  
तत्रैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति \* ॥ ८ ॥

अथ पौष्णं चक्रं निर्व्वपति । पशवो वै  
पूषा पशुभिरेव तद्वरुणो ऽनुसुमसर्पतुथो ऽएवैष  
एतत् पशुभिरेवानुसुसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं  
प्रयच्छति † ॥ ९ ॥

अथैन्द्र मेकादशकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति ।  
इन्द्रियं वै क्षीर्य मिन्द्र इन्द्रियेणैव तद्दीर्येण  
व्वरुणो ऽनुसुमसर्पतुथो ऽएवैष एतदिन्द्रियेणैव  
क्षीर्येणानुसुसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं प्रय-  
च्छति ‡ ॥ १० ॥

अथ बार्हस्पत्यं चक्रं निर्व्वपति । ब्रह्मा वै  
बृहस्पतिर्ब्रह्मणैव तद्वरुणो ऽनुसुमसर्पतुथो ऽएवैष  
एतद् ब्रह्मणैवानुसुसर्पति तत्रैकं पुण्डरीकं  
प्रयच्छति § ॥ ११ ॥

अथ व्वारुणं यवमयं चक्रं निर्व्वपति । स  
येनैवौजसेमाः प्रजा व्वरुणोऽगृह्णात्तेनैव तद्दोजसा

वृक्षो ऽनुसमसर्पत्तेनो ऽएवैष तदोजसानुसु-  
सर्पति तच्चैकं पुण्डरीकं प्रयच्छति \* ॥ १२ ॥

उपसदो दशम्यो देवताः । तत्र पञ्च  
पुण्डरीकाण्युपप्रयच्छति तां द्वादशपुण्डरीका-  
स्तृजं प्रतिमुञ्चते सा दीक्षा तथा दीक्षया  
दीक्षते † ॥ १३ ॥

अथ यद् द्वादश भवन्ति । द्वादश वै मासाः  
संवत्सरस्य स्र्वं वै संवत्सरः स्र्वेणैवैन मेतद्-  
दीक्षयति यानि पुण्डरीकाणि तानि दिवो रूपं  
तानि नक्षत्राणां रूपं ये व्युधकास्ते ऽन्तरिक्षस्य  
रूपं यानि विसानि तान्यस्यै तदेन मेषु लोके-  
ष्वधि दीक्षयति ‡ ॥ १४ ॥

अथ राजानं क्रीत्वा । द्विधोपनह्य परिवहन्ति  
ततोऽर्द्धं मासन्द्या मासाद्य प्रचरत्यथ य एषो  
ऽर्द्धो ब्रह्मणो गृहे निहितो भवति त मासन्द्या

\* 'प्रयच्छति'— इति क ।

† 'दीक्षते'— इति ग, घ ।

‡ 'दीक्षयति'— इति ग, घ ।

मासुद्यातिष्ठ्येन प्रचरति युदातिष्ठ्येन प्रचरत्यथो-  
पसङ्गिः प्रचरति युदोपसङ्गिः प्रचरति \* ॥ १५ ॥

अथैतानि हवींषि निर्व्वपति । आग्नेय  
मष्टाकपालं पुरोडाशं सौम्यं चरुं व्विष्णावं  
त्रिकपालं वा पुरोडाशं चरुं वा तेन यथेष्टैवं  
यजते ॥ १६ ॥

तदु तथा न कुर्यात् । हलति वा एष  
यो यज्ञपथादेत्येति वा ऽएष यज्ञपथाद्य उपसत्-  
पथादेति तस्मादुपसत्पथादेव नेयात् ॥ १७ ॥

सु यदग्निं यजति । अग्निनैवैतत्तेजसानुसृ-  
सर्पत्यथ यत् सोमं यजति सोमेनैवैतद्राज्ञानुसृ-  
सर्पत्यथ यद्विष्णां यजति यज्ञो वै व्विष्णु-  
स्तद्यज्ञं प्रत्यक्ष माप्नोति तं प्रत्यक्ष माप्त्वात्मन्  
कुरुते ॥ १८ ॥

स एष सप्तदशो ऽग्निष्टोमो भवति । सप्त-  
दशो वै प्रजापतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्ष  
माप्नोति तं प्रत्यक्ष माप्त्वात्मन् कुरुते ॥ १९ ॥

तस्य द्वादश प्रथमगर्भाः पृथ्वी ह्यो दक्षिणा ।  
 द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य संवत्सरः प्रजापतिः  
 प्रजापतिर्यज्ञस्तदयज्ञं प्रत्यक्ष माप्नोति तं प्रत्यक्ष  
 माप्त्वात्मन् कुरुते ॥ २० ॥

तासां द्वादश गर्भाः । ताश्चतुर्विंशति-  
 श्चतुर्विंशतिर्वै संवत्सरस्याहमासाः संवत्सरः प्रजा-  
 पतिः प्रजापतिर्यज्ञस्तदयज्ञं प्रत्यक्ष माप्नोति तं प्रत्यक्ष  
 माप्त्वात्मन् कुरुते ॥ २१ ॥

ता ब्रह्मणे ददाति । ब्रह्मा हि, यज्ञं दक्षि-  
 णतो ऽभिगोपायति तस्मात्ता ब्रह्मणे ददाति  
 हिरण्मयीं स्रजं मुद्गाञ्चै रुक्मं होत्रे हिरण्मयी  
 प्राकाशावधूर्युभ्या मश्वं प्रस्तोत्रे व्वशां मैत्रावरु-  
 णाय ऽर्षभं ब्राह्मणाच्छ्प्सिने व्वाससी नेष्टा-  
 पोतृभ्या मन्यतरतोयुक्तं यवाचितु मच्छावाकाय  
 गा मग्नीधे ॥ २२ ॥

ता वा ऽएताः \* । द्वादश वा त्रयोदश वा  
 दक्षिणा भवन्ति द्वादश वा वै त्रयोदश वा

संवत्सरस्य मासाः संवत्सरः प्रजापतिः प्रजा-  
पतिर्यज्ञस्तद्यज्ञं प्रत्यक्ष माप्नोति तं प्रत्यक्ष माप्त्वा-  
त्सु कुरुते ॥ २३ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [४. ५.] ॥

अथ पञ्चमे ब्राह्मणे संसृपां हवींषि दशसंज्ञाकानि \* ,  
दशपेयाख्यस्य सोमयागस्य दीक्षाः , उपसद्यागः , ऋत्विग्वि-  
शेषेण दक्षिणाश्च विधीयन्ते ।

तत्र हवींषि विधातुं प्रसीति— “वरुणाङ्ग वा इति ।  
पूर्वं मभिषिध्यमानादृ ‘वरुणात्’ सकाशात् ‘भर्गः’ यज्ञरूपं  
वीर्यम् ‘अपचक्राम’ अपसृतम् । तदेव प्रतिपादयति— “शश्वद  
य एष इति ॥ १ ॥

“त मेताभिरित्यादि । ‘तम्’ अपसृतम् भर्गम् ‘एताभिः’  
वक्ष्यमाणाभिः सावित्रादिभिः ‘अनुसमसर्पत्’ वरुणोऽनुक्रमेण  
प्राप्तवान् । तादृशदेवताः क्रमेण दर्शयति— “सवित्रेति । ‘प्रस-  
वित्रा’ प्रसवकारिणा ‘सवित्रा’ देवतया , ‘अन्वविन्दत्’—इति  
सर्वत्रानुषङ्गः । ‘वाचा’ वायूपयया ‘सरस्वत्या’, ‘रूपैः’ उप-

---

\* “नामधेयम् ; ‘तस्मात् संवत्सरो नाम (३ क० ३१२ पृ०)” —इति  
दशाना मपि षड्भा मनुष्ठानं यथा स्यादित्येव मर्थं दशग्रहण मिति  
सम्प्रदायः , काण्वस्तु षड्भां प्रवृत्तिः श्वोभूत इति मन्यन्ते—इति  
कर्कः ( का० १५. ८. १ सू० ) । अनुपद मिहैव तृतीयकलीभाष्ये सर्वं  
मिदं स्फुटतरं द्रष्टव्यम् ।

लक्षितेन 'त्वष्टा', 'पशुभिः' उपलक्षितेन 'पूषा', 'अग्ने' अग्ने  
अपमृताय वीर्याय तदधीनकरणार्थम् 'इन्द्रेण'; यद्वा, विभक्ति-  
व्यत्ययः; अनेन वीर्येण वीर्यवता इन्द्रेण, 'ब्रह्मणा' ब्राह्मण-  
जात्यभिमानिना 'हृदस्सतिना', 'भोजसा वरुणेन' स्वीयदेवता-  
रूपेण, अतीतकल्पगतेन वरुणेन वा, 'तेजसा अग्निना' तेजो-  
रूपेणाग्निना, 'राज्ञा सोमेन', 'दशम्या' दशसङ्ख्यापूरयित्रया  
'विष्णुना' 'एव' 'देवतया' 'अन्धविन्दत्' अपक्रान्तं वीर्यं मिति ॥२॥

हविषां नाम निर्वृते— "तद्यदेन मेताभिरित्यादिना । 'तत्'  
तत्र यस्मात् 'एताभिः' 'अनुसमर्पत्' सम्यक् सृष्यते प्राप्यते  
वीर्यं माभिरग्न्यादिभिर्देवताभिरिति 'संसृपः' देवताः, तासां  
हवींष्यपि तन्नामानि \* ॥

अथ दशपेयं विधातुं तच्छब्दं निर्वृति— "अथ यद् दशमे-  
ऽह्निति । पूर्वं मुक्तानि दशसंसृपां हवींषि प्रत्येक मेकैकदिने  
कर्तव्यानि । तथाच सूत्रम्— "दशोत्तराणि संसृपां हवींषि निर्व-  
पति, देवयजनान्तर मेकैकेनोत्सर्पति, शालाया मन्थम्"—इति † ॥

तैत्तिरीये तु स्यष्ट मुक्तम्— "अग्निना देवेन प्रथमेऽह्नन्तु-  
प्रायुक्तं, सरस्वत्या वाचा द्वितीये, सवित्रा प्रसवेन तृतीये"—  
इत्यादिना ‡ । संसृपशब्दवाच्याभ्यो दशभ्य इष्टिभ्य ऊर्ध्वं दश-

\* तै० सं० १. ८. १७ । 'सप्तदशे संसृपां हवींष्युक्तानि, अष्टा-  
दशे दशपेय उच्यते'—इति ह्यष्टादशानुवाकोयसायणीयभाष्योपक्रमः ।  
इतः परं मेतदब्राह्मणान्तं यावन् दशपेयप्रकरणं बोध्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १५. ८. १, २. ३ ।

‡ तै० ब्रा० १. ८. १. २ । तै० सं० १. ७. १७ भाष्यान्तर्गतं  
मेतदीयं सायणव्याख्यानन्तु यत्नतोऽवलोक्यम् ।



प्रेयार्थं सोमाभिषवः । तथा च दशमे दिने दशप्रेयार्थसोमाभि-  
षवप्रवृत्तेर्दशपेयत्वम् ॥

अथ मत्र क्रमः — दशानां संखपां हविषां मध्ये सप्त हवींषि  
प्रतिदिनं क्रमेणैकैकं कृत्वा सप्तमे दिने सप्तम्या मिष्टौ अतीतायाम्  
( अष्टमं हविर्निर्वपेत् \* ) अपराह्णे दशपेयस्य द्वादशपुण्डरीक-  
स्त्रक्प्रतिमोकलक्षणां दीक्षां कृत्वा तदानीं मेव प्रथमा सुप-  
सदं कृत्वा, तदन्ते संखपा मष्टमं हविर्निर्वपेत् । अष्टमे  
दिने उपसदन्ते संखपां नवमं हविर्निरूप्य, नवमे दिवसे  
द्वितीयोपसदन्ते संखपां दशमं हविर्निरूप्य, तस्मिन्नेवाहनि  
अम्बीषोमीयपद्यप्रचारं कुर्यात् । दशमेऽहनि सोमोऽभिषूयते,  
हुतशेषश्च पीयत इति दशपेयत्वमिति ॥

निर्बन्धनाकारं दर्शयति — “अथ यद् दश-दशेति । एकै-  
कस्मिन् पात्रे दशभिर्ब्राह्मणैः पातव्यः सोमरसो यस्मिन् ( काले )  
स दशपेयो भक्षणकालः । “दशदशैकैकं चमस मनुभक्षयन्ति”  
—इति † हि सूत्रम् ॥ ३ ॥

अत्र यदुक्तं सूत्रकृता दशपेयं प्रस्तुत्व — “पितामहदशगणं  
सोमपानां सङ्क्राय सर्पणं सविचेति वानुवाकमुक्त्वा” — इति ‡ ।  
अस्यार्थः — भक्षणार्थं सदःप्रसर्पणकाले सोम्यानां शतसङ्क्राक-  
ब्राह्मणानां मध्ये एकैकस्य पात्रस्य भक्षयितारो दश-दश पुरुषाः  
“यजमानस्य दश सोमपान् ‘पितामहान्’ यजमानस्य पितामहः,  
तत्पितामह इत्येवं पितामहदशगणं सङ्क्राय गणयित्वा प्रसर्पेयुः ।

\* बन्धनीचिह्नान्तर्गतपाठस्तु च-च-पुस्तकयोरधिकः ।

† का० श्रौ० सू० १५. द. १५ ।

‡ श्रौ० सू० १५. द. १६, १७ ।

यद्वा, “सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा”—इति \* संहितोक्त-  
मन्त्रेण प्रसर्पणं कुर्यादिति ॥

अत्र पितामहगणनेन प्रसर्पणं पूर्वपक्षयति— “तदाहुरिति ।  
तद् दूषयति— “तद् वै ज्येति । ‘ज्या’ ज्वानिः, निष्कष्ट इत्यर्थः ।  
अत्रोपपत्ति माह— “ह्रीं त्रीनिति । यदि पितामहान् जानीयुः,  
तर्हि ‘ह्रीं चीन् एव’ जानीयुः, न सर्वान् ; तस्मात् सवित्रादि-  
दशदेवताः सङ्ग्राह्य प्रसर्पणं कुर्यादित्यर्थः ॥ ४ ॥

तदिदं वरुणवृत्तान्तेन प्रशंसति— “एताभिर्वा इति ।  
संसृप्यद्वाच्यहविर्निर्वापकालं दर्शयति— “अथ यदैवेति ।  
‘अभिषेचनीयस्य’ एतदाख्यस्य सोमयागस्य ‘उदवसानीयेष्टिः’  
‘यदा’ ‘सन्तिष्ठते’ समाप्यते— ॥ ५ ॥

“अथेतानोति । ‘अथ’ तदनन्तरम् ‘एतानि हवींषि’ निर्वपेदि-  
त्यर्थः । तत्प्रकारः कात्यायनेन स्पष्टीकृतः— “सावित्र-सारस्वत-  
त्वाद्-पौण्ड्र-बाह्वृत्-वारुणान्ये-सौम्य-वैष्णवानि यद्योक्तं प्रतीष्टि-  
पुण्डरीकाणि प्रयच्छति, हिरण्ययानि वोत्तमासु तिसृषु पञ्च  
तेषां स्रजं प्रतिमुञ्चते तद्दीप्तो भवति”—इति † । सप्तम्यां ब्रह्मा-  
गारात् सोम माहृत्वासम्यभिर्मर्शनादि करोत्युपसहेवता हवींषि  
निर्वपत्युपसदं त इच्छन्निति । उक्तानां दशसङ्ख्याकानां हविषां  
मध्ये सप्त हवींषि पूर्वं मिष्टितन्त्रेण कृत्वा, सप्त हिरण्य-  
पुण्डरीकाणि दत्त्वा, उत्तरासु तिसृषु पञ्च दत्त्वा, द्वादश  
पुण्डरीकस्रक्प्रतिमोक्तदक्षिणां दशपेयदीप्तां कृत्वा, सप्तम्यां  
संसृप्यागसम्बन्धिन्यां सप्तमदिने क्रियमाणायां वारुण्या मिष्टा-

\* वा० सं० १०. ३०. १ ।

† का० श्रौ० सू० १५. द. ४-६ ।

वतीतायां पूर्वं मेवाभिषेचनीयदशपेययोरपि द्विधा सोमं क्रीत्वा, दशपेयार्थम् ब्रह्मागारे स्थापितं सोमं माहृत्य, आसन्धभिर्मर्श-  
नाद्यातिथ्यान्तं कृत्वा, संसृपां हविषां मध्ये अन्धानि आग्नेय-  
सौम्य-वैष्णवानि त्रीणि हवींषि उपसद्यतिनिधित्वेन कर्त्तव्यानि ।  
उपसदा मध्यग्निसोमविष्णुदेवता अन्तिमत्वात्, तथाप्यग्नि-  
षोमयोरैकस्याप्यभावे दशसङ्ख्यापूरणाभावात् तयोरपि दशमत्व  
मुच्यते । 'तत्र' तिष्ठषु देवतासु तद्देवत्वहविःषु 'पञ्च पुण्डरीकाणि'  
देयानि भवन्ति \* ॥

अथ द्वादशपेयस्य दीक्षां विधत्ते— “तां द्वादशेति । दक्षानि  
सप्त, अन्तिमहविस्त्वये दास्यमानानि पञ्चेति द्वादश पुण्डरीकाणि  
भवन्ति । प्रकृती “अप्सु स्नात्यपो ऽग्राति”—इत्यादिना यद्  
दीक्षामात्रं 'विहितम्, तदत्रापवदितुं' दत्तदास्यमानपुण्डरीक-  
स्रक्प्रतिमोको विहितः । सूत्रन्तु पूर्वं सुदाहृतम् । आपस्तम्बेन  
तु विशेष उक्तः— “अपो दीक्षायाः स्थाने द्वादशपुण्डरीकां  
स्रजं प्रतिसृजते”—इति † । प्रतिमोचयेदित्यर्थः ॥ ६—१३ ॥

पुण्डरीकगतां सङ्ख्यां सन्धूय मासात्मकसंवत्सरात्मना प्रशं-  
सति— “अथ यद् द्वादशेति ‡ । अतस्तावत्सङ्ख्याविशिष्टपद्मै-  
र्दीक्षाकरणेन सर्वात्मसंवत्सरेण यजमानं दीक्षायुक्तं कृतवान्  
भवति । प्रकारान्तरेण प्रशंसति— “यानीति । पद्मगतपत्र-  
नालविसानां स्वर्गान्तरिक्षभूम्यास्थलोकत्रयात्मकत्वात् तद्यति-  
मोकलक्षणदीक्षाकरणेन 'एनं' यजमानम् 'एषु' त्रिषु 'लोकेषु'  
दीक्षितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

\* 'भवन्तीत्येतत्'—इति च, छ ।

† आप० श्रौ० सू० १८. २०. १४ । ‡ का० श्रौ० सू० १५. ८. ११ ।

“अथ राजानं क्रीत्वेत्वादेरय मर्थः— पूर्वं मभिषेचनीय-  
दीक्षान्ते ‘राजानं क्रीत्वा’ \*, ‘द्विधोपनह्य’, तत्रैकं दशपेयाथं  
पर्युह्य ब्रह्मागारे स्थापयित्वा, एकेनाभिषेचनीये प्रचारः कृतः ; अथ  
दशपेये ब्रह्मगृहे स्थापितं तं सोम माहृत्य, ‘आसन्ध्या मासाद्य’,  
आतिथ्यया प्रचरेयुः ; तदनन्तर उपसद्यागः । तत्राग्नि-सोम-  
विष्णुदेवताकोपसत्यतिनिधित्वेन संस्पृयागसम्बन्धिना मुत्तमानां  
अयाणा माम्नेयसौम्यवैष्णवाना मेव निर्वापं पूर्वपक्षयति—  
“यदोपसद्भिः प्रचरतीति ॥ १५ ॥

“अथैतानि हवींषि निर्वपत्याग्नेय मिति । “तेन यथेष्टेति ।  
एकैकोपसरस्थाने ‘तेन’ एकेन हविषा ‘यथेष्ट्या’ इष्टितन्त्रेण  
कुर्यात् । उपसत्त्वयार्थं मेतद्विचक्षणं कर्त्तव्य मिति शास्त्रान्त-  
रीयः पक्षः † ॥ १६ ॥

त मिमं निराकरोति— “तदु तथेति । ‘तत्’ तथा ‘न  
कुर्यात्’ । ‘एषः क्षलति वै’ प्रच्युतो भवेत् । एतच्छब्दार्थं  
माह— “यो यज्ञपथादेतीति । ‘एति’ अपगच्छति । तदेव  
पुनर्दर्शयति— “एति वा एष इति । तस्मात् ‘उपसत्पथात्’  
‘नेयात्’ न प्रच्युतो भवेत्, तत उपसदो न पृथक् कुर्यात् ।  
तदन्ते एतानि संस्पृया मन्तिमानि हवींषि त्रीणि चेष्टितन्त्रेण पृथक्  
कुर्यात् । अतएव सूत्रकार उपसद्यागान्ते एतेषां निवापं विक-  
ल्पेन दर्शयामास— “उपसदन्त इच्छन्”—इति ‡ ॥ १७ ॥

\* “दशभिर्वत्सतरेः साष्टैः सोमं क्रीणाति, न पण्यते न परिवहति,  
क्रय मेवापाकरोति”—इति व्याप० श्रौ० सू० १८. २०. १५, १६, १७ ।

† “एका दीक्षा, तिस्र उपसदः”—इति व्याप० श्रौ० सू० १८. २०. १८ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ८. १५ ।

तदुपसहेवतां हविषा माग्नेयसीम्यवैष्णवानां संसृपां हविषा  
मनिर्वापे तद्देतुकसर्पणस्यासिद्धि माशङ्क्य निरस्यति— “स यदग्नि-  
मिति । उपसद्यागैरेव अग्निसोमविष्णव इष्टाः ; तदानी मेव  
तैः संसर्पणं जात मिति ॥ १८ ॥

दशपेयस्य सोमसंस्कारूपं विधत्ते— “स एष सप्तदश इति ।  
‘स एषः’ दशपेयः क्रतुः सप्तदशस्तोमसाध्वोऽग्निष्टोमसंस्थो  
भवतीत्यर्थः । “सप्तदश स्तोत्रं भवति”—इति \* हि तैत्ति-  
रीयकम् ॥ १९ ॥

गर्भिणीनां गवां दानं विधत्ते— “तस्य द्वादशेति † । ता  
द्वादशसङ्ख्याका गाः ब्रह्मणे दद्यादित्युत्तरेण ( २२ क० )  
सम्बन्धः । सङ्ख्यां सम्भूय संवत्सरात्मना स्वीति— “द्वादश  
वै मासा इति ॥ २० ॥

प्रकारान्तरेणापि प्रशंसति— “तासां द्वादश गर्भा इति ।  
ता गावो द्वादश, तासां गर्भा अपि द्वादश, मिलित्वा चतुर्विंशतिः ;  
संवत्सरस्यापि चतुर्विंशतिरर्हमासाः , तस्मात् संवत्सरात्मत्वेन ता  
बालगर्भा गावः प्रशस्ता इत्यर्थः ॥ २१ ॥

“ता ब्रह्मणे ददातीति । हिरण्यस्त्रजो दानं विधत्ते—  
“हिरण्यग्री मिति ‡ । ददातीत्यनुवर्त्तते ।

वर्त्तुलस्य स्वर्णाभरणस्य दानं विधत्ते—“रत्नम् होत्र इति § ।

\* तै० सं० १. द. १८. ६ ।

† “ब्रह्मणे ददात्यंशुवद्विणा”—इति का० औ० सू० १५. द. २२ ।  
‘अंशुवद्विति द्वादश वत्सतयो गर्भिण्याः’—इति तदुक्तिः ।

‡ का० औ० सू० १५. द. २३ ।

§ का० औ० सू० १५. द. २४ । ‘रत्नम्, परिमल्लजः जौवर्ण-  
आभरणविशेषः’—इति च तद्वृत्तौ ब्रह्मम् ।

द्वाभ्यां प्रत्येकं प्राकाशदानं विधत्ते— “हिरण्यमयाविति ।  
प्राकाशौ दीपस्तथावित्येके , सुवर्णदर्पणावित्यपरे \* । अश्वदानं  
विधत्ते— “अश्वं प्रस्तोच इति । वन्याया गोदानं विधत्ते—  
“वशा मिति † । रेतस्त्रेचनसमर्थस्य गोदानं विधत्ते— “ऋषभ  
मिति । द्वाभ्यां प्रत्येकं वस्त्रदानं विधत्ते— “वाससी इति ।  
एकेनानडुहा युक्तस्य यवपूर्णस्य शकटस्य दानं विधत्ते— “अन्य-  
तरत इति । घनडुहो दानं विधत्ते— “गा मग्नीध इति । “घन-  
डुह मग्नीधे”—इति हि सूत्रितम् ‡ । “घनडुह मग्नीधे वज्रिवा  
घनडुहान्”—इति हि तैत्तिरीयकम् § ॥ २२ ॥

ता एता दक्षिणाः सम्भूय संवत्सरात्मना प्रयंसति— “ता वा  
एता द्वादशेति । पक्षीध्यादयोऽनडुहान्ता द्वादश दक्षिणाः ; बाल-  
गर्भिणीनां गवां दक्षिणात्वात् बालगर्भिणीना मपि दक्षिणात्वेन  
परिगणने त्रयोदश भवन्ति ; संवत्सरस्यापि द्वादश चैत्रादयः ,  
अधिकमासेन सह त्रयोदश मासा भवन्ति । तस्मादेताभिर्दक्षिणाभि-  
र्यज्ञरूपं संवत्सरमेवासवान् भवतीत्यर्थः ॥ २२ ॥ २ [४. ५.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे चतुर्थाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘कर्णवेष्टकावित्यपरे’—इति का० श्रौ० १५. द. २५ सू० ८० ।

† का० श्रौ० सू० १५. द. २६ ख । ‘वशा वन्धा , या उपगम्य-  
मानापि गम न गृह्णाति’—इति ८० ।

‡ का०-वेबरसुद्धितसूत्रपुस्तके तु “गा मग्नीधे”—इत्येव पाठो  
विद्यते । का० श्रौ० सू० १५. द. २७ घ । § तै० ब्रा० १. द. २. ५ ।

॥ “सद्यो दीक्षयन्ति , सद्यः सोमं क्रौञ्चन्ति , पुण्डरीकस्नानं प्रय-

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्ह निवारयन् ।  
पुमर्थास्तुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम् ,  
समाब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतलताधेनुसीवर्णभूमीः ।  
रत्नोन्मां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः सिक्रणार्यौ ,  
व्यश्राणीहिश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
षाज्योयं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसाक्षिष्ण्वार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्वरेण  
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
पञ्चमकाण्डे चतुर्थाध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इति , दशभिर्वत्सतैः सोमं क्रीणाति , दशपैर्यै भवति—इत्यादि  
ते० सं १. ८. १८, ते० ब्रा० १. ८. २ दृश्यम् ।

\* अत्रत्या टीप्पन्त्यो द्वितीयाध्यायान्ते ( १६१ पृ० ) दृश्याः ।

( अथ पञ्चमाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

आग्नेयो ऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति । तं  
पूर्वार्द्धं ऽआसादयत्यैन्द्र एकादशकपालः पुरोडाशो  
भवति सौम्यो वा चरुस्तु दक्षिणार्द्धं ऽआसाद-  
यति वैश्वदेवश्चरुर्भवति तं पश्चार्द्धं ऽआसादयति  
मैत्रावरुणौ पयस्या भवति ता मुत्तरार्द्धं ऽआसाद-  
यति बार्हस्पत्यश्चरुर्भवति तं मध्य ऽआसादयत्येष  
चरुः पञ्चबिलस्तद्यत् पञ्च हवींषि भवन्ति तेषां  
पञ्च बिलानि तस्माच्चरुः पञ्चबिलो नाम ॥ १ ॥

तद्यदेतेन राजमूययाजी यजते । यदेवैनं  
दिशः समारोहयति यदृतून् यस्तोमान्यच्छन्दांसि  
तस्मादेवैनं मेतेन निष्क्रीणाति स यदेतेन राज-  
मूययाजी न यजेतोदा ह माद्येत् प्र वा पतेत्  
तस्माद्वा ऽएतेन राजमूययाजी यजते ॥ २ ॥

स यदाग्नेयेनाष्टाकपालेन पुरोडाशेन प्रच-  
रति । यदेवैनं प्राचीं दिशं समारोहयति



यदृतून् यत् स्तोमान्यकुन्दांसि तस्मादेवैन मेतेन  
 निष्क्रीणाति सञ्खवं बार्हस्पत्ये चरावव-  
 नयति \* ॥ ३ ॥

अथ यदेन्द्रेणैकादशकपालेन पुरोडाशेन प्रच-  
 रति, सौम्येन वा चरुणा यदेवैनं दक्षिणां  
 दिग्ं समारोहयति यदृतून्यत् स्तोमान्यकुन्दांसि  
 तस्मादेवैन मेतेन निष्क्रीणाति सञ्खवं बार्ह-  
 स्पत्ये चराववनयति † ॥ ४ ॥

अथ यद्वैश्वदेवेन चरुणा प्रचरति । यदे-  
 वैनं प्रतीचीं दिग्ं समारोहयति यदृतून् यत्  
 स्तोमान्यकुन्दांसि तस्मादेवैन मेतेन निष्क्रीणाति  
 सञ्खवं बार्हस्पत्ये चराववनयति ‡ ॥ ५ ॥

अथ यन्मैत्रावरुण्या पयस्यया प्रचरति । यदे-  
 वैन मुदीचीं दिग्ं समारोहयति यदृतून् यत्  
 स्तोमान्यकुन्दांसि तस्मादेवैन मेतेन निष्क्री-  
 णाति सञ्खवं बार्हस्पत्ये चराववनयति तद्यत्  
 सञ्खवान् बार्हस्पत्ये चराववनयति सर्व्वत एवा-

स्मिन्नेतदन्नाद्यं दधाति तस्माद् दिशो दिश एव  
राज्ञे ऽन्नाय मभिक्षियते \* ॥ ६ ॥

अथ यद् बार्हस्पत्येन चरुणा प्रचरति ।  
यदेवैन मूर्ध्ना दिशः समारोहयति यद्वतून यत्  
स्तोमान्यच्छन्दांसि तस्मादेवैन मेतेन निष्क्री-  
णाति ॥ ७ ॥

स य एष आग्नेयो ऽष्टाकपालः पुरोडाशो  
भवति । तस्य हिरण्यं दक्षिणाग्नेयो वा ऽएष  
यज्ञो भवत्यग्ने रेतो हिरण्यं तस्माद्दक्षिणं दक्षिणा  
तदग्नीधे ददात्यग्निर्वा ऽएष निदानेन यदा-  
ग्नीध्रस्तस्मात्तदग्नीधे ददाति † ॥ ८ ॥

अथ य एष ऐन्द्र ‡ एकादशकपालः पुरो-  
डाशो भवति । तस्य ऽर्षभो दक्षिणा स हैन्द्रो  
यदृषभो यदा सौम्यश्चरुर्भवति तस्य बभ्रुर्गौ-  
र्दक्षिणा स हि सौम्यो यद्वभ्रुस्तं ब्रह्मणे ददाति ।

\* '०क्षियते'—इति क ।

† 'ददाति'—इति क ।

‡ 'ऐन्द्रः । एका०'—इति क, ख ।

ब्रह्मा हि यत्तुं दक्षिणतो ऽभिगोपायति तस्मात्तुं  
ब्रह्मणे ददाति \* ॥ ८ ॥

अथ य एष वैश्वदेवश्चरुर्भवति । तस्य पृषन्  
गौर्दक्षिणा भूमा वा ऽएतद्रूपाणां यत् पृषतो  
गोर्विशो वै विश्वे देवा भूमा वै विट् तस्मात्  
पृषन् गौर्दक्षिणा त ए होचे ददाति होता हि  
भूमा तस्मात्त ए होचे ददाति † ॥ १० ॥

अथ यैषा मैत्रावरुणी पयस्या भवति ।  
तस्यै व्यशा दक्षिणा सा हि मैत्रावरुणी यदशा  
यदि व्यशां न विन्देदपि यैव का चाप्रवीता  
स्यात् सर्वा ह्येव व्यशाप्रवीता ता मध्वर्युभ्यां  
ददाति प्राणोदानौ वा ऽअध्वर्यु प्राणोदानौ मित्रा-  
वरुणौ तस्मात्ता मध्वर्युभ्यां ददाति ‡ ॥ ११ ॥

अथ य एष बृहस्पत्यश्चरुर्भवति । तस्य  
शितिपृष्ठो गौर्दक्षिणेषा वा ऽउर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्  
तदेष उपरिष्ठादर्यम्णः पय्यास्तस्माच्छितिपृष्ठो बार्ह-  
स्पत्यस्य दक्षिणा तं ब्रह्मणे ददाति बृहस्पतिर्वै

देवानां ब्रह्मैवा एतस्य ब्रह्मा भवति तस्मात्तं  
ब्रह्मणे ददाति स ह्येतेनापि विष्ठाब्राज्यन्नाद्य-  
कामो यजेत तदस्मिन्सर्व्वतो ऽन्नादां दधाति \*  
स हान्नाद् एव भवति ॥ १२ ॥ ३ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [ ५. १. ] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ पञ्चमाध्याये पञ्चबिलसञ्ज्ञकश्वरः †, द्वादश प्रयुजां  
हवींषि, पशुद्वयम्, केशवपनीयातिरातः, सौत्वामणीप्रयोगः,  
राजसूयसमाप्त्युदवसानौयेष्टिष विधीयते ।

अत्र कात्यायनः— “उत्तरे शुक्ले पञ्चबिल आग्नेय ऐन्द्रः  
सौम्यो वा वैश्वदेवश्चरुः पयस्या मैत्रावरुणी बार्हस्पत्यश्चरुः  
प्रतिदिश मासादन माग्नेयं पुरस्तात् प्रदक्षिण मितराणि  
मध्येऽस्थम्”—इति ‡ । आग्नेयादीनि पञ्च हवींषि पूर्वादि-  
क्रमेण मध्ये च स्थापयेत् । सोऽयं पञ्चबिलसञ्ज्ञकश्वरित्यर्थः ॥

\* ‘ददाति’—इति ख ।

† एषैव दिशा मवेष्टिरुच्यते । तथाहि तै० ब्रा० १. ८. ३—

“दिशा मवेष्टयो भवन्ति”—इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. १, २, ३ । ‘आगामिनि वेशाखशुक्ले’

—इति, ‘सर्वासु दिक्षु विभज्येकैकस्यासादनं भवति’—इति च तच्च दृ० ।

तदिदं विधत्ते— “आग्नेय मिति । । दिमध्ये ‘पूर्वाह्णं’  
पूर्वभागे आसादयेत् । एव सुत्तरत्र ‘दक्षिणाह्णं’ इति योज्यम् ।  
‘पयस्या’ आमिक्षा ॥

हविःपञ्चकस्य पञ्चबिलसञ्ज्ञां निर्वर्त्ति— “तद्यदिति ।  
तेषां हविषा मासादनार्थानि एकस्यां पात्रां प्रागादिक्रमेण  
यतः पञ्च बिलानि , तस्मादेषा यागपञ्चकस्य पञ्चबिलश्चरिति  
सञ्ज्ञा ॥ १ ॥

एतेषां हविषां करणे प्रयोजन माह— “तद्यदेतेनेति ।  
‘एतेन’ हविः-पञ्चकेन राजसूययाजिना यष्टव्यम् । कुतः ? यतः  
पूर्वम् ‘एनं’ यजमानं प्राची मारोहेत्यादिभिर्मन्त्रैः प्राच्याद्याः पञ्च  
दिशः , वसुक्ताद्यृतून् , ऋषदादींस्तोमान् , गायत्र्यादीनि  
हन्दांसि चाध्वर्युरारोहितवान् ; ‘तस्माद्’ ‘एतेन’ हविःपञ्चकेन  
‘एनं’ यजमानं दिगादिभ्यः सकाशात् पुनः ‘निष्क्रीणाति’ स्वाधीनं  
कृतवान् भवति ।

अकरणे प्रत्यवाय माह— “स यहेति । यदि न यजेत तर्हि  
यजमानः ‘उन्माद्येत्’ उन्मातो भवेत् , ‘प्रपतेत्’ प्रच्युतो भवेत् ।  
‘वा’-शब्दहय मन्थोन्यविकल्पार्थम् ॥ २ ॥

हविषां क्रमेण निष्क्रयणसाधनत्वं विवृणोति— “स यदाग्नेये-  
नेत्यादि । प्रत्येकहविःप्रचारादनन्तरम् बार्हस्पत्ये चरौ संस्त्रवानयनं  
विधत्ते— “संस्त्रव मिति । सूत्रञ्च भवति— “पूर्वेः-पूर्वे-  
श्चरित्वा-चरित्वा मध्यमे संस्त्रवासेचनम्”—इति \* । ‘मध्ये’ मध्यम-  
प्रदेशे स्थापिते बार्हस्पत्ये चरावित्यर्थः ॥ ३ ॥ ॥ ४, ५ ॥

“अथ यन्मैत्रावरुण्येति । चतुर्णां हविषां संस्त्रवस्य बार्हस्पत्ये चरौ अवनयनं सन्धूयान्नाद्यसम्पादनरूपेण प्रशंसति— “तद् यत् संस्त्रवानिति । यतो ‘बार्हस्पत्ये चरौ’ सर्वेषां हविषां हुत-  
शिष्टस्यावनयनम्, ‘तस्मात्’ ‘राज्ञे’ ‘दिशो दिशः’ सर्वस्या  
अपि दिशः सकाशात् ‘अन्नाद्यम्’ ‘अभिङ्गियते’ आनीयत  
इत्यर्थः ॥ ६ ॥

“अथ यद् बार्हस्पत्येनेत्यादि । पूर्ववत् । अत्र संस्त्रवा-  
नयनाभावो विशेषः ॥ ७ ॥

आग्नेयादिहविषा मृत्विग्विशेषेभ्यो हिरण्म्यादि-दक्षिणादानं  
विधत्ते— “स य एष इति । आग्नेयहविषः, तद्दक्षिणात्वेन  
विहितस्य हिरण्यस्य च अग्निसम्बन्धित्वं समानो धर्मः । हिरण्य-  
स्याग्निरेतस्त्वं श्रूयते— “तस्य रेतः परापतत्, तद्दिरस्य मिति \* ।  
अग्नेरेवाग्नीध्रत्वं प्रथमकाण्डे स्तम्बयजुर्हरणब्राह्मणे स्पष्टं मान्ना-  
तम् † । ‘निदानेन’ कारणेन, निरूपणे सतीत्यर्थः । हविष  
आग्नेयत्वात्, हिरण्यस्याग्निरेतस्त्वात्, अग्नेरेवाग्नीध्रत्वात्,  
आग्नीध्रसम्पादनकत्वं हिरण्यस्य युक्तमित्यर्थः ‡ ॥ एव सुत्तर-  
तापि यथायोग्यं साम्यं द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

“अथ य एष ऐन्द्र इति § । “तस्यर्षभ इत्यादि । ऋषभ-

\* तै० ब्रा० १. १. ३. ८ ।

† “स योऽमावग्नीदुत्तरतः पर्येति, अग्निरेवैष निदानेन”-इति  
२. २. १३. (१भा० पृ० १३६) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. ५ ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ६. ६ । “बभुधूसरवर्णः” इति वृ० ।

स्यैन्द्रत्वम्, सेकृत्वसाम्यात् । बभ्रोः सोमसम्बन्धित्वम्, “सौम्यं बभ्रु मालभेत”—इति श्रुतेरवगतम् \* ॥ ८ ॥

“अथ य एष वैश्वदेव इति । ‘पृषन्’ विन्दुयुक्तः, चित्रवर्ष इत्यर्थः । तस्य वैश्वदेवत्वमुपपादयति— “भूमा वा इति । भूमरूपत्वम्, नानाच्छन्दस्के बहुविधमन्त्रे शंसनादवगम्यते † ॥ १० ॥

“अथ यैषा मैत्रावरुणीति । ‘वशा’ वन्ध्या । तदभावे ‘अप्रवीता’ वेतेः प्रजननार्थात् निष्ठा । ‘अप्रजाता’ अगृहीतगर्भेत्यर्थः ‡ ॥ ११ ॥

“अथ य एष बार्हस्पत्य इति । ‘शितिपृष्ठः’ श्वेतपृष्ठः । बार्हस्पत्यचरोः श्वेतपृष्ठस्य गोर्दक्षिणात्वं उपपादयति— “एषा वा ऊर्द्धेति” । “ऊर्द्धा दिक् बृहस्पतिर्देवता”—इति श्रुतेः ऊर्द्धा दिक् बार्हस्पत्या । ‘उपरिष्ठात्’ उपरिभागे ‘अर्यम्णः’ सूर्यस्य ‘पथाः’ मार्गः ; ‘तस्मात्’ उपरिभागे श्वेतत्वसाम्यात्, तादृशो गोर्दक्षिणात्वेन युज्यत इत्यर्थः § ॥

अथैतस्य हविःपञ्चकस्य फलान्तराय राजसूयाद् बह्विः प्रयोगं दर्शयति — “स हैतेनापीति । ‘विष्टात्राज्यन्’ एकत्र सन्निविष्टः इतस्ततः पर्यटनं मकुर्वन् अन्नाद्यकामः एकत्र स्थित्वैव सर्वतो मेऽन्नं स्यादिति कामयमान इत्यर्थः ॥ । पुरुषो-

\* ते० सं० २. १. ३. १० ।

† का० श्रौ० सू० १५. ६. ७ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. ८ । ‘अप्रवीता अक्षतयोनिः’—इति वृ० ।

§ का० श्रौ० सू० १५. ६. ६ ।

॥ सूत्रेऽप्येव मेव— का० श्रौ० सू० १५. ६. १० ॥

ऽपि एतेन हविःपञ्चकेन यजनं कुर्यात् । तत् प्रयंसति —  
 “तदस्मिन्निति \* ॥ १२ ॥ ३ [ ५. १. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

स वै प्रयुजां हविर्भिर्यजते । तद्यत् प्रयुजां  
 हविर्भिर्यजत ऽऋतून् वा ऽएतत् सुषुवाणो युक्ते  
 तु ऽएन मृतवो युक्ता ब्वहन्यृतून् वा प्रयुक्ताननुचरति  
 तुस्मात् प्रयुजां हविर्भिर्यजते ॥ १ ॥

तानि वै द्वादश भवन्ति । द्वादश वै मासाः  
 संवत्सरस्य तुस्माद्द्वादश भवन्ति मासि मासि यजे-  
 तेत्याहुः को ब्वेद मनुष्यस्य तुस्मान्न मासि मासि  
 यजेत शम्यापराव्याधे शम्यापराव्याध ऽएव षड्भि-  
 र्यजते प्राङ् यानुथ पुनरावृत्तः शम्यापराव्याधे  
 शम्यापराव्याध ऽएव षड्भिर्यजते ॥ २ ॥

\* एष पञ्चविलः तै० सं० १. द. १६, तै० ब्रा० १. द. ३ द्रष्टव्यः ।



तद् तथा न कुर्यात् । षडेवैतानि पूर्वाणि  
 हवींषि निर्व्वपति समानवर्हींषि तासां  
 देवतानां रूपं यथा शिशिरे युक्त्वा प्राञ्च  
 आप्रावृषं यायुस्तत् षडृतन्युक्ते त एनं षडृ-  
 तवो युक्ताः प्राञ्च आप्रावृषं वहन्ति षड्व-  
 र्तून् प्रयुक्तानाप्रावृष मनुचरति पूर्वाग्निवाहां  
 द्वौ दक्षिणा ॥ ३ ॥

षडेवोत्तराणि हवींषि निर्व्वपति । समान-  
 वर्हींषि तासां देवतानां रूपं यथा पुनरा-  
 वर्त्तेरन्वार्षिक मभि तत् षडृतन्युक्ते त एनं षडृ-  
 तवो युक्ता वार्षिक मभि वहन्ति षड्वर्तून्  
 प्रयुक्तान्वार्षिक मनुचरति पूर्वाग्निवाहां द्वौ  
 दक्षिणा तद्यत् पूर्वाग्निवाहो दक्षिणवर्तून्वा एतत्  
 सुषुवाणो युङ्क्ते वहन्ति वा अन्नडाहस्तस्मात्  
 पूर्वाग्निवाहो दक्षिणा ॥ ४ ॥

तच्च चैतत् पुरा कुरुपञ्चाला आहुः । ऋतवो  
 वा अस्मान् युक्ता वहन्त्यृतून्वा प्रयुक्ताननुचराम  
 इति यदेषां राजानो राजमूययाजिन आसु-  
 स्तत्र स्म तद्भ्याहुः ॥ ५ ॥

आग्नेयो ऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति ।  
 सौम्यश्चरुः सावित्री द्वादशकपालो व्याष्टाकपालो  
 वा पुरोडाशो बार्हस्पत्यश्चरुस्त्वाष्ट्रो दशकपालः  
 पुरोडाशो वैश्वानरो द्वादशकपाल एतानि षट्  
 पूर्व्याणि हवींषि भवन्ति ॥ ६ ॥

षडेवोत्तरे चरुवः । सारस्वतश्चरुः पौष्णश्चरु-  
 मैत्रश्चरुः क्षैत्रपत्यश्चरुर्वारुणश्चरुरादित्यश्चरुरेतु ऽउ  
 षडुत्तरे चरुवः\* ॥ ७ ॥

अथ श्येनीं विचित्रगर्भां मुदित्या ऽग्नौ लभते ।  
 तस्या एषैवावृद्याष्टापद्यै व्वशाया ऽड्यं वा ऽअ-  
 दितिरस्या एवैनं मेतद् गर्भं करोति तस्या एता-  
 दृश्येव श्येनीं विचित्रगर्भां दक्षिणा † ॥ ८ ॥

अथ पृषतीं विचित्रगर्भां मरुद्वा अलभते ।  
 तस्या एषैवावृद्धिशो वै मरुतो विशा मेवैनं  
 मेतद् गर्भं करोति तस्या एतादृश्येव पृषतीं विचित्र-  
 गर्भां दक्षिणा ॥ ९ ॥

\* 'चरुवः'—इति क ।

† 'दक्षिणा'—इति ग, घ ।

एतौ पशुबन्धौ \* । तदेतावेव सन्तावन्यथेवाल-  
भन्ते या मदित्या ऽआलुभन्त ऽआदिद्येभ्यस्ता माल-  
भन्ते सुर्वं वा ऽआदित्याः सुर्वस्यैवैन मेतद्  
गुभं करोति यां मरुद्गा आलुभन्ते विश्वेभ्यस्तां  
देवेभ्य आलुभन्ते सुर्वं वै विश्वे देवाः सुर्वस्यै-  
वैन मेतद् गुभं करोति ॥ १० ॥ ४ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [पृ. २.] ॥

द्वितीयं प्रयुजां हवींषि विधीयन्ते । कात्यायनः— “हादशो-  
त्तराणि प्रयुग्ववींषि मासान्तराण्याहवनीयाद्वा पुरस्ताच्छम्याप्रासे-  
शम्याप्रास आग्नेय-सौम्य-सावित्र-बार्हस्पत्य-त्वाष्ट्र-वैश्वानरा यथोक्त  
मेव मेव प्रत्याहृतस्य चरवः सारस्वत-पौष्ण-मैत्र-क्षैत्रपत्य-  
वारुणादित्याः षट्-षट्कैकतन्त्रे पूर्वाग्निवाह्यौ द्वौ-द्वौ षष्ठां-षष्ठां  
दक्षिणा”-इति † । अयं मर्थः— हादशाग्नेयादीनि प्रयुजां हवींषि  
आहवनीयात् पूर्वदेशे एकैकशम्याव्याधप्रदेशे एकैकस्मिन् मासि  
एकैकं हविरिति क्रमेण षट् यष्टव्यानि ; तथा प्रत्याहृत्य  
तेष्वेव स्थानेषु क्रमेण षट् यष्टव्यानि । यदा , षट्कं-षट्कं  
मेकीकृत्य एकतन्त्रेण कुर्यात् । तेषां पूर्वाग्निवाह्यौ द्वौ-द्वौ  
अनङ्गाह्यौ दक्षिणेति ॥

\* ‘पशुबन्धौ’—इति ग ।

† का० औ० सू० १५. ६. ११-१६ ।

तदिदं विधत्ते— “स वै प्रयुजा मिति । विविधं प्रशंसति—  
 “ऋतून् वा इति । एषः ‘सुषुवाणः’ यष्टा ‘ऋतून्’ मासानेव  
 ‘प्रयुक्ते’ कर्मणे योजयति । ‘ऋतवः’ अपि ‘एनं’ ‘युक्ताः’  
 सन्तो ‘वहन्ति’ प्रापयन्तीष्टं फलम् । इदानीं मनुष्ठातापि प्रयुक्तान्  
 ‘ऋतून्’ ‘अनु’-लक्ष्य ‘चरति’ अनुसरति, तत्तदनु- [ सरण ]-जनित-  
 फलं प्राप्तुकामः । तस्मात् प्रयुजां हविर्यागः कर्त्तव्यः । तथाच  
 तैत्तिरीयके — “मासि-मासि एतानि हवींषि निरूप्याणीत्याहुः,  
 तेनैवर्त्तून् प्रयुक्ते इति”—इति \* ॥ १ ॥

तेषां सङ्ख्यां विधत्ते— “तानि वै द्वादशेति । तेषां प्रति-  
 मासं यजनं पूर्वपक्षत्वेनोपन्यस्यति— “मासि-मासीति । तं  
 पक्षं निराकरोति— “को वेदेति । मनुष्यस्यायुःपरिमाणस्या-  
 वगन्तु मशक्यत्वात् मासि-मासि यजनं न कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥

हविःषट्कस्यैकौकृत्य यागकरणेऽपि कञ्चिद् विशेषं पूर्व-  
 पक्षत्वेनोपन्यस्यति— “शम्यापराव्याध इति । शम्यापरास्ता  
 विध्यति निपतति यत्रेति स शम्यापराव्याधो देशः । तत्र  
 देशे पूर्वं ‘षड्भिः’ ‘प्राङ्’ प्राञ्चुखो ‘यान्’ गच्छन् यजेत ।  
 आहवनीयात् पूर्वदेशे एकैकशम्याप्रासे षट् कर्त्तव्यानीत्यर्थः ।  
 ‘अथ पुन रिति । पुनरावृत्तेन एकैकशम्याप्रासप्रदेशे अपराणि  
 षट् कर्त्तव्यानीति ॥ २ ॥

तम् पक्षं निराकृत्य पक्षान्तरं विधत्ते— “तदु तथेति ।  
 ‘पूर्वाणि षट् हवींषि’ ‘समानवर्हीषि’; बर्हिःशब्दस्तोप-  
 ण्यकः , एकतन्त्राणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः । पूर्वहविःषट्कदेवताः  
 प्रशंसति— “तासां देवताना मिति । ‘तासां’ पूर्वहविःषट्कस्य

देवतानाम् अग्निषोमादीनां षष्ठां रूप मेतत् । 'यथा' 'शिशिरे'  
 ऋतौ 'युक्ता' युक्ताश्वाः राजानः 'प्राञ्चः' सन्तः 'आप्राह्वषं'  
 प्राह्वत्कालपर्यन्तं 'यायुः' गच्छेयुः । तदिदं प्राञ्चुखं यानं  
 पूर्वपूर्वशम्याप्रासेषु यष्टव्याना मग्न्यादिदेवतानां सम्बन्धि रूप  
 मित्यर्थः । प्रयुजां पूर्वाणि षड्वींषि प्रस्तुत्य नैत्तिरीयके शिशिरा-  
 दिषु षट्षु मासेषु राजभेदेन प्राञ्चुखा याना प्रतिमासं व्यापार-  
 भेदश्च स्पष्ट मास्मातः— "आग्नेय मष्टाकपालं निर्वपति, तस्मा-  
 द्च्छिशिरे कुरुपञ्चालाः प्राञ्चो यान्ति । सौम्यं चरुं, तस्माद्  
 वसन्तं व्यवसायादयन्ति । सावित्रं द्वादशकपालं, तस्मात् पुर-  
 स्ताद् यवानां सवित्रा विरुन्धते । बार्हस्पत्यं चरुं, सवित्रैव  
 विरुध्य ब्राह्मणा यवानादधते । त्वाष्ट्र मष्टाकपालं रूपा-  
 श्लेव तेन कुर्वते । वैश्वानरं द्वादशकपालं, तस्माज्जघन्ये  
 नैदाघे प्रत्यञ्चं कुरुपञ्चाला यान्ति"—इति \* । तदनेन पूर्वहविः-  
 षट्केन षडृतुमासानेव युक्ते । 'ऋतु'-शब्दो मासपरः ; "वास-  
 न्तिकाष्टतू"—इतिव्यवहारात् † । यद्वा, "पक्षा वै मासाः"  
 -इति पक्षाणां मासत्वव्यवहारात् पक्षद्वयात्मक ऋतुरित्यर्थः ॥

पूर्वषट्कस्य दक्षिणां विधत्ते— "पूर्वाग्नीति । पूर्वाग्नि  
 माहवनीयं वहन्तीति पूर्वाग्निवाहोऽनडाहः । तेषां मध्ये द्वौ  
 दक्षिणात्वेन देयावित्यर्थः ॥ ३ ॥

उत्तरहविःषट्कस्यापि समानतन्त्रत्वं दर्शयति— "षडे-  
 वोत्तराणीति । तानि प्रशंसति— "तासां देवताना मिति ।  
 'वार्षिक मभि' वर्षर्तुसम्बन्धिनं प्रथमं मास मभिलक्ष्य पुन-

\* तै० ब्रा० १. द. ४. १, २ ।

† "मधुश्च माधवश्च वासन्तिकाष्टतू"—इति वा० सं० १३. २।. १ ।

रावर्त्तेरन् । शिशिरे दिग्विजयाय प्राञ्चः प्रयाताः कुरुपञ्चालादयो  
निदाघर्त्तुद्वितीयमासे परकीयं राष्ट्रं सर्वात्मना विनाश्य स्वदेगं  
प्रति प्रत्यङ्मुखान् निवर्त्तन्ते । तत् 'एतत्' सरस्वत्यादिदेवतानां  
प्रतिनिवृत्त्या यष्ट्यानां रूपमित्यर्थः । "तत् षडृतूनि ।  
'तत्' तेन उत्तरहविःषट्कयागेन प्राहडादीन् षण्मासान्  
योजितवान् भवति । तेषां मनडुद्वयं दक्षिणां विधत्ते—  
"पूर्वाग्नीति । पूर्वाग्निवाहं दक्षिणात्वम् । सम्भूय प्रशंसति—  
"तद् यत् पूर्वाग्नीति ॥ ४ ॥

उक्तं द्वादशप्रयुग्धविःकरणेन ऋतुप्रयोगं कुरुपञ्चालहत्तान्त-  
मुखेन द्रष्टव्यं— "तद् स्मृतमिति । पूर्वं 'कुरुपञ्चालाः' 'आहुः'  
वदन्ति, विचारयन्ति,— 'अस्मान् ऋतवो युक्ताः' सन्तो 'वहन्ति',  
'प्रयुक्तान् ऋतून्' 'अनु'-लक्ष्य 'चरामः' अनुसराम इति ।  
आशंसमानानाम् 'एषां' राज्ञां मध्ये ये 'राजानः राजसूय-  
याजिनः आसुः', ते प्रयुग्धविःकरणं ऋतुप्रयोगरूपमिति प्रत्युच्य-  
रिति तस्यार्थः ॥ ५ ॥

तानि द्वादश हवींषि उद्दिशति— "आग्नेयोऽष्टाकपाल  
इति । तत्र पूर्वाणि षड्वींषि पुरोडाशात्मकानि, उत्तराणि  
तु चर्वात्मकाण्येवेत्यर्थः \* ॥ ६, ७ ॥

अथ पशुद्वयं विधीयते । तत्र कात्यायनः— "अष्टापदी-  
वत्पशुवन्मौ गर्भिणीभ्यां स्वगुणदक्षिणौ, श्येन्यादित्येभ्योऽदित्ये  
वा, वैश्वदेवौ पृषतो मारुतो वा"—इति † । श्वेतां गर्भिणी

\* ते० सं० १. द. १६ ('सायजूतानां हवींषि'), ते० ब्रा०

१. द. ३ द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १५. ६. १७, १८ ।

मादित्येभ्योऽदित्यै वा आलभेत , पृषतीं गर्भिणीं विश्वदेवेभ्यो मरुद्भ्यो वेति तदर्थः \* ।

तत्र स्वमतानुसारेणादितिदेवत्वं पशुबन्धं विधत्ते— “अथ श्येनी मिति । ‘श्येनी’ श्वेतवर्णां ‘विचित्रगर्भा’ प्रज्ञातगर्भाम् ‘अदित्यै’ आलभेत । प्रयोग मतिदिशति— “तस्या एषेति । ‘अष्टात्’ क्रिया ‘या’ ‘अष्टापद्यै’ वशायै गर्भिण्या वशया अनुबन्ध्यायाः प्रयोगक्रमः , स एवास्या इत्यर्थः । तत्प्रयोगस्तु चतुर्थकाण्डे पञ्चमेऽध्याये द्वितीये ब्राह्मणे— “उत्खिद्य वषा मनुर्मर्गं गर्भं मेष्टवै ब्रूयात्”—इत्यादिना स्पष्ट मीरितः † । एतद्देवतां प्रशंसति— “इयं वा इति । ‘अदितिः’ नाम ‘इयं’ पृथिवी ; तस्माददितिदेवत्यगर्भिणीयागेन ‘एनं’ यजमानं भूमेरेव गर्भत्वेन कृतवान् भवति ॥

एतस्य कर्मणो दक्षिणां विधत्ते— “तस्या एतादृश्येवेति । ‘एतादृशी’ एतद्वर्णा प्रज्ञातगर्भा ‘दक्षिणा’ ॥ ८ ॥

पशुबन्धान्तरं विधत्ते— “अथ पृषती मिति । ‘पृषती’ विन्दुयुक्ता , ‘विचित्रगर्भा’ विचित्रवर्णां गर्भिणीम् ‘मरुद्भ्यः’ देवेभ्यः आलभेत । तस्यापि प्रयोगप्रकारं पूर्ववदतिदिशति । “तस्या एषेति । मरुतां विट्त्वात् मरुद्देवत्यपशुयागेन ‘एनं’ सुन्वन्तं ‘विशं’ प्रजानां ‘गर्भम्’, तदुपजीव्य कृतवान् भवति ॥

तस्यापि दक्षिणां विधत्ते— “तस्या एतादृशीति । एवकारेणान्यवर्णदक्षिणानिष्ठतिः । दक्षिणाभेदेनानयोः कर्मभेदः ॥ ९ ॥

“एतौ पशुबन्धाविति । उक्तस्य पशुबन्धद्वयस्य शास्त्राभेदेन

\* ‘अष्टापदीशब्देन अनुबन्धोच्यते लक्षणया तदती’—इति कर्कः ।

† तत्र प्रथमा कल्पी द्रष्टव्या ।

देवतान्तरसम्बन्धं दर्शयति-- “तदेतावेवेति । एवकारेणादिति-  
मरुत्सम्बन्धो विवक्षितः । ‘अन्वयेव’-इति यदुक्तम्, तदेव स्पष्टयति  
--“या मदित्या इत्यादिना \* ॥ १० ॥ ४ [ ५. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे पञ्चमाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

( अथ तृतीयं ब्राह्मणम् . )

अभिषेचनीयेनेष्टा† । केशान् वपते तद्यत्  
केशान् वपते व्वीर्यं वा ऽएतदपां रुसः  
सम्भृतो भवति येनैन मेतदभिषिञ्चति तस्याभि-  
षिक्तस्य केशान् प्रथमान् प्राप्नोति स यत् केशान्  
वपेतेतां श्रियं जिह्वां विनाशयेद् व्युदद्यात्तस्मात्  
केशान् वपते ॥ १ ॥

संवत्सरं न वपते । संवत्सरस्मिता वै व्रत-

\* अष्टम्यादिषु तिष्ठेषु कण्ठीषु पशुद्वयविधिः । स एषोऽपि तै० सं०  
१. द. १६, तै० ब्रा० १. ८. ३ दृश्यः ।

† ‘अभिषेचनीयेनेष्टा’-इति ग, घ ।



चर्या तस्मात् संवत्सरं न वपते स एष व्रत-  
विसर्जनीयोपयोगो नाम स्तोमो भवति केश-  
वपनीयः ॥ २ ॥

तथैकविंशं प्रातस्सवनं । सप्तदशं माध्य-  
न्दिनं सवनं पञ्चदशं तृतीयसवनं सहोक्त्यैः  
सह षोडशिना सह रात्र्या ॥ ३ ॥

त्रिवृद्रथन्तरः सन्धिर्भवति । एष एवैकविंशो  
य एष तपति स एतस्मादेकविंशादपयुङ्क्ते  
स सप्तदशं मभिप्रत्यैति सप्तदशात् पञ्चदशं  
पञ्चदशादद्या मेव त्रिवृतिं प्रतिष्ठायां प्रति-  
तिष्ठति ॥ ४ ॥

तस्य रथन्तरं पृष्ठं भवति । इयं वै रथन्तरं  
मद्या मेवैतत् प्रतिष्ठायां प्रतितिष्ठत्यतिरात्रो  
भवति प्रतिष्ठा वा ऽतिरात्रस्तस्मादतिरात्रो  
भवति ॥ ५ ॥

स वै न्येव व्यर्चयते । केशान् वपते \* व्यीर्यं  
वा ऽएतदपां रसः सम्भृतो भवति येनैन

मेतदभिषिञ्चति तस्माभिषिक्तस्य केशान् प्रथमान्  
 प्राप्नोति स यत् केशान् वपेतैतां श्रियं जिह्मां  
 द्विनाशयेद्वादुष्टादथ युन्निवर्त्तयते तदात्मन्येवैतां  
 श्रियं नियुनक्ति तस्माद्येव वर्त्तयते केशान्न वपते  
 तस्यैषैव व्रतचर्या भवति यावज्जीवं नास्यां प्रति-  
 तिष्ठति ॥ ६ ॥

आसन्द्या उपानहा उपमुञ्चते । उपा-  
 नङ्भ्या मुधि युदस्य यानं भवति रुथो वा  
 किञ्चिद्वा सर्व्वं वा ऽएषु इदं मुपयुपरि भव-  
 त्यर्द्धांगिवाद्यादिदं सर्व्वं भवति यो राजमूयेन  
 युजते तस्मादस्यैषैव व्रतचर्या भवति यावज्जीवं  
 नास्यां प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥ ५ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके पञ्चमं ब्राह्मणम् [५. ३.] ॥

तृतीये केशवपनीयातिरात्रस्य वैशेषिका धर्मा उच्यन्ते ।  
 सूत्रम्— “अभिषेचनीयाहा संवत्सरात् केशवपनीयोऽतिरात्रः  
 सोमापवर्गः”—इति \* । पशुबन्धनान्तरं केशवपनीयातिरात्र-  
 यागः कर्त्तव्यः । अभिषेचनीयसोमयागं कृत्वा संवत्सरपर्यन्तं केश-  
 वपनाकरणलक्षणं व्रत माचर्यम्, ततस्तद्वतविसर्जनार्थं मेकः

सोमयागः पौर्णमासीसुखः कार्यः, स एव केशवपनीयातिरात्र उच्यते । रात्रि मतीत्य वर्त्तत इत्यतिरात्रः ; अतिरात्रसंस्थया कार्य इत्यर्थः \* ॥

त मिमं विधत्ते — “अभिषेचनीयेनेष्टेति । अभिषेचनीय-यागादनन्तरं केशवपनीयकरणे कारण माह — “वीर्यं वा एतदपा मिति । पूर्वं मभिषेककाले वीर्यरूपोऽपां रसः प्रथमं केशानेव प्राप्तवान्, तेषां केशानां वपने अभिषेकेणागच्छन्तीं ‘अग्र्यम्’ एव ‘जिह्वा’ कुटिलां विनाशितवान् भवति । किञ्च ‘व्युदुह्यात्’ गतसारोऽपि भवेत् । तस्मात् केशवापो न कर्त्तव्य इत्यर्थः † ॥ १ ॥

तस्यावधिकालं दर्शयति — “संवत्सरं न वपत इति । केशवपनीयशब्दं निर्वर्त्ति — “स एष व्रतेति । संवत्सरसन्निवृत्तविसर्जनद्वारा केशवपनार्थम् उपयुज्यमानः क्रियमाणः ‘स्तोमः’ एकविंशादिस्तोमवान् यागः केशवपनीय इत्यर्थः ॥ २ ॥

तत्र सामगैर्गीयमानेषु स्तोत्रेषु चोदकेन प्रातस्सवनादिषु त्रिवृदादिस्तोमप्राप्ते तानपवदितुं विशेषं दर्शयति — “तस्यैक-विंश मिति । प्रातस्सवनं मेकविंशस्तोमयुक्तं कर्त्तव्यम्, माध्य-

\* “तदन्ते केशवपनीयोऽतिरात्रः पौर्णमासीसुखः” — इति सूत्र-चात्र विचार्यम् ( १५. ६. २० ) । ‘तदन्तयद्वयान्तरपौर्णमास्यां भवति’ — इतीह कर्कः । ‘तयोः पशुबन्धयोरन्ते’ केशवपनीयसञ्ज्ञः अतिरात्रसंस्थः सोमयागो भवति, स च पौर्णमासीसुखः, ज्येष्ठ्यां पौर्णमास्यां तस्य सुखा भवतीत्यर्थः — इति तत्र वृत्तिः ।

† “संवत्सरादहं” केशवपनीयाय दीक्षेत यस्मिन् कालेऽभिषेचनीयेन यजेत, तस्य पौर्णमास्या मतिरात्रः — इति चात्र लाघ्या० औ० सू० ६. ३. १, २ ।

न्दिनं सप्तदशस्तोमकम् ; अस्य सोमयागस्य अतिरात्रसंस्था-  
त्वात् \* । तृतीयसवने अग्निष्टोमवत् द्वादश स्तोत्राणि , तत्  
उत्तरं त्रीण्युक्त्यस्तोत्राणि , एकं षोडशस्तोत्रम् , रात्रि-  
पर्यायस्तोत्राणि द्वादश ; तानि सर्वाण्यपि पञ्चदशस्तोमकानि  
कर्त्तव्यानीत्यर्थः । स्तोमकृत्प्रकारस्तु “प्राची मारोह”-इत्यत्र  
द्विक्त्वमारोहणमन्त्रव्याख्यावसरे दर्शितः † ॥ ३ ॥

“त्रिवृद्राथन्तर इति । पूर्वदिवसरात्रिशेषे उत्तरदिवसस्थोषः-  
काले यज्ञस्थापक मेकं चरमं स्तोत्रं तृतीयपर्यायस्थान्ते रथन्तर-  
साम्ना गातव्यम् , तत् सन्धिस्तोत्रमित्युच्यते । तत् स्तोत्रं  
त्रिवृत्स्तोमयुक्तं कार्यम् । एकविंशादवरोहणक्रमेण ‡ त्रिवृत्पर्यन्तं  
यत् स्तोमकरणमुक्तम् , तत् सूर्यलोकादिक्रमाद् भूस्ववस्थानात्मना  
प्रयंसति— “एष एवैकविंश इति । ‘य एष तपति’, ‘सः’  
‘एकविंशः’ सूर्य इत्यर्थः ; तस्मात् ‘अपयुक्ते’ अवरोहतीत्यर्थः ।  
सोऽवरोह्यावरोह्य त्रिवृद्रूपाया मस्यां भूमिलक्षणायां ‘प्रतिष्ठायां’  
प्रतिष्ठितवान् भवति ॥ ४ ॥

माध्यन्दिने सवने रथन्तरं बृहत्साम वा पृष्ठस्तोत्रं प्रकृतौ  
विकल्पितम् , अत्र त्वेकं नियमयति— “तस्य रथन्तरमिति ।  
‘अस्य सोमयागस्यातिरात्रसंस्थात्वं प्रतिष्ठात्मना प्रयंसति—  
“अतिरात्र इति । अतिरात्रसंस्थात्मना कृत एष क्रतुः  
प्रतिष्ठारूपः ॥ ५ ॥

अस्य क्रतोः केशवापव्रतविसर्जनार्थं क्रियमाणत्वात् तदन्ते

\* ‘संस्थात्’—इति च , क ; ‘संस्था[ ना ]त्’—इति ज ।

† इहेव पुरस्तात् ( ४. १. ३. ) २६२ पृष्ठतो द्रष्टव्यम् ।

‡ ‘द्वरोहणे’—इति च , ‘द्वरोहणं’—इति ज ।

केशवापः कार्यः ; तत्र कश्चिद् विशेषं विधत्ते— “स वै न्येव वर्त्तयत इति । ‘सः’ यजमानो ‘निवर्त्तयते’ केशान् निकृत्ते-  
देव , न वपेत ; वपनं नाम मुण्डनं तत्र कुर्यात् , निवर्त्तनं  
कर्त्तनम् , तत् कुर्यादित्यर्थः । “वीर्यं वा इत्यादेरर्थः पूर्वं  
व्याख्यातः \* । निकर्त्तनपक्षे केशाङ्कुराणां विद्यमानत्वात् ‘आत्म-  
न्येव’ ‘एतां अथ’ नियोजितवान् भवतीत्यर्थः ॥

सुन्वतः काञ्चिन्नियमान् दर्शयति— “तस्यैषैवेति । ‘एषा’  
केशकर्त्तनलक्षणा ‘व्रतचर्या’ यावज्जीवनं कर्त्तव्या ; न केश-  
मुण्डनं कार्यम् । कदाचिदपि † ‘अस्यां’ भूमौ ‘न प्रतितिष्ठति’  
अवस्थानं न कुर्यात् ॥ ६ ॥

कुत्रावतिष्ठेतेति तद्दर्शयति— “आसन्त्या मिति । आसन्त्या  
अवरोहणसमयेऽपि ‘उपानहौ’ पादुके उपमुञ्चेत । इतस्ततः सञ्च-  
रणसमये रथं वा यानं वारोहेत् । एतादृशं व्रतं राजसूय-  
याजिनो ‘यावज्जीव’ कर्त्तव्यमित्यर्थः ‡ ॥ ७ ॥ ५ [ ५. ३. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे पञ्चमाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* अशुपद् मेव गतं ३५६ पृष्ठायां द्रष्टव्यम् ।

† इतोऽनन्तरं ज-पुस्तके ‘अशुपान्तोऽपादुकः’—इत्यधिकः पाठः ।

‡ ते० ब्रा० १. ८. ८ द्रष्टव्यम् । किञ्च “संवत्सर मग्निहोत्रं  
हुत्वा केशवपनीयेनातिरात्रेण यजते”—इति व्याप० औ० सू० १८.  
२२. ६ । एव मन्यतान्यत्र च, लात्या० औ० सू० ६. ३. १-१४ ॥

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम् . )

श्वेत आश्विनो भवति । श्वेताविंशद्वाश्वि-  
 नावविर्मलहा सारस्वती भवत्यृषभ मिन्द्राय सुत्राभ्यः\*  
 ऽअलभते दुर्वेदा एवः सप्तधाः पशवो यद्ये-  
 वः सप्तद्वान्न द्विन्देदप्यजानेवालभेरंस्ते हि सुश्र-  
 पतरा भवन्ति स यद्यजानालभेरंस्त्रोहित आश्विनो  
 भवति तद्यदेतया यजते ॥ १ ॥

त्वष्टुर्ह वै पुत्रः† । त्रिशीर्षा षडक्ष आस  
 तस्य त्रीण्येव मुखान्यासुस्तद्यदेवः रूप आस तस्माद्  
 विश्वरूपो नाम ॥ २ ॥

तस्य सोमपान मेवैकं मुख मास । सुरापाण  
 मेक मन्यस्मा ऽअशनायैकं त मिन्द्रो दिद्वेष तस्य  
 तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद ॥ ३ ॥

स यत् सोमपान मास । ततः कपिञ्जलः  
 समभवत्तस्मात् स बभूव इव बभुरिव हि सोमो  
 राजा‡ ॥ ४ ॥

\* 'ह्यत्राभ्य'—इति ग, घ ।

† 'पुत्रः'—इति ग ।

‡ 'राजा'—इति ग, 'राजा'—इति घ ।

अथ यत् सुरापाण मास । ततः कलविङ्कः  
सुमभवत्तस्मात् सो ऽभिमाद्यत्क इव व्वदत्यभि-  
माद्यन्निव हि सुरां पीत्वा व्वदति \* ॥ ५ ॥

अथ यदन्यस्मा ऽअशनायास' । ततस्तित्तिरिः  
सुमभवत्तस्मात् स व्विखरूपतम इव सुन्त्येव  
घृतस्तोका इव त्वत् मधुस्तोका इव त्वत् पर्णे-  
ष्वाश्चुतिता एवुरूप मिव हि स तेनाशन  
मावयत् ॥ ६ ॥

स त्वष्टा चुक्रोध । कुविन्मे पुत्र मुबधी-  
दिति सो ऽपेन्द्र मेव सोम माजक्रे स यथाय  
सोमः प्रसुत एव मुपेन्द्र एवास † ॥ ७ ॥

इन्द्रो ह वा ऽईक्ष्वाञ्चक्रे । इदं वै मा सो-  
मादन्तर्यन्तीति स यथा बलीयानबलीयस एव  
मनुपहृत एव यो द्रोणकलशे शुक्र आस तं  
भक्षयाञ्चकार स हैनं जिहिस्स सोऽस्य व्विष्वङ्-  
डेव ‡ प्राणेभ्यो दुद्राव मुखाद्धैवास्व न दुद्राव

\* 'व्वदति'—इति क ।

† 'एवास'—इति क ।

‡ 'विष्वडेव'—इति क । 'विष्वङ्गेव'—इति ख ।

तस्मात् प्रायश्चित्तिरास स यद्वापि सुखादद्रोष्यन्  
हैव प्रायश्चित्तिरभविष्यत् ॥ ८ ॥

चत्वारो वै वर्णाः । ब्राह्मणो राजन्यो  
व्यैश्यः शूद्रो न ह्येतेषा मेकश्चन भवति यः सोमं  
व्रमति स यद्वैतेषा मेकश्चित् स्यात् स्याद्वैव  
प्रायश्चित्तिः ॥ ९ ॥

स यन्नस्तोऽद्रवत् । ततः सिंहः समभवदथ  
यत् कर्णाभ्यां मुद्रवत्ततो व्युक्तः समभवदथ यदु-  
वाचः प्राणादद्रवत्ततः शार्दूलज्येष्ठाः प्रवापदाः  
समभवन्नथ यदुत्तरात् प्राणादद्रवत्सा परिक्षु-  
द्य त्रिर्निरुष्टीवत्ततः कुवलं कर्कशु बदर  
मिति समभवत्स सर्व्वेणैव व्यार्ध्यत सर्व्वं हि  
सोमः ॥ १० ॥

स सोमातिपूतो मङ्गुरिव चचार । त मेत-  
याश्विनावभिषज्यतां तं सर्व्वेणैव समर्द्धयतां  
सर्व्वं हि सोमः स व्रसौयानेवैष्टामवत् ॥ ११ ॥

ते देवा अब्रुवन् । सुवातं बतैन मन्त्रासता\*  
मिति तस्मात् सौत्रामणी नाम ॥ १२ ॥

\* 'मन्त्रासता' - इति क, ख ।



सु हैतयापि सोमातिपूतं भिषज्येत् । सर्वेण  
वा ऽएष व्यृध्यते यः सोमो ऽतिपवते सर्वः  
हि सोमस्तः सर्वेणैव समर्ह्यति सर्वः हि सोमः  
स वृसीयानेवेष्टु भवति तस्माद् हैतयापि  
सोमातिपूतं भिषज्येत् ॥ १३ ॥

तद्यदेतया राजसूययाजी यजते । सुर्वान्वा-  
ऽएष यज्ञक्रतूनवरुन्धे सुर्वान् इष्टीरपि दर्वि-  
होमान्यो राजसूयेन यजते देवसृष्टो वा ऽएष-  
ष्टिर्यत्सौत्रामण्यनया मे ऽपीष्ट मसदनयापि सूया  
ऽइति तस्माद्वा ऽएतया राजसूययाजी यजते \* ॥ १४ ॥

अथ यदाश्विनो भवति । अश्विनौ वा ऽएन  
मभिषज्यतां तथो ऽएवैन मेष एतदश्विभ्या मेव भिष-  
ज्यति तस्मादाश्विनो भवति † ॥ १५ ॥

अथ युत् सारस्वतो भवति । व्याग्वै सर-  
स्वती व्याचा वा ऽएन मश्विनावभिषज्यतां तथो  
ऽएवैन मेष एतद्व्याचैव भिषज्यति तस्मात् सार-  
स्वतो भवति ‡ ॥ १६ ॥

\* 'यजते'—इति ग, घ ।

†, ‡ 'भवति'—इति क ।

अथ यदैन्द्रो भवति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता \*  
तयैवैनं मेतुङ्घ्रिष्यति तस्मादैन्द्रो भवति ॥ १७ ॥

एतेषु पशुषु । सिंहलोमानि वृकलोमानि  
शार्ङ्गलोमानीत्याषपत्येतद्वै ततः समभवद्यदेन  
सोमोऽत्यपवत तेनैवैनं मेतत् समर्हयति कृत्स्नं  
करोति तस्मादेतान्यावपति ॥ १८ ॥

तदु तथा न कुर्यात् । उल्कया ह सु न-  
खिन्या पशून्नुषवति य एतानि पशुष्यावपति  
तस्मादु परिस्रुत्येवावपेत्तथा होल्कया नखिन्या  
पशून्नुषवति तथो ऽएवैनं समर्हयति कृत्स्नं  
करोति तस्मादु परिस्रुत्येवावपेत् † ॥ १९ ॥

अथ पूर्वदुः परिस्रुतं सन्दधात्यश्विन्यां पच्यस्व  
सुरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्वेति सा  
यदा परिस्रुतवत्येनया प्रचरति ॥ २० ॥

हावनी ऽउद्धरन्ति । उत्तरवेदावेवोत्तर मुहते  
दक्षिणं नेत् सोमाहुतीश्च सुराहुतीश्च सह जुहवा-

\* इतोऽनन्तरम् “सा यैव यज्ञस्य देवता”—इत्यधिकः पाठः ख-पुस्तके ।

† ‘०वावपेत्’—इति क ।

मेति तस्माद् द्वावग्नी ऽउड्वरन्त्युत्तरवेदावेवोत्तर मुद्वते  
दक्षिण मथ यदा व्यपाभिः प्रचुरत्यथैतया \* परि-  
स्रुता प्रचरति ॥ २१ ॥

तां दग्धैः पावयति । पूतासदिति ध्यायुः  
पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो ऽश्रुतिस्रुतः । इन्द्रस्य  
युज्यः सखेति तत् कुवलसक्तून् कर्कशसक्तून् बदर-  
सक्तूनित्यावपत्येतद्वै ततः समभवद्यत् त्रिनिरुष्टीवत्  
तेनैवैन मेतत् समर्हयति कृत्स्नं करोति तस्मादे-  
तानावपति † ॥ २२ ॥

अथ गृहान् गृह्णाति । एकं वा त्रीन्वैक-  
स्त्वेव गृहीतव्य एका हि पुरोरुग्भवत्येकानुवाक्यैका  
याज्या तस्मादेक एव गृहीतव्यः ॥ २३ ॥

स गृह्णाति । कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा  
दान्यनुपूर्वं वियूय । इहेहैषां कृणुहि भोज-  
नानि ये बर्हिषो नम उक्तिं यजन्ति । उप-  
यामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सुरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा

\* 'प्रचुरन्त्यथैतया'—इति क, ख ।

† 'वपति'—इति क ।

सुत्राम्ण ऽइति यद्यु त्रीन् गृह्णीयादेतयैव  
 गृह्णीयादुपयामैस्तु तर्हि नाना गृह्णीयादथाहा-  
 श्विभ्यां सरस्वत्या ऽइन्द्राय सुत्राम्णे ऽनु-  
 ब्रूहीति ॥ २४ ॥

सो ऽन्वाह । युवः सुराम मश्विना न-  
 मुचावासुरे सुचा । व्विपिपाना शुभस्पती ऽइन्द्रं  
 कर्मस्वावत मित्याश्रयाव्याहाश्विनौ सरस्वती मिन्द्रं  
 सुत्रामाणं यजेति ॥ २५ ॥

सु यजति । पुत्र मिव पितरावश्विनोभेन्द्रा-  
 वयुः काव्यैर्दसनाभिः । यत् सुरामं व्यपिवः  
 शुचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णुगिति  
 दिहीता व्वषट्करोति हिरध्वर्युर्जुहोत्याहरति  
 भक्षं यद्यु त्रीन् गृह्णीयादेतस्यैवानुहोम मितरौ  
 ह्वयेते ॥ २६ ॥

अथ कुम्भः । शतवितस्मो वा भवति नव-  
 वितस्मो वा स यदि शतवितस्मः शतायुर्वा  
 ऽअयं पुरुषः शततेजाः शतवीर्यस्तस्माच्छतवितस्मो  
 यद्यु नववितस्मो नवेमे पुरुषे प्राणास्तस्मान्नव-  
 वितस्मः ॥ २७ ॥

तु शिष्योदुतम् । उपर्युपर्याहवनीयं धार-  
यन्ति सा या परिशिष्टा परिस्रुद् भवति ता  
मासिञ्चति तां विचुरन्ती मुपतिष्ठते पितृणां  
सोमवतां तिसृभिर्ऋग्भिः पितृणां बर्हिषदां ति-  
सृभिर्ऋग्भिः पितृणां मग्निष्वात्तानां तिसृभि-  
र्ऋग्भिस्तद्यदेव मुपतिष्ठते यत्र वै सोम इन्द्र  
मन्यपवत स यत् पितृनुगच्छत् वया वै पितर-  
स्तेनेवैन मेतत् समर्ह्यति कृत्स्नं करोति तस्मा-  
देव मुपतिष्ठते \* ॥ २८ ॥

अथैतानि हवींषि निर्व्वपति । सावित्रं  
द्वादशकपालं वाष्टाकपालं वा पुरोडाशं व्वारुणं यव-  
मयं चरुमैन्द्र मेकादशकपालं पुरोडाशम् † ॥ २९ ॥

स यत् सावित्रो भवति । सविता वै देवानां  
प्रसविता सवितृप्रसूत ऽएवैतद्विषज्यति तस्मात्  
सावित्रो भवति ‡ ॥ ३० ॥

अथ यद्धारुणो भवति । व्वरुणो वा ऽआर्ष-

\* 'मुपतिष्ठते'—इति ग, घ ।

† 'पुरोडाशम्'—इति ख ।

‡ 'भवति'—इति क ।

यिता तद्य एवार्पयिता तेनैवैतद्विषज्यति तस्मा-  
द्वाक्यो भवति \* ॥ ३१ ॥

अथ यदैन्द्रो भवति । इन्द्रो वै यज्ञस्य देवता  
सा यैव यज्ञस्य देवता तयैवैतद्विषज्यति तस्मादैन्द्रो  
भवति † ॥ ३२ ॥

स यदि हैतयापि सोमातिपूतं भिषज्येत् ।  
दृष्ट्वा अनुयाजा भवन्त्यव्यूढे स्तुचावथैतैर्हविर्भिः  
प्रचरति पश्चाद्वै सोमोऽतिपवते पश्चादेवैन मेतेन  
मेधेनापिदधात्याश्विनं सु तर्हि द्विकपालं पुरोडाशं  
निर्व्वपेद्य यदा व्वपाभिः प्रचरत्यथैतेनाश्विनेन ‡  
द्विकपालेन पुरोडाशेन प्रचरति ॥ ३३ ॥

तदु तथा न कुर्यात् । ह्वलति वा ऽएष  
यो यज्ञपथादेत्येति वा ऽएष यज्ञपथाद्य एवं  
करोति तस्माद्यच्चैवैतेषां पशूनां व्वपाभिः प्रचरन्ति  
तदेवैतैर्हविर्भिः प्रचरेयुर्नो तर्ह्याश्विनं द्विकपालं  
पुरोडाशं निर्व्वपेत् ॥ ३४ ॥

\* , † 'भवति'—इति क ।

‡ '०न्त्य०'—इति क, ख ।

तस्य नृपुंसको गौर्दक्षिणा । न वा ऽएष  
स्त्री न पुमान् यन्नृपुंसको गौर्यदृष्ट पुमांस्तेन  
न स्त्री यदु स्त्री तेनो न पुमांस्तस्मान्नृपुंसको  
गौर्दक्षिणाश्वा वा रथवाही सः हि न स्त्री न  
पुमान् यदुश्वा रथवाही यदृष्ट रथं वहति तेन न  
स्त्री यदु स्त्री तेनो न पुमांस्तस्मादुश्वा रथवाही  
दक्षिणा ॥ ३५ ॥ ६ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके षष्ठं ब्राह्मणम् [पृ. ४.] ॥

सोमप्रधाने \* राजसूये सप्त सोमयागाः । तत्र, पवित्राख्य-  
सोमयागे विशेषाभावात् † स नोक्तः ; अभिषेचनीय-दशपेय-केश-  
वपनीयातिरात्रेषु केचिद् ‡ वैशिष्टिका धर्मा उक्ताः ; व्युष्टि-  
द्विरात्रोऽग्निष्टोमातिरात्रो चतुष्टितिरिति सोमयागत्रयं केशवप-  
नीयादनन्तरं \* कर्तव्यम् । तेषां सोमयागविक्रितित्वादग्निष्टोम-  
वत् सर्वं मङ्गजातं कर्तव्यम्, तत्र विशेषाभावाच्च नोक्ताः ;  
तदनन्तरकर्तव्या सौत्रामण्याभिधीयते § ।

\* 'समप्रधाने'—इति क, ज ।

† 'विशेषाभावात्'—इति च, क; 'विशेषाभावे'—इति ज ।

‡ 'केचिद्'—इति क, ज ।

§ "मन्त्रिष्ठते राजसूयः, तेनेष्टा सौत्रामण्या यजेत"—इति आप०

श्री० सू० १८, २२, २०, २१ ।

तत्र पशुप्रथं \* देवतासम्बन्धविशिष्टं विधत्ते—“श्वेत आश्विन इति । अश्विदेवत्वः ‘श्वेतः’ पशुरालभ्यः । ‘मरुद्वा’ गलस्तनयुतेत्यर्थः । ताम् ‘अविम्’ मिषीम् ‘सरस्वती’ आलभेत । ‘सुतामणे’ सुष्ठु चात्रे, एतद्गुणकाय ‘इन्द्राय’ ‘ऋषभं’ सेवनसमर्थं आलभेत । उक्तपशुषु श्वेतगलस्तनयुक्तत्वरूपं गुण मसम्भाविनं मत्वा श्रुतिः स्वयं मेव पक्षान्तरमाह—“दुर्वेदा इति । ‘एवम्’ उक्तरीत्या ‘सम्बद्धाः’ गुणवत्त्वेन सम्पूर्णाः पशवो ‘दुर्वेदाः’ दुर्लभाः, तेषां मलाभि तत्तद्देवत्वान् ‘त्रीन् अजान् एव’ आलभेत । ‘सुश्रपतराः’ सुखेन अपयितु मर्हाः । अजत्रयपक्षे आश्विनपशोः कश्चिद् गुणं विधत्ते—“लोहित आश्विन इति । अत एव कात्यायनः—“आश्विनोऽजः श्वेतः, मरुद्वाविः सारस्वती, ऋषभ मिन्द्राय सुतामणे, तद्गुणाभावेऽजाः प्रथमो लोहितः”—इति † । एतेषां पशूनां सौत्रामणीसम्बन्धं दर्शयति—“तद्यदेतयेति । पशुत्रयवत्त्वा ‘एतया’ सौत्रामण्या यष्टव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ सौत्रामण्या सुत्रामेन्द्रसम्बन्ध मश्विसरस्वतीसम्बन्धम्, ततोपयुक्तद्रव्यादिकञ्चाख्यायिकामुखेन दर्शयति—“त्वष्टुर्ह वै पुत्र इति । पूर्वं त्वष्टुः पुत्रस्य विश्वरूपस्य ‘त्रिशीर्षः’ त्रीणि मुखान्यासुः । तत्र ‘एकं मुखं सोमपानम्’, द्वितीयं ‘सुरापानम्’, तृतीयम् ‘अन्यस्मै अशनाय’ बभूव । एवम्भूतस्य विश्वरूपस्य त्रीणि शिरांसि ‘इन्द्रः’ ‘दिद्वेप’ चिच्छेद । ततश्चिच्छेदो मुखेभ्यः कपिञ्जलकलविह्वलितिरयस्यः पक्षिणः

\* “त्रिपशुः पशुबन्धः न्वः”—इति का० श्रौ० सू० १५. १०. १ ।

† का० श्रौ० सू० १५. १०. ४-७ ।



समभवन् । कपिञ्जलस्य सोमपानमुखजातत्वात् तत्समानो बभूव-  
 षणी जातः , कलविङ्कस्य सुरापानमुखजातत्वात् सुरापानि-  
 वदभिमादवचनम् , तित्तिरस्याशनभाजकमुखजत्वात् नानारूप-  
 त्वम् । अशने हि घृतमधुविन्दुसङ्गावादस्मिन्नपि पक्षिणि तदा-  
 कारपक्षसङ्गावः । 'अवयत्'-इति वेतेः खादनार्थात् छान्दसः  
 शप् ॥ २—६ ॥

“स त्वष्टेति । ततस्तस्य क्विन्नशीर्णो विश्वरूपस्य पिता 'त्वष्टा'  
 'कुवित्' व्यर्थम् 'मे' मम 'पुत्रम्' 'अवधीत्' 'इति' क्रुद्धः सन्  
 'अपेन्द्रम्' इन्द्रवर्जितम् 'एव' 'सोमं' सोमयागम् 'आजक्रे' अनु-  
 ष्ठितवान् ;— यथा सोमः इन्द्रवर्जितः 'प्रसुतः' अभिषुतः  
 स्यात् तथेत्यर्थः ( ॥ ७ ॥ )

अथ 'इन्द्रः' त्वष्ट्रादयः मां सोमव्यवहितं कुर्वन्तीति निश्चित्य  
 'अनुपहतः' सन् द्रोणकलशस्थितं सोम मपहृत्य भक्षयाश्च-  
 कार । यथा बलवान् पुरुषो बलरहितस्य अन्नादिक \* मपहरति,  
 तद्वत् । स पीतः सोमः 'एनं' 'जिह्वि' बाधितवान् । अस्य  
 'प्राणेभ्यः' नासिकादिस्थानेभ्यः 'एव' 'विष्वङ्' सर्वतः 'दुद्राव'  
 सुतः ; 'न मुखात् दुद्राव' । 'तस्मात्' 'सः' इन्द्रः 'प्राय-  
 च्छित्तिः' प्रायश्चित्तयोग्यः 'आस' । प्रायो विनाशः , तस्य  
 चित्तिः सन्धानं यस्येति तथाविधो बभूव । यदि मुखात्  
 सुतः स्यात् , तर्हि प्रायश्चित्तयोग्य एव न स्यात् ; उत्तरत्र  
 सोमरसव्यूहस्येन्द्रस्याग्निभ्यां समर्द्धनं वक्ष्यते † ॥ ८ ॥

मुखवमनपक्षे प्रायश्चित्तिर्नास्तीति दर्शयति— “चत्वारो वा  
 इति । लोके हि वर्णचतुष्टयस्यैव प्रायश्चित्तविधानम् , नान्यस्य ;

अतः सोमवामी एषां चतुर्णां मध्ये एकोऽपि न भवति । यथा पुष्कसादेः केवलपापशरीराणि \* स्युः , प्रायश्चित्तिविधिर्नास्ति, एवं सोमवामिनोऽपीति । यद्यपि तस्य “यः सोमवामी स्यात् तस्मा एनं सोमेन्द्रं श्यामाकं चतुर् निर्वपेत्”—इत्यादिना तैत्तिरीये † प्रायश्चित्तिरुक्ता , तथापि अत्यन्तसन्निकर्षं वक्तुं वर्णचतुष्टयानर्थक्यं मुक्तम् ; तस्मात् इन्द्रस्य सुखवमनाभावात् प्रायश्चित्तियोग्यत्वं जातं मित्यर्थः ॥ ८ ॥

इन्द्रियेभ्यः सोमद्रवणकाले नासिकादिस्मृतस्य सिंहाद्यात्मनोत्पत्तिं दर्शयति— “स यन्नस्त इति । ‘नस्तः’ नासिकायाः स्मृतः, सोमः ‘सिंहः’ अभवत् । ‘अवाचः’ अधोमुखादपानद्वारात् निर्गतः सोमः ‘शार्दूलमुख्याः श्वापदाः’ क्रूरकर्माणः , पशवः ‘समभवन्’ । उत्तरात् प्राणात्, गुह्यच्छिद्रात् स्मृतः ‘परिस्मृत’ सुरा अभूत् । “यावाची सा सुरा”—इति हि तैत्तिरीयकम् ‡ । स चेन्द्रो वक्त्रेण त्रिवारं निष्ठीवनं कृतवान् । तेन द्रव्यत्रयं अभूत् ,—‘कुवल्कर्कन्धुवदराणि’ सूक्ष्मतरस्थूलमध्यपरिमाणानि वदरजातिफलानि § । एवं सर्वेन्द्रियेभ्यः सोमस्त्ववणात् इन्द्रो ‘व्यार्ध्यत’ व्यृद्धिविहीनो बभूव ॥ १० ॥

\* ‘केवलपापशरीराः’—इति च , कृ ।

† ते० सं० २. ३. २. १४ ।

‡ ते० ब्रा० १. ८. ५. २ ।

§ ‘कुवल् मध्यवदरम्, कर्कन्धु सूक्ष्म मतिमधुरं यदुत्तरापथे प्रायेण जायते, वदरं तु निर्विशेषणम्’—इति हरिस्वामिनः । ‘कुवलान्धामलकतुल्यानि वदराणि, कर्कन्धूनि उपजीव्यान्धारण्यकवदराणि, वदराणि निरुपपदवदराणि चणकवदराणि’—इति याज्ञिकाः । ‘कणं

“स सोमातिपूत इति । ‘सोमातिपूतः’ अपानहारादिभ्यः  
स्रुतः सोमः \* , ‘सः’ इन्द्रः ‘मङ्कुः’ “मकि प्रतिबन्धे” † विकल-  
गतिः ‡ पङ्कुः ‘इव’ ‘सञ्चार’ । तथाविध मिन्द्रम् ‘एतया’  
सौत्रामण्या ‘अश्विनौ’ ‘अभिषण्यताम्’ समाहित मङ्कुहताम् ।  
“भिषक् चिकित्सायाम्”—इति § धातुः । तदेवाह— “सर्वे-  
णेति । ‘सर्वेण’ सोमेन एनं समृद्धं कृतवन्तौ । तत इन्द्रः  
एतया ‘इष्टा’ ‘वसीयान्’ वसुमत्तरः ‘अभवत्’ ॥ ११ ॥

सौत्रामणीशब्दं निर्वृत्ति— “ते देवा इति । एव मश्विभ्यां  
सोमरसेन समर्द्धित मिन्द्रं प्रति ‘देवा अनुवन्’,— ‘एनम्’  
सोमातिपूतं ‘सुत्रातं’ सुष्ठु रक्षितवन्तौ अश्विनाविति । ‘वत’  
—इति हर्षे ; अतः सुत्राण्यसम्बन्धात् ‘सौत्रामणी’—नामेषिः ॥ १२ ॥

प्रसङ्गादन्यस्य सोमातिपूतस्यापीमा मैवेष्टिं दर्शयति— “स  
हैतयापीति । इयं राजसूयाद् बहिरपि प्रयोक्तव्येत्यर्थः ॥ १३ ॥

“तद्यदेतया राजसूयेत्यादेरय मर्थः— राजसूययाजिना सर्वे-  
ऽपि इष्टि-पशु-सोम-दर्विहोमा इष्टाः , अत एषापि इष्टित्वात्  
तेन कार्येति पूर्वं सुक्तम् ॥ १४ ॥

आश्विनसारस्वतैन्द्रपशुविधिं पृथक्-पृथगनूय प्रशंसति—  
“अथ यदाश्विनो भवतीति ॥ ( १५ ) ॥ “वाचेति । ‘वाचा’

( कुवलं ) वालखर्जूरफलम् , वदरं क्रसुकपरिमितं सूक्ष्मं वदरी-  
फलम् , कर्कशं हरीतकीपरिमितं स्थूलं वदरीफलम्—इति ते० ब्रा०  
१. ८. ५ भाष्ये सायणः ।

\* ‘सुतसोमः’—इति छ , ज ।

† “मकि मण्डने”—इति अ० आ० १५ धा० ।

‡ ‘सवलगतिः’—इति च , ‘सञ्चनगति’—इति ज ।

§ कण्ठादिः । ‘भिषज्यति’ ।

वायूपया याज्यापुरीनुवाक्या , जुहावमन्त्रवत्या सरस्वत्ये-  
त्यर्थः ॥ ( १६ ) ॥ “इन्द्रो वा इति । ‘यज्ञस्य’ सर्वस्य  
‘देवता’ ॥ ( १७ ) ॥

अथ परिस्रुतसन्धानं वक्ष्यते \* , तत्र सिंहवृकव्याघ्र-  
लोमसंसर्जनं सिद्धान्तयितुं विधित्सुः शाखान्तरीयं पक्षं सोप-  
पत्तिक मनुवदति — “एतेषु पशुष्विति । अत एव सूत्रकारी  
हेधा सूत्रयामास परिस्रुतं † प्रसृत्य — “संजति , सिंहव्याघ्र-  
लोमानि चावपति , पशुषु वा” — इति ‡ । ‘एतेषु’ उक्तेषु त्रिषु  
‘पशुषु’ सिंहादीनां त्रीणि लोमानि ‘इत्यावपति’ । ‘इति’ — शब्द  
एतच्छब्दार्थः ; † ‘इति’ एतानि संजजेत् । तस्मात् इन्द्रस्येन्द्रिय-  
हारेभ्योऽपसृतात् सोमादेते जयः सिंहाद्या उत्पन्नाः । तस्मात्  
तज्जोमावापेन इन्द्र मेव कृत्स्नं समृद्धं कृतवान् भवतीति ॥ १८ ॥

तं पक्षं निराकृत्य स्वमतं विधत्ते — “तदु तथेति । यदि  
पशुषु लोमावापं कुर्यात् , तर्हि ‘नखिन्या’ कण्टकवत्या ‘उल्कया’  
एव पशून् प्रेरितवान् भवति । तस्मात् ‘तथा न कुर्यात्’ ;  
किन्तु ‘परिस्रुत्येव’ संजजेत् । तत्रावापेन पशूना मुल्कया  
प्रेरणं कृतं न भवति । इन्द्रस्य कृत्स्नकरणं मन्त्रापि कृतं  
भवेत् ॥ १९ ॥

\* इहैवानुपदं विंशकण्डिकायाम् ( ३७४ ए० १ पं० ) ।

† अपयित्वाग्नेयं गार्हपत्यं भवतं खात्वा तस्मिन् सुरायाः कलकेन  
सुरां सन्दधाति , परिस्रुद् भवति । खादौ त्वा खादुनेति श्रव्ये;  
सुरां संजति , तिस्रो राज्ञीः संदृष्टा वसति” — इति आप० श्रौ०  
सू० १६. १. ७—१० ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ६. ३०, ३१ ।

अथ परिसृत्सन्धानं भामन्त्रकं विधत्ते— “अथ पूर्वेंदु-  
रिति । ‘सन्दधाति’ सम्पादयेदित्यर्थः । तत्प्रकारः कात्यायनेन  
स्पष्ट मीरितः— “व्रीहीन् विरूढाविरूढान् क्षीम उपनद्य  
क्रीणाति क्लीवात् सीमेन , पक्वीदनं विरूढांश्चूणीकृत्याश्विभ्यां  
पच्यस्वेति \* संसृजति”—इति † । हे परिसृत् ! ‘अश्विभ्यां’  
‘पच्यस्व’ पक्वा भव । एव मुत्तरत्रापि ॥ २० ॥

परिसृत्प्रचरणे कश्चिद् विशेष माह— “हावन्ती इति ।  
उत्तरवेद्या मेक मग्निम् , तद्दक्षिणभागे ‘उद्धते’ प्रदेशे एक मग्नि  
मुद्धरेत् । अग्निद्वयोद्वारे कारण माह— “नेदिति । एक-  
स्मिन्नेवाग्नी सोमसुराहुतयः सह होतु मयोग्याः , अतस्तत्सं-  
सर्गहोमनिवृत्त्यर्थं मग्निद्वयं कार्यं मित्यर्थः । तस्याः प्रचरणकाल  
माह— “यदा वपाभिरिति । पशुवपाभिर्यदा प्रचरेयुः , तदै-  
तयेत्यर्थः ॥ २१ ॥

विधत्ते— “तां दर्भैरिति । सा परिसृत् ‘पूता’ ‘असत्’  
‘इति’ ‘तां दर्भैः’ पावयेत् । मन्त्रस्थाय मर्थः— ‘पवित्रेण’ पूतः  
‘सोमः’ सोमात्मना निष्पादितः ‡ । तथा च तैत्तिरीयकम्—  
“स्वाही त्वा स्वादुनेत्याह सोम मेवैनां करोति”—इति § ।  
वायुः पात्राणि गच्छन् , वायुवच्छीघ्रगामी वा भूत्वा ‘प्रत्यङ्’  
अधोवर्त्तिपात्राभिसुखः सन् ‘अतिसुतः’ अतिक्रम्योद्धतः ‘इन्द्रस्य’  
‘धुज्यः’ योग्यः ‘सखा’ समानख्यानः ‘इति’ ॥

\* वा० सं० १०. ३१. १ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ६. २८, २९ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. १०. ११ ।

§ तै० ब्रा० १. ८. ५. ४ ।

विधत्ते—“तत्कुवलेति । तस्यां परिस्सुति कुवल-कर्कन्धु-  
वदर-सक्तुत्रयं निवपेदित्यर्थः । अत्र सूत्रम्— “वपामार्जनान्ते  
कुथेः परिस्सुतं पुनाति वायुः पूत इति , कुवल-कर्कन्धु-वदर-  
चूर्णानि चावपति” \* ॥ २२ ॥

ग्रहग्रहणं विधत्ते—“अथ ग्रहानिति । एको वा ग्रहः,  
तयो वा ग्रहीतव्याः । तत्रैकं सिद्धान्तयति— “एकस्त्वेवेति ।  
एकस्यैव ग्रहणं सुपपादयति— “एका हीति । पुरोरुक्-पुरोरु-  
वाक्यायाज्याना मेकत्वादेक एव ग्रहीतव्यः † ॥ २३ ॥

ग्रहणं मनूय मन्त्रं विधत्ते— “स गृह्णाति कुविदङ्गेति ‡ ।  
'अङ्ग'-शब्दः सम्बोधनवाची । हे सोम ! कुविच्छब्दो बह्वर्थ-  
वाची । चिच्छब्दः समुच्चये । यथा लोके 'यवमन्तः' यवादि-  
धान्योपेताः कृषिकाः 'कुविद्' यवबहुलं , यव, मन्यानि च  
गोधूमप्रियङ्गादिधान्यानि 'अनुपूर्वं' तत्परिपाकानुक्रमेण इदं  
पक्वमिदं मपक्वमिति 'वियूय' विशेषेण पृथक्कृत्य 'दान्ति'  
“दाप् लवने” § लुनन्ति , तथा 'एषां' यज्वनां 'भोजनानि'  
अन्नानि 'इह' च 'कृणुहि' कुरुत 'ये' यजमानाः 'बर्हिषः'  
यागस्य 'नम उक्तिं' नम इत्यन्ननाम ॥ , नमस्कारो वा ,  
तस्योक्तिं 'यजन्ति' कुर्वन्तीत्यर्थः । “उपयामगृह्येतः”—इत्यादि-  
मन्त्रशेषः स्पष्टः ॥

ग्रहतयग्रहणपक्षेऽपीम मेव मन्त्रं सुपयामेत्यत्र विशेषश्च

\* का० श्रौ० सू० १५. १०. ११, १२ ।

† का० श्रौ० सू० १५. १०. १३ ।

‡ वा० सं० १०. ३२. १ ।

§ अद्वा० प० ४६ धा० ।

॥ निघ० २. ७. २२ ।

दर्शयति—“यद्यु लीनिति । ‘नाना’ पृथक् पृथक् उपयामेन  
तिष्ठभ्यो देवताभ्यो गृह्णीयात् ॥

अनुवचनप्रैषे विशेषं दर्शयति — “अथाहेति ॥ २४ ॥

होता मनूय मश्विसरस्वतीन्द्रप्रतिपादकं मन्त्रं माह—  
“सोऽन्वाह युव मिति \* । हे अश्विनौ ! ‘युवं’ युवां ‘सुरामं’  
सुरमणीयम्, ‘आसुरे नमुचौ’ स्थितं सोमं ‘सचा’ सहभूतौ  
एकौभूय ‘विपिपाना’ विविधं पिबन्तौ हे ‘शुभस्पती’ शुभस्व  
पालकौ स्वामिनौ ! ‘कर्मसु’ निमित्तभूतेषु कर्मकरणार्थम्  
‘इन्द्रम्’ ‘भावतं’ रक्षतम् ‘इति’ ॥

‘यज’-इतिप्रैषे देवताशंसनं † विधत्ते—“आथाव्याहेति ‡ ।  
देवतात्रयप्रतिपादिकां याज्यां पठतीति ॥ २५ ॥

“स यजति पुत्र मिवेति § । ‘पितरौ पुत्र मिव’ यथा  
पालयतः, तथा उभौ अश्विनौ हे इन्द्र ! ‘त्वा’ त्वाम् ‘आवधुः’  
“अव रक्षणे” ॥, पुरुषव्यत्ययः, रक्षितवन्तौ । ‘काव्यैः’ कवि-  
कर्मभिः स्तोत्रैः, ‘दंसनाभिः’, ‘दंस’-इति कर्मनाम ¶, कर्म-  
भिश्च इन्द्रं पालितवन्तौ कथं मवगम्यते ? ‘यद्’ यस्मात् ‘सुरामं’  
सुरमणीयं सोमं ‘व्यपिबः’ विशेषेण पीतवानसि । ‘शचीभिः’  
कर्मभिः हे ‘मघवन्’ इन्द्र ! त्वां सोमातिपूतं ‘सरस्वती’ ‘अभि-  
ष्यक्’ भेषजसन्धानं कृतवती । ‘भिषक्’-इति कण्ठादिषु पठ्यते ॥

\* वा० सं० १०. ३३. १ ।

† ‘देवतासमसनं’-इति ङ, च, छ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. १०. १४, १५ ।

§ वा० सं० १०. ३४. १ ।

॥ भा० प० ६०० धा० ।

¶ निघ० २. १. ३ ।

विधेयं विधत्ते— “हिहीतेति । होवा द्विवारं वषट्कारः  
 तर्त्तव्यः । ‘हिरध्वर्युः’ अध्वर्युणापि द्विवारं हवनं कार्यम् \* ।  
 माहरति भक्षम्’ हवनानन्तरं भक्षार्थं माहरेयुः † । अह-  
 त्रयपक्षे हवने कश्चिद् विशेष माह— “यद्यु त्रीनिति । एतस्य  
 गोम मनु इतरौ द्वौ परिसुबोमौ होतव्यौ । एषः परिसुबोमो  
 दक्षिणेऽन्नाविति प्रागुक्तः ‡ ॥ २६ ॥

कात्यायनः— “परिसुच्छेष मासिष्य रुक्मवच्छिद्रं कुम्भं  
 शिख्ये कृत्वोपरि दक्षिणस्य धारयन् स्रवन्तं सुपतिष्ठते दृष्ट्वैः  
 सोमवतां बर्हिषदा मग्निष्वात्तानाम्”—इति § । हुतायाः सुरायाः  
 शेषं रुक्मवति, शतच्छिद्रे नवच्छिद्रे वा कुम्भे आसिष्य,  
 तं कुम्भं दक्षिणस्याहवनीयस्योपरि शिख्ये कृत्वा स्रवन्तं सोम-  
 वदादिपितृणां त्रिभिसृचैरुपतिष्ठेतेति तदर्थः । तदिकं विधत्ते—  
 “अथ कुम्भ इति । रुक्मब्राह्मणे व्याख्यातम् ॥ २७ ॥

“तं शिख्योदुत मिति । आहवनीयस्योपरि उद्वते प्रदेशे  
 परिसुप्तचारार्थं दक्षिणतः स्थापितस्याग्नेरुपरीत्यर्थः । तथा  
 सूत्रं मुदाहृतम् ¶ । ‘विचरन्ती’ कुम्भात् स्रवन्तीम् परिसुप्तम्  
 ‘उपतिष्ठते’ ॥

उपस्थाने मन्त्रान् दर्शयति— “पितृणा मिति । ‘सोम-

\* का० औ० सू० १५. १०. १६ ।

† का० औ० सू० १५. १०. १८ क ।

‡ २१ कण्ठी द्रष्टव्या । का० औ० सू० १५. १०. १७ ।

§ का० औ० सू० १५. १०. १८ ।

॥ ३५० ३ ब्रा० १३ कण्ठी-भाष्यं ३६७ ए० १७ पं० द्रष्टव्यम् ।

¶ का० औ० सू० १५. १०. १८ द्रष्टव्यम् ।



वतां सोमदेवतायुतानां 'पितॄणां' याज्यापुरोनुवाक्यारूपाः "उदी-  
रता मवर उत्परासः"—इत्याद्यास्तिस्त्र ऋचः \*, 'बर्हिषदां' बर्हिषि  
सीदताम् एतद्गुणकानां 'पितॄणां' "बर्हिषदः पितर जत्यर्वाग्"  
—इत्याद्यास्तिस्त्र ऋचः †, 'अग्निष्वात्तानां पितॄणां' "आयन्तु  
नः पितरः सोम्यासः"—इत्याद्यास्तिस्त्र ऋचः ‡ इति नवर्चः  
संहितायां क्रमेणान्त्राताः § ; ताभिरुपस्थानं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥

पितॄणामन्यैरुपस्थानं प्रशंसति— "यत्र वै सोम इति । पूर्वं  
मिन्द्रेण पीतः सोमः, अतिपूतः सन् पितॄनेव प्राप्नोत्, अतस्त-  
अन्त्रोपस्थानेनेन्द्र मेव सम्पूर्णं कृतवान् भवतीति ॥ २८ ॥

अथ पशुपुरोडाशार्थं सावित्रवारुणैन्द्राण्यं हविस्त्रयं विधत्ते  
— "अथैतानि हवींषीति ॥ २९ ॥

पुरोडाशदेवताः प्रशंसति— "अथ यत् सावित्र इति ।  
कात्यायनः— "सोमातिपूतस्याप्येषा, अनुयाजान्ते पशुपुरो-  
डाशार्थेश्वरत्याश्विनेन प्रागवदानेभ्यः, हविर्भिर्वाश्विनाभावस्तु"—  
इति ॥ । अयं मर्थः— एषा सौत्रामणी सोमातिपूतस्यापि भैष-  
ज्यार्थं कर्त्तव्येति राजसूयाद् बहिःप्रयोगः । तत्र पशुपुरोडाशार्थं  
विहितान्येतानि सावित्रादिहवींषि अनुयाजान्ते यष्टव्यानि,  
तदा छिद्रपिधानार्थं पशुवपाचरणानन्तरं मवदानात् पुरा आश्वि-  
नेन पुरोडाशेन यागः कर्त्तव्य इत्येकः शाखान्तरीयः पक्षः ।  
पशुवपाप्रचरणानन्तरं मेवैतैः सावित्रादिभिर्हविर्भिः यागः कर-

\*, †, ‡ वा० सं० १८. ३६—५१, ५५—५७, ५८—६० ।

§ भ्रमभाषणं मिदं सायणाचार्यस्य ; आसु नवर्चं साहितिक-  
प्रथम-तृतीय-चतुर्थ्यां तृचां दर्शनात् ।

॥ का० श्रौ० सू० १५. १०, २१, २२, २३ ।

णीयः, तदा यज्ञपतिश्चिद्रूपिधानार्थं मेतेषा मिष्टत्वादाश्विन-  
हविर्निर्वापो न कर्त्तव्य इत्यपरः पक्षः ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

तत्र पूर्वपक्ष माह — “स यदि हैतयापि सोमातिपूत मिति ।  
‘यदि’ ‘एतया’ सौत्रामण्या ‘सोमातिपूत’ ‘भिषज्येत्’ समा-  
दध्यात्, तर्हि अनुयाजयागान्ते सुग्व्यूहनात् पुरस्तात् ‘एतैः’  
सावित्रादिभिः ‘हविर्भिः’ प्रचरणं कर्त्तव्यम् । “पश्चाद्वा इति ।  
‘सोमः’ पश्चाद्वागे अतिपूतः, अत एतस्मिन् काले यज्ञस्य  
पश्चाद्वागे एतद्विःप्रचरणेन तं सोमातिपूतं पुरुष मपिहित-  
वान् भवतीति ॥

तत्पक्षे हविरन्तरं विधत्ते — “आश्विन मु तर्हीति ॥

तस्य प्रचारकाल माह — “अथ यदेति ॥ ३३ ॥

तं पक्षं निराकृत्य स्वमतं दर्शयति — “तदु तथेति ।  
स्यष्टोऽर्थः ॥ ३४ ॥

तस्य दक्षिणां विधत्ते — “तस्य नपुंसक इति \* । नपुंसकस्य  
स्त्रीपुंसेतरत्वप्रतिपादकं वाक्यं स्यात् । विकल्पेन दक्षिणान्तरं  
विधत्ते — “अश्वा वेति † । रथं वहतीति ‘रथवाही’ । “कर्म-  
ण्यण्” ‡ । ‘सा’ वडवा वा दक्षिणेत्यर्थः । तस्या अपि नपुंसकत्व  
मुपपादयति — “यदह रथं वहतीति । रथवहनात् स्त्रीत्वा-  
भावः, स्त्रीव्यञ्जनसद्भावात् पुंस्त्वाभावः ; सौत्रामण्यापि न इष्टिः § ,

\* , † “नपुंसको दक्षिणा, रथवाही वा वडवा” — इति का०  
श्रौ० सू० १५. १०. २०, २१ । ‡ पा० सू० ३. २. १ ।

§ सौत्रामणीष्टिकरणान्तु ते० सं १. ८. २१; ते० ब्रा० १. ८.  
५—६; आ० ५० श्रौ० सू० १६. १. १—२०; “योऽग्निं चिनुतेऽग्निं चित्वा  
सौत्रामण्या यजेत” — इत्यादि च ते० सं ५. ६. ३. १०; “न सोमो

न पशुवन् इत्यभिप्रायः । “तस्मात् अस्मा रथवाही दक्षि-  
 खेति , निगमनवाक्यम् \* ॥ ३५ ॥ ६ [ ५. ४. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनगतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे पञ्चमाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

( अथ पञ्चमं ब्राह्मणम् . )

ऐन्द्रावैष्णवं द्वादशकपालं पुरोडाशं निर्व्वपति ।  
 तद्यदेतया युजते व्वृचे ह वा ऽद्भुद मये सर्व्व मास  
 यद्वृचो यद्यजूषि यत् सामानि तस्मा ऽद्भुदो  
 व्वज्रं प्राजिहीर्षत् ॥ १ ॥

स ह व्विष्णु मुवाच । व्वृत्राय वै व्वज्रं 'प्रहरि-  
 ष्याम्यनु सा तिष्ठस्वेति तथेति ह व्विष्णुरुवा-  
 चानु त्वा स्याद्ये प्रहरेति तस्मा ऽद्भुदो  
 व्वज्रं मुद्ययाम स उद्यताद् व्वज्राद् व्वृचो विभया-  
 स्तकार ॥ २ ॥

न सुरा यत् सौत्रामणी—इति च तत्रैव १. ६. ५. ४ । “यतावद्रूपं  
 यज्ञस्य यद् देवैर्व्वक्षणा कृतम् । तदेतत् सर्व माप्नोति यज्ञे सौत्रामणी  
 सुते”—इति सौत्रामणी-प्रश्नं सा च वा० सं० १६अ० ३१क० श्रुतेति श्रम् ॥

सु होवाच । अस्ति वा ऽइदं व्वीर्यं तन्न ते  
प्रयच्छानि मा नु \* मे प्रहार्षीरिति तस्मै यजूंषि  
प्रायच्छत्तुस्मै द्वितीय मुद्ययाम ॥ ३ ॥

सु होवाच † । अस्ति वा ऽइदं व्वीर्यं तन्न  
ते प्रयच्छानि मा नु मे प्रहार्षीरिति तस्मा ऽऋचः  
प्रायच्छत्तुस्मै तृतीय मुद्ययाम ॥ ४ ॥

सु होवाच ‡ । अस्ति वा ऽइदं व्वीर्यं तन्न ते प्रय-  
च्छानि मा नु मे प्रहार्षीरिति तस्मै सामानि प्राय-  
च्छत्तस्मादप्येतुर्ह्येव मेवैतैर्व्वैदैर्यज्ञं तन्वते यजुर्भि-  
रेवाग्रे ऽथऽग्निर्मरुथ सामभिरेव७ ह्यस्मा ऽएतत्  
प्रायच्छत् ॥ ५ ॥

तुह्य यो योनिराशय † आस । त मनुपरा  
मृश्य संलुप्याच्छिनत् § सैषेष्टिरभवत्तद्यदेतस्मिन्ना-  
शये त्रिधातुरिवैषा व्विद्याशेत तस्मात् चैधातवी  
नाम ॥ ॥ ६ ॥

\* 'मा नु'—इति ग, घ । 'मा नु'—इति च दृष्टं डा०-वेवरण ।

† नास्म्येतत्पदत्रयं ग-घ-पुस्तकयोः ।

‡ 'योनिराशय'—इति च दृष्टं डा०-वेवरण ।

§ 'संलुप्याच्छिनत्'—इति डा०-वेवरः ।

॥ 'नाम'—इति क, 'नाम'—इति ग ।

अथ यदैन्द्रावैष्णवौ हविर्भवति । इन्द्रो हि  
व्वज्रं मुदयच्छद्विष्णुरन्वतिष्ठत् ॥ ७ ॥

अथ यद् द्वादशकपालो भवति । द्वादश वै  
मासाः संवत्सरस्य संवत्सरसंमितैषेष्टिस्तस्माद् द्वादश-  
कपालो भवति ॥ ८ ॥

तु सुभयेषां व्रीहियवाणां गृह्णाति । व्रीहि-  
मयं मेवाग्रे पिण्डं मधिश्रयति तद्यजुषां रूपं  
मथ यवमयं तुह्यवां रूपं मथ व्रीहिमयं तत्  
साम्नां रूपं तदेतत् त्रय्यै विद्यायै रूपं क्रियते सैषा  
राजसूययाजिन उदवसानौयेष्टिर्भवति ॥ ९ ॥

सर्वान् वा ऽएष यज्ञक्रतूनवरुन्धे । सर्वान्  
ब्रूहीरपि दर्व्विहोमान्यो राजसूयेन यजते तस्य  
यातयामेव यज्ञो भवति सो ऽस्मात् पराङ्गिव  
भवत्येतावान् वै सर्वान् यज्ञो यावानेष त्रयो व्वेद-  
स्तस्यै \* तद्रूपं क्रियत ऽएष योनिराश्रयस्तुदेतेन त्रयेण  
व्वेदेन पुनर्यज्ञमारभते तथायातयामा यज्ञो  
भवति तथो ऽस्मान्न पराङ् भवति ॥ १० ॥

सुव्वान्वा ऽएषु यज्ञक्रतून्वरुन्धे । सुव्वान्-  
 इष्टीरुपि दव्विहोमान्यो राजसूयेन युजते देव-  
 सृष्टो वा ऽएषेष्टिर्यत् चैधातव्यनया मे ऽपीष्ट मस-  
 दनयापि सूया \* ऽइति तस्माद्वा ऽएषा राजसूय-  
 याजिन उदवसानीयेष्टिर्भवति † ॥ ११ ॥

अथो यः सहस्रं वा भूयो वा दद्यात् ‡ ।  
 तस्य हाप्युदवसानीया स्याद्रिरिचान् इव वा ऽएषु  
 भवति यः सहस्रं वा भूयो वा ददात्येतद्वै  
 सहस्रं वाचः प्रजातं यदेष त्रयो वेदस्तत् सह-  
 स्रेण रिरिचानं पुनराप्याययति तस्माद् इ तस्या-  
 प्युदवसानीया स्यात् ॥ १२ ॥

अथो ये दीर्घसत्त मासीरन् । संवत्सरं वा  
 भूयो वा तेषां हाप्युदवसानीया स्यात् सुव्वं  
 वै तेषा माप्तं भवति सुव्व जितं ये दीर्घसत्त  
 मासते संवत्सरं वा भूयो वा सुव्वं मेषा तस्माद्  
 इ तेषा माप्युदवसानीया स्यात् ॥ १३ ॥

\* 'सूया'—इति च ङङ् डा०-वेवरेण ।

† '०र्भवति'—इति क ।

‡ 'दद्यात्'—इति ग ।

अथो हैनयाप्यभिचरेत् । एतया वै भद्रसेन  
माजातशत्रव मारुणिरभिचचार क्षिप्रं किला-  
स्तृणुतेति ह स्माह याज्ञवल्क्योऽपि ह वा  
ऽएनयेन्द्रो वृत्रस्यास्थान मच्छिनदपि ह वा ऽएनया-  
स्थानं छिनत्ति य एनयाभिचरति तस्मादु हैन-  
याप्यभिचरेत् ॥ १४ ॥

अथो हैनयापि भिषज्येत् । यं न्वेवैक्यऽर्चा  
भिषज्येदैकेन यजुषैकेन साम्ना तं न्वेवागदं  
कुर्यात् किमु यं त्रयेण वेदेन तस्मादु हैनयापि  
भिषज्येत् ॥ १५ ॥

तस्यै व्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षि-  
णा । तानि ब्रह्मणे ददाति न वै ब्रह्मा प्रचरति  
न स्तुतेन शंसत्यथ स यशो न वै हिरण्येन  
किञ्चन कुर्वन्त्यथ तद्यशस्तस्माच्चीणि शतमानानि  
ब्रह्मणे ददाति ॥ १६ ॥

तिस्रो धेनूर्हीचे । भूमा वै तिस्रो धेनुवो  
भूमा होता तस्मात्तिस्रो धेनूर्हीचे ॥ १७ ॥

त्रीणि व्यासाऽस्यध्वर्यवे । तनुते वा ऽअध्वर्यु-

यज्ञं तन्वते व्यासांसि तस्माच्चीणि व्यासा-  
न्ध्वर्यवे गा मग्नीधे ॥ १८ ॥

ता वा ऽएताः \* । द्वादश वा त्रयोदश वा  
दक्षिणा भवन्ति द्वादश वा वै त्रयोदश वा  
संवत्सरस्य मासाः संवत्सरसंमितैषेष्टिस्तुच्चाद् द्वादश  
वा त्रयोदश वा दक्षिणा भवन्ति ॥ १९ ॥ ७ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके सप्तमं ब्राह्मणम् [५. ५.] ॥

राजसूयान्ते कर्षाव्यायास्त्रैधातव्युदवसानीयायाः † देवतासम्बद्धं  
इतिविधत्ते— “ऐन्द्रावैष्णव मिति ‡ । द्वादशसु कपालेषु  
संस्कृत मिन्द्राविष्णुदेवताकं पुरोडाशं निर्वपेत् § ॥

एतदिष्टिविधायककारणानुवादपूर्वकं देवतासम्बन्धस्तावक

\* ‘ऽएताः’,—इति ग, घ ।

† “राजसूययाजिनः कर्मापवर्गे वा सौत्रामणी”—इति का०  
श्रौ० सू० १५. १०. २६ । ‘सौत्रामणीं त्रैधातवीन् प्रत्य श्रूयते “सैषा  
राजसूययाजिन उदवसानीयेष्टिर्भवतीति ( ५. ५. ५. ६.—पृ० ३८२ )’  
—इतीह कर्काचार्याः ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ७. ३० ।

§ “द्वादशकपालः पुरोडाशो भवति, ते त्रयश्चतुष्कपालाः”—  
इत्यादि तै० सं० २. ४. ११. ११ ।



मितिहास मवतारयति— “तद्यदेतयेत्यादिना \* । यत्कारणा-  
 देतयेष्ट्या यजते, तत्कारणं मुच्यते इति वाक्यशेषः । “वृत्रे  
 ह वा इति । पुरा किल वृत्रासुरे इदं सर्वं मभूत् । तदेव  
 विशदयति— “यद्वच इति । ऋग्यजुस्सामवेदाधिष्ठात्रो देवताः  
 वृत्रे विग्रहवत्य एव बभूवुरित्यर्थः । ‘तंस्मै’ वृत्राय ‘इन्द्रः’  
 वज्रं प्रहर्तुं मैच्छत् । (१) । प्रजिहीर्षुः ‘सः’ इन्द्रः ‘विष्णु’  
 प्रत्यवोचत् । किं सुवाचेत्याह— “वृत्राय वा इति । ‘वृत्राय’  
 वृत्रहननार्थं मित्यर्थः । वज्रप्रहारं करिष्याम्यहम्, तत्र ‘मा’  
 मां त्वम् ‘अनुतिष्ठस्व’ मत्समीपे आत्मानं प्रदर्शयेत्यर्थः ।  
 “अनुलक्षणे” कर्मप्रवचनीयः †, तद्युक्ते द्वितीया ‡; तिष्ठतिः  
 “प्रकाशनस्येयाख्ययोश्च”—इत्यात्मनेपदम् § । ‘तथा इति’, अङ्गी-  
 कृत्याम्रवीद् ‘विष्णुः’ । किं मित्यत आह— “अनु त्वेति ।  
 ‘त्वा’ त्वाम् अहम् ‘अनु स्थास्ये’ त्वत्समीपे आत्मानं प्रदर्शयि-  
 ष्यामीत्यर्थः । त्वं ‘प्रहर’ निर्भयः प्रहारं कुर्वित्यभिप्रायः ।  
 तथा सति इन्द्रस्य वीर्यं वर्धते, वृत्रस्यापचीयते ‘इति’ । ‘तस्मै’  
 वृत्राय ‘वज्रम्’ ‘उद्ययाम’ उत्क्षिप्तवान् ‘इन्द्रः’ । तस्माद्  
 ‘उद्यताद् वज्राद्’ ‘वृत्रः’ असुरः ‘विभयाश्चकार’ । “भीत्रा-  
 र्थानां भयहेतुः”—इत्यपादाने पञ्चमी ॥ । विभयाश्चकारेति  
 “भीङ्गीत्यादिना आम् ॥ १, २ ॥

\* इतिहासोऽयं तै० सं० २. ४. १२॥अनुवाक्तेऽपि श्रुतः ।

† पा० सू० १. ४. ८४ ।

‡ पा० सू० २. ३. ८ ।

§ पा० सू० १. ३. २३ ।

॥ पा० सू० १. ४. २५ ।

॥ “भीङ्गीभृहर्वां श्रुवच्च”—इति पा० सू० ३. १. ३६ ।

“स होवाचेति । ‘सः’ उद्यतवच्चाद् भीतो ह्रस्वोऽवोचत् । किं मित्यत आह — “अस्ति वा इति । ‘इदं वीर्यम्’ ऋगादि-लक्षणम् ‘अस्ति’ खलु । वीरयति नानाप्रकारकार्यारम्भाय ईरयति तद् वीर्यम् ; विन्नियतेऽनेनेति वा वीर्यम् । ‘तत् तु’ तदेव वीर्यम् ‘ते’ इन्द्राय ‘प्रयच्छानि’ अहं ह्रस्वो ददानीत्यर्थः । तेन च ‘मे’ ह्रस्वाय त्वं ‘मा प्रहार्षीः’ प्रहारं मा कार्षीः ‘इति’ संवदन् ह्रस्वः ‘तस्मै’ इन्द्राय ‘यजुंषि’ यजुर्वेदं प्रादात् ।

इत्थ मेकेन वञ्चोद्यमनेन यजुर्विद्या मादाय, ऋक्साम-विद्ये अपि आदित्सोरिन्द्रस्यापरं द्विवञ्चोद्यमन माह — “तस्मै द्वितीय मिति । त मेव वच्च पुनरप्युद्यतवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

“स होवाचेत्यादि, व्याख्यातचरम् । ‘ऋचः’ ऋग्वेद मित्यर्थः । “तस्मै द्वितीय मित्यादि, स्पष्टम् ॥ ४ ॥

“स होवाचेति । एवं वेदप्रदानानुकरणेन यागविधानं सिद्ध मिति दर्शयति — “तस्मादिति । एवं कथं मित्यत आह — “यजुर्भिरेवाग्रे इति ॥ ५ ॥

इष्टेर्नामनिर्वचनं प्रतिपादयति — “तस्य य इति । तस्य यजुर्वेदादेर्वीर्यस्य ‘यः’ ‘योनिः’ स्थानम्, ‘आशयः’ हृदय-प्रदेशरूपं बभूव । आशेतेऽस्मिन्नित्याशयः । ‘तं’ योनि माश-यम् ‘अनुपरामृश्य’ हृदयप्रदेशे किं धारक मङ्ग मिति विचार्य, ‘संलुप्य’ हस्तेनावेष्ट्य ‘अच्छिनत्’ छिन्नवान् ; इन्द्र इति शेषः । ‘सा एषा इष्टिः’ त्रैधातवी जाता \* । तस्याधिदैविकस्य भावस्य इदं माधियज्ञिकं रूपं प्रवृत्त मित्यर्थः । “तद्यदेतस्मिन्निति ।

\* ‘त्रिधा दक्षिणा भवति त्रैधातवी’—इति कर्कः ।

यस्मात् 'एतस्मिन्नाशये' हृदयप्रदेशे 'त्रिधातुः' चावयवः 'इव'  
'एषा' त्रयी विद्या 'आशेत' अवस्थिता, 'तस्मात्' स आशय-  
स्त्रिधातुः; त्रिधातोरिय मिति विद्यात्रयात्मिका इष्टिः 'त्रैधा-  
तवी नाम' \* ॥ ६ ॥

“अथ यदिति । उभयोरिन्द्राविष्णोर्व्याघृतत्वात् उभयदेवत्या  
सा भवेदित्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

“अथ यद् दादशकपाल इति । एषा त्रैधातवीष्टिः संव-  
त्सरव्यापिनी ॥ ८ ॥

त्रयीविद्यारूपतां सम्पादयितुं हविषो व्रीहियवमयत्वं विधत्ते  
— “त सुभयेषा मिति । ‘तं’ व्रीह्यादिपिण्डम् ‘उभयेषाम्’  
‘इति’ भुवन् । अन्यत्र विकल्पं दर्शयति — अत एव कात्या-  
यनः— “व्रीह्यीन् यवान् वा हविषाम्”—इति † । व्रीह्यिमय  
मेवाग्रे इति व्यवस्थावचनाद् ग्रहणवदेवासङ्कीर्णानां भवहननं  
पेषणञ्चेति द्रष्टव्यम् । अत एव सूत्रम्— “तृतीयं यवानां मध्ये”—  
इति ‡ । मध्ये तृतीयं भागं यवानां गृह्णीयात्, भागद्वयं तु

\* “यत् त्रिः प्रायच्छत्, त्रिः प्रत्यगृह्णात्, तत् त्रिधातोस्त्रिधातु-  
त्वम्”—इति तै० ब्रा० २. ४. १२. १२ ।

† का० श्रौ० सू० १५. ७. ३० । अख्येन सुद्वितपुस्तकेऽपपाठः ।

‡ ‘अस्मिन् पुरोडाशे तृतीयं भागं यवानां मध्ये गृह्णीयात् ।  
तत्रैवं कर्तव्यम्,—प्रथमे सुष्टौ व्रीह्य एव ग्राह्याः; द्वितीये सुष्टौ  
प्रथम एको भागो व्रीह्यीणाम्, ततो भागद्वयं यवानाम्, एवं द्वितीयो  
सुष्टिः; तृतीये सुष्टौ प्रथमं भागद्वयं यवानाम्, तत एको भागो  
व्रीह्यीणाम्, एवं तृतीयो सुष्टिः; चतुर्थे व्रीह्य एव’—इति तद्दृष्टिः ।

व्रीहीणा मेव । न केवलं यवानां तृतीयभागस्य मध्ये ग्रहणं किन्तु  
अधिश्रयण मपि तथैवेत्याह — “व्रीहिमय मेवाय इति \* ॥

इत्थं त्रैधातव्यास्त्रयीरूपत्वं प्रतिपाद्य राजसूययज्वनो विधि-  
यता माह— “सैषा राजसूययाजिन इति । उत्तरेषु विनियोगेषु  
× × राजसूयेनोदयनीयाया अग्रहण माशङ्क्य राजसूयान्तर्भाव  
मापादयति आश्रयणादिवत् । ततश्च सैषा राजसूययाजिन उद-  
वसानीयेष्टिर्भवतीत्येतावदेवात्र विधीयते — “उदवसानीयेति † ।  
एतत्तु क्रमादेव प्राप्त मनूयते । उत्तमं कर्मावस्यति विमुञ्चत्य-  
नयेति ‘उदवसानीया’ यौगिकोऽयं शब्दः ॥ ८ ॥

यज्ञस्यायातयामत्वसम्पादनाय त्रैधातवीष्टिः कर्त्तव्येत्याह —  
“सर्वान् वा इत्यादिना । इष्टिपशुसोमदर्विहोमात्मकत्वाद् राज-  
सूयस्य तदनुष्ठानेन यज्ञकृत्वित्यादयः सर्वेऽनुष्ठिता भवन्तीति ।  
‘तस्य’ यजमानस्य अपेक्षितकर्मणः कृतत्वादवशिष्टः ‘यज्ञो’  
‘यातायामा’ गतसारः ‘इव’ ‘भवति’ । ‘सः’ ‘यज्ञः’ ‘अस्माद्’  
यजमानात् कृतावशिष्टत्वेन ‘पराङ्’ पराचीनः ‘इव’ ‘भवति’ ।  
यातयामत्वपरिहार मुपपादयति— “एतावानिति । ‘एष त्रयः’  
ऋग्यजुस्सामात्मक-त्रयवयवो ‘वेदः’ यत्परिमाणः सर्वो यज्ञः  
एतत्परिमाणः खलु । ‘तस्य’ त्रयवयवस्य वेदस्य ‘एतत्’ स्वरूपं  
‘क्रियते’, ‘य एष आश्रयो योनिः’; ‘तत्’ तेन ‘एतेन’  
त्रयवयवेन ‘वेदेन’ ‘पुनः’ ‘यज्ञम्’ आरब्धवान् भवति, तथा  
सति ‘अस्य’ ‘यज्ञः’ अगतसारः स्यात्, यजमानाच्च न परा-  
चीनः स्यात् ॥ १० ॥

\* का० श्रौ० सू० १५. ७. ३२ ।

† “त्रैधातव्युदवसानीया”—इति का० श्रौ० सू० १५. ७. २६ । †

“सर्वान् वा इत्यादि । व्याख्यातचरम् । त्रैधातवी ‘इति रपि’ देवसृष्टत्वेन प्रशस्तत्वादत्रावरोहव्या, अतः ‘अनया’ त्रैधातव्यापि मम ‘इष्ट मसत्’ यागः कृतो भवतु । ‘अनयापि इष्ट्या ‘सूये’ अभिषिक्तो भूयासम् ‘इति’ अभिप्रायेण त्रैधातव कार्येत्यर्थः । “तस्माद्वा एषेति, निगमनम् ॥ ११ ॥

एतस्या विनियोगान्तर मप्याह— “अथो य इति । ‘सहस्रं बहुतरं ‘वा’ दक्षिणां ‘दद्यात्’ । तस्यापि तस्मिन्नपि कर्मणि एषाङ्भूता भवेत् । सा च भवन्ती आगन्तुकत्वादन्ते एव भवतीत्युदवसानीयेति व्यपदिश्यते । ‘रिरिचानः’ अतिरिक्तः । ‘एतत्’ खलु ‘सहस्रं’ बहु ‘वाचः’ वागायतनात् सुखादुत्पन्नं योऽयं आवयवी वेदः ‘तत्’ तेन ब्रीह्यादिपिण्डात्मकेनाधियाज्ञिकेन त्रयेण वेदेन ‘पुनराप्याययति’ आपूरयति । “तस्मादिति, निगमनम् ॥ १२ ॥

“अथो ये दीर्घसत्र मित्यादि । प्रसन्नम् । “संवत्सरं वा भूयो वेति, दीर्घसत्रेण सम्बध्यते । “सर्वं मेषेति । वेदत्रयस्य पौरोडाशिकधातुत्रयीत्वेनेह कल्पनादित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

“अथो हैनयेति । अजातशत्रोरपत्यम् ‘आजातशत्रवः’ तम्, भद्रसेननामानं राजन्यम्, अरुणस्यापत्यम् ‘आरुणिः’ ऋषि-रुहालकः ‘अभिचचार’ अभिचरितवान् । “क्षिप्रं किलेति । ‘क्षिप्रं किल’ शीघ्रं मेव ‘अस्तृणुत’ अभिचारेण तं हिसितवानिवेत्यर्थः । एतस्मिन्नर्थे श्रुतिर्याज्ञवल्क्यं प्रमाणयति— “इति ह स्माहेति । ‘इन्द्रः अपि’ ‘एनया’ इष्ट्या ‘इवस्य’ स्थानं त्रयीविद्याशयम् ‘अच्छिनत्’ । ‘तस्मात्’ परस्य स्थाननाशार्थम् ‘एतया’ अभिचारः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ १४ ॥

“अथो हैनयापि भिषज्येदिति \* । अनया इष्ट्या कथं परकृताभिचारपरिहार इत्याशङ्क्य तं कौमुतिकन्यायेन समर्थयते — “यश्चैवैकयज्ञेति । एकैकेन यद्गुणादिमन्त्रेण नाम भेषज्यं क्रियते, तेन परकृतबाधा परिह्रियते, ‘किमु’ किमुत वेदत्रय-रूपयानया त्रैधातव्या अभिचारपरिहार इति † ॥ १५ ॥

कात्यायनेन राजसूयान्तःपातिनी मिष्टिं प्रसृत्य यद् दक्षिणा-दानं मुक्तम्— “तिस्रस्तिस्त्रो दक्षिणा ददाति शतमानानि ब्रह्मणे धेनूँहीति वासांस्यध्वयवे गा मग्नीधे”—इति ‡ । तदिदं मिदानीं विधत्ते— “तस्यै त्रीणीति । शतमानलक्षणं मुक्तं पुरस्तात् § । “न वै ब्रह्मेति । अस्यायं मर्थः— ‘ब्रह्मा हि न प्रचरति’ हवनादिकं मध्यर्ग्यवर्गवत् न करोति, ‘न सुते’ उद्गाता इव न स्तोत्रं प्रयुज्जे, ‘न ग्रंसति’ होटवच्छस्त्रं न पठति । तस्मात् ‘सः’ ब्रह्मा यशोरूपः । ‘हिरण्येन’ अपि ‘किञ्चन’ किञ्चित् ‘न कुर्वन्ति’; हिरण्यं साधनं कृत्वा यदन्नादिकं उपभुञ्जते, न तु हिरण्यं मेव भुञ्जन्ति । अतो व्यवहारादिषु सुवर्णे दत्तेऽपि तस्य स्वरूपहानिर्नास्ति, अतस्तदपि यशोरूपम् । तस्मात् हिरण्यस्य तत्सम्प्रदानकत्वं युक्तमित्यर्थः ॥ १६ ॥

“तिस्त्रो धेनूरिति । पयस्विनीः सवत्सा गाः होत्रे दद्यात् । उभयोः परस्परं योग्यता माह— “भूमा वै तिस्र इति ।

\* “भेषज्याभिचारयोरप्येवा”—इति का० श्रौ० सू० १५. ७. ३४ ।

† “एतयैव यजेताभिचयमाहः ; सर्वो वा एष यज्ञो यत् त्रैधातवीयः सर्वेणैव यज्जेन यजते नेन मभिचरन्कृणुते”—तै० सं० २. ४. ११. ७ ।

‡ का० श्रौ० सू० १५. ७. ३३ ।

§ ४. ३. २४.—ए० ३०१ ।

तिसृणां सवस्त्रानां भूयस्त्वम्, होतुरपि नानामन्त्रपठनात् ;  
अतस्तासां होतृसम्प्रदानकत्वं युक्तम् ॥ १७ ॥

“त्रीणि वासांस्यध्वर्यव इति । दद्यादिति शेषः । वस्त्राणां  
सर्वशरीराच्छादकत्वात् वासस्त्वम् ; अध्वर्योरपि यज्ञशरीरस्य  
विस्तारकत्वं मस्ति ; “यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः”—इति-  
मन्त्रवर्णात् \* । तत्र “त्व एकोऽध्वर्युः”—इति यास्कचचनम् † ।  
यज्ञस्य मात्रां शरीर मित्यर्थः । गोर्दानं विधत्ते— “गा  
मग्नीध इति ‡ ॥ १८ ॥

एता दक्षिणाः सभूय संवत्सरात्मना प्रशंसति— “ता  
वा एता द्वादशेति । त्रीणि शतमानानि, तिस्रो धेनवः,  
त्रीणि वासांसि, इति नव श्रुत्युक्तानि ; वत्ससहितानां पयस्वि-  
नीनां दानस्य सिद्धत्वात् तासां वत्सा अपि त्रय इति द्वादश ।  
आग्नीध्रस्य ब्रह्मणा सह परिगणनाभावात् तद्दक्षिणां विज्ञाय  
द्वादश दक्षिणा इत्युक्तम् । “गा मग्नीधे”—इति पृथक् दक्षिणा-  
विधानात् तेन सह परिगणनपक्षे अयोदश भवन्ति ; संवत्सर-

\* ऋ० सं० १० ७१. ११ चतुर्थ-पादः ।

† निरु० १. ३. ३ द्रष्टव्यम् ।

‡ “त्रैधातयानुपूर्वयोगात्”—इति का० श्रौ० सू० १५. १०. २५ ।  
अत्राहुरेवं कर्कोपाध्यायः— “त्रैधातयेवान्ते भवति ; आनुपूर्व-  
योगात् । त्रैधातयेवान्ते पठ्यत इति न चानयोर्विकल्पः ; आन्तान-  
सामर्थ्यात् । तेन सौत्रामण्या उद्वसानीयत्वं मुच्यते ; उद्वसानीया-  
सन्निधौ पाठात् उद्वसानीयेवोद्वसानीयेति उपचारवृत्त्या । तथा च  
पाठः— ‘अनया मेऽपीष्ट मसदनयापि सूया’—इति । इह हि  
ब्राह्मणेऽस्य सवकाशस्योपान्त्यं ब्राह्मणं सौत्रामणीनाम्, अन्यं तु  
त्रैधातवीति स्पष्टम् ॥

सोऽपि यथोक्ताः \* सैत्रादिमासाः † द्वादश , यदा मलिनकुचो  
भवति तदा त्रयोदश । अतोऽस्या इष्टेर्द्वादशकपालसंस्कृतविवि-  
क्तत्वात् संवत्सरसन्निवृत्तत्वम् , अतः संवत्सररूपाया इष्टेः द्वादश  
योदश वा दक्षिणा युक्ता इत्यर्थः ‡ ॥ १८ ॥ ७ [ ५. ५. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

पञ्चमकाण्डे पञ्चमाध्याये पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

, ———

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थान्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमद्वैतेश्वरः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापुरुषौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोस्त्रां रत्नवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
व्यश्राणीद्विश्चक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
प्राज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मन्त्रणः शार्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाज्यो रत्नरूपं गिरि मज्जत मुदा पात्रसामिङ्गणार्यः § ॥

\* 'यथोक्तं'—इति अ ।

† 'सौरादिमासाः'—इति च , क ।

‡ एष त्रैधातवीयः तै० सं० २. ४. ११—१४ अनुवाकेषु द्रष्टव्यः ।

§ अत्रत्याष्टीप्यन्तो द्वितीयाध्यायान्ते ( १६२ पृ० ) द्रष्टव्याः ।



३८४

॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

( ४ प्र० ७ ब्रा

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-  
श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
पञ्चमकाण्डे पञ्चमाध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

॥ इति पञ्चमकाण्डे चतुर्थः प्रपाठकश्च समाप्तः  
॥ इति सर्वं नाम पञ्चमं काण्डं † समाप्तम्

B. G. R. 1170

2961 83321

Received on.....

Acknowledged on.....

12 FEB 1921

\* इति उत्तर मिह 'कण्डिका'— 'वेद क', 'कण्डिकासह.  
—इति ख, ग, घ । तत्र १ ब्रा० २५ क, २ ब्रा० २३ क०,  
१२ क०, ३ ब्रा० १० क०, ५ ब्रा० ७ क०, ६ १० ३५ क०,  
२६ क० । तदासां सङ्कलनयास्मिन् प्रपाठके १३ । तत्राः सम्य  
† अथ पञ्चमे काण्डे ब्राह्मणानां सङ्ख्या, प्रपा  
द्वितीये ७, तृतीये ५, चतुर्थे ७ ; सङ्कलनया २५ । तत्र कण्डिक  
प्रथमे प्रपाठके ११७, द्वितीये १०४, तृतीये ११६, चतु  
तदेतत्सर्वं सङ्कलनयात्र ४७१ कण्डिकाः श्रुता इति सिद्धम् ॥









